CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९९

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

अज्ञातपूर्वधर आचार्य विरचित

जीवसमास

अनुवादिका
साध्वी विद्युत्प्रभाश्री जी

सम्पादन एवं भूमिका
डॉ० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

173

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ९९

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

अज्ञातपूर्वधर आचार्य द्वारा विरचित

जीवसमास

अनुवादिका
साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्री जी

सम्पादन एवं भूमिका
डॉ० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५
१९९८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. : ९९

पुस्तक	:	जीवसमास
अनुवादिका	:	साध्वीश्री विद्युत्प्रभाश्री जी
प्रकाशक	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-५
दूरभाष संख्या	:	३१६५२१, ३१८०४६
फैक्स	:	०५४२ - ३१८०४६
प्रथम संस्करण	:	१९९८
मूल्य	:	रुपये १६०.०० मात्र
अक्षर सज्जा	:	सरिता कम्प्यूटर्स, औरंगाबाद, वाराणसी-१०। (फोन नं० ३५९५२१)
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी।
I.S.B.N.	:	81-86715-36-3

Pārśvanātha Vidyāpīṭha Series No. : 99

Title	:	**Jivasamāsa**
Translated by	:	Sādhvīśrī Vidyutaprabhāśrī Jee
Publisher	:	**Pārśvanātha Vidyāpīṭha** I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5.
Telephone No.	:	316521, 318046
Fax	:	0542-318046
First Edition	:	1998
Price	:	Rs. 160.00 only
Type Setting at	:	Sarita Computers, Aurangabad, Varanasi-10. (Phone No. 359521)
Printed at	:	Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

जीवसमास जैनधर्म-दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके रचयिता कोई अज्ञात पूर्वधर आचार्य हैं, जिनका समय पाँचवीं-छठीं शताब्दी के लगभग रहा होगा। प्रस्तुत कृति की विशेषता यह है कि इसमें जैन खगोल, भूगोल, सृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ तत्कालीन प्रचलित विविध प्रकार के तौल-माप, जीवों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। विवेच्य विषय को देखते हुए इसकी प्राचीनता और महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। मूलतः यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है। वर्तमान में यद्यपि यह कृति प्राकृत और उसकी संस्कृत टीका सहित उपलब्ध थी, किन्तु हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के लिए इस महान् ग्रन्थ का उपयोग कर पाना कठिन था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने इस ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है।

इस अनुपम ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का महनीय कार्य साध्वीवर्या श्रीमणिप्रभाश्री जी म०सा० की सुशिष्या साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्री जी ने किया है, अतः हम वंदनीया साध्वीश्री जी के कृतज्ञ हैं। विस्तृत भूमिका के साथ-साथ ग्रन्थ का सम्पादन जैनधर्म-दर्शन के मर्मज्ञ मनीषी एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक (इमेरिटस) डॉ० सागरमल जी जैन ने किया है, अतः हम उनके हृदय से आभारी हैं। साध्वीश्री एवं डॉ० सागरमल जी जैन के अथक परिश्रम का ही परिणाम है कि यह ग्रन्थ सुधीजनों के सम्मुख उपस्थित है।

ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० विजय कुमार जैन एवं डॉ० सुधा जैन ने किया है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन व्यवस्था का पूर्ण दायित्व डॉ० विजय कुमार जैन ने वहन किया है, एतदर्थ वे पुनः धन्यवाद के पात्र हैं।

उत्तम अक्षर-संयोजन के लिए श्री अजय कुमार चौहान, सरिता कम्प्यूटर्स एवं सुन्दर मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के भी हम आभारी हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वकथ्य

"विचक्षण-व्याख्यानमाला", रायपुर चातुर्मास १९९४ के अन्तर्गत जब आगमज्ञ एवं आचरण-सम्पन्न डॉ॰ सागरमल जी साहब का आगमन हुआ, तब परमपूज्या गुरुवर्या श्री मणिप्रभाश्री जी महाराज सा॰ ने चर्चा के दौरान डॉ॰ साहब के सम्मुख साध्वी-वर्ग को उनसे अध्ययन हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी भेजने की भावना अभिव्यक्त की। डॉ॰ साहब की स्वीकृति तथा पूज्या गुरुवर्या श्री की प्रेरणास्वरूप हम तीन साध्वियाँ मैं, मृदुलाश्री जी एवं अतुलप्रभाश्री जी ने बैतूल (म॰प्र॰) से पदयात्रा करते हुए बनारस की ओर प्रस्थान किया।

२५ मई १९९५ को बनारस, पार्श्वनाथ विद्यापीठ में प्रवेश हुआ। दो दिन भेलूपुर, रामघाट आदि मन्दिरों के दर्शन कर पुनः २८ मई को संस्थान में आ गये। मैंने लेखन-कार्य हेतु अपनी अभिरुचि डॉ॰ सागरमल जी साहब के सम्मुख व्यक्त की। सम्माननीय डॉ॰ साहब ने अतिप्राचीन एवं पूर्वधर अज्ञात आचार्य द्वारा विरचित जीवसमास की प्रताकार प्रति मुझे अनुवाद हेतु दी। दो-तीन दिन में ही इसके प्रथम सत्प्ररूपणाद्वार की गाथाओं का अर्थ करने के पश्चात् अनुवाद में कठिनाई प्रतीत होने लगी, परन्तु डॉ॰ साहब की सहायता से यह कार्य आगे बढ़ता रहा। संयोग से इसी बीच डॉ॰ साहब के माध्यम से जीवसमास, मुनिप्रवर श्री अमितयश विजय की गुजराती अनुवाद की पुस्तक मुझे प्राप्त हो गयी। शब्दानुवाद काफी हद तक सरल हो गया। यह ग्रन्थ इस हिन्दी अनुवाद में विशेष उपयोगी रहा है, अतः मैं गुजराती अनुवादकर्ता मुनि श्री अमितयशविजय जी के प्रति विशेष आभार व्यक्त करती हूँ। भावानुवाद की कठिनाई का भी किसी सीमा तक समाधान इससे हुआ, किन्तु कुछ विषयों को लेकर काफी असमंजस की स्थिति बनी रही, फिर भी मैं और डॉ॰ साहब जिस सीमा तक विषय को समझ सके, उस आधार पर यह कार्य पूर्ण किया। त्रुटियाँ हो सकती हैं, विद्वानों के निर्देश मिलने पर अग्रिम संस्करण में सुधारने का ध्यान रखेंगे।

जीवसमास शब्द जो पाँचवीं शती में गुणस्थान के लिए प्रयोग किया जाता था, उसका इसमें विस्तार से वर्णन है। इसमें सत्प्ररूपणा आदि आठ द्वारों और चौदह मार्गणाओं का चौदह गुणस्थानों में सह-सम्बन्ध घटित किया गया है। गुणस्थानों की विशिष्ट जानकारी के लिए यह विस्तृत ग्रन्थ काफी सन्तोषप्रद है। इसके रचयिता के प्रति मन कृतज्ञता से भर जाता है, जब उनकी निस्पृह उदारता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अनुभव होता है। वे आचार्य भगवन् भव्य जीवों के प्रति उपकार की भावना रखते हुए स्वयं की नामस्पृहा के प्रति पूर्णत: विरक्त रहे। यही कारण है कि आजतक इस ग्रन्थकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है, फिर भी उन अज्ञात आचार्य भगवन् के चरणों में मन अहोभाव से नमन करता है।

स्वल्पमति होने पर भी इस कार्य को मैंने सम्पन्न किया। इसमें विश्वप्रेम प्रचारिका, समन्वय साधिका, अध्यात्म रस निमग्ना, जैन कोकिला, स्वर्गीया पूज्या प्रवर्तिनीश्री विचक्षण श्री जी महाराज सा॰ की परोक्ष कृपा, मरूधर-ज्योति, प्रखर ओजगुण व्याख्यातृ सरस्वती स्वरूपा, जिनशासनरत्ना पूज्या श्री मणिप्रभाश्री जी महाराज सा॰ की प्रेरणा व प्रत्यक्ष कृपा एवं समाजरत्न डॉ॰ सागरमल जी साहब का आत्मीय निर्देश एवं सहयोग है, मैं इन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

बनारस आगमन के विचार-विमर्श में सुयोग्या लघुगुरुभगिनी श्री हेमप्रज्ञाश्री जी का भी सहयोग रहा, अत: उन्हें भी धन्यवाद देती हूँ। वाराणसी में साथ में अध्यनरत सखिस्वरूपा, मृदुभाषिणी परमपूज्या श्री प्रियदर्शनाश्री जी म॰सा॰, सेवाभावी श्री मृदुलाश्री जी, पी-एच॰डी॰ हेतु कार्यरत सुयोग्या श्री सौम्यगुणाश्री जी, अध्ययनप्रियाश्री अतुलप्रभाजी, श्री स्थितप्रज्ञाश्री जी एवं श्री सिद्धप्रज्ञाश्री जी के आत्मीय सम्बन्धों, स्नेहिल सहयोग एवं सद्भावमय परिवेश में यह कार्य सम्पूरित हुआ, अत: वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

पुन: इस कार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से जो भी सहयोगी रहे हैं, उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

खरतरगच्छीया साध्वी श्री
विचक्षणमणिपद रेणु
विद्युत्प्रभा श्री

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
भूमिका		i-xli
मङ्गलाचरण	१	१
जीवसमास	२	२
निक्षेप	३	२
छह अनुयोगद्वार	४	३
आठ अनुयोगद्वार	५	४
मार्गणास्थान	६	५
जीवस्थान (जीव के चौदह भेद)	७	६
गुणस्थान	८	८

भाग १

सत्प्ररूपणा-द्वार

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
१. गति-मार्गणा		
चारगतियों का सामान्य उल्लेख	११	१८
नरकगति	१२	१८
तिर्यञ्चगति	१४	१८
मनुष्यगति	१५	१९
देवगति	१६	२२
चारों गतियों में गुणस्थान	२२	२५
२. इन्द्रिय-मार्गणा		
ऐन्द्रिक विकास एवं गुणस्थान	२३	२५
पर्याप्तियाँ	२५	२७
३. काय-मार्गणा		
काय-मार्गणा एवं गुणस्थान	२६	२८
पृथ्वीकाय के भेद	२७	२८
अप्काय के भेद	३१	२९
तेजस्काय के भेद	३२	३०
वायुकाय के भेद	३३	३०
वनस्पतिकाय के भेद	३४	३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
त्रसकाय के भेद	३८	३३
कुल (जीवों की उपजातियाँ)	४०	३४
योनि (जीवों की जातियाँ)	४५	३७
संघनन	४८	३८
संस्थान	५१	४०
शरीर	५३	४१
४. योग-मार्गणा		
योगद्वार एवं गुणस्थान	५५	४३
५. वेद-मार्गणा		
वेद (कामवासना)	५९	४८
६. कषाय-मार्गणा		
कषाय एवं गुणस्थान	६०	४८
७. ज्ञान-मार्गणा		
पञ्चज्ञान	६१	४९
ज्ञान-मार्गणा एवं गुणस्थान	६५	५२
८. संयम-मार्गणा		
संयम-मार्गणा एवं गुणस्थान	६६	५३
श्रमणों के प्रकार	६८	५४
९. दर्शन-मार्गणा		
दर्शन-मार्गणा एवं गुणस्थान	६९	५५
१०. लेश्या-मार्गणा		
लेश्या एवं गुणस्थान	७०	५६
पृथ्वीकाय आदि में लेश्या	७१	६०
सातों नरकों में लेश्या	७२	६०
वैमानिक देवों में लेश्या	७३	६१
देव एवं नारकी जीवों में लेश्या	७४	६१
११. भव्यत्व-मार्गणा		
भव्यत्व-मार्गणा तथा गुणस्थान	७५	६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
१२. सम्यक्त्व-मार्गणा		
सम्यग्दर्शन	७७	६३
सम्यग्दर्शन एवं गुणस्थान	७९	६६
१३. संज्ञी-मार्गणा		
संज्ञी-मार्गणा व गुणस्थान	८१	७०
१४. आहार-मार्गणा		
आहार-मार्गणा और गुणस्थान	८२	७२
उपयोग के प्रकार	८३	७४
अजीवद्रव्य के प्रकार	८५	७५
भाग २		
परिमाण-द्वार		
१. द्रव्य-परिमाण	८७	७७
२. क्षेत्र-परिमाण	९१	८१
क्षेत्र-परिमाण के भेद	८२	८१
उत्सेधांगुल-प्रमाणांगुल एवं आत्मांगुल		
सूच्यांगुल प्रतरांगुल व घनांगुल	९३	८१
उत्सेधांगुल का स्वरूप	९४	८२
परमाणु के प्रकार	९५	८२
व्यावहारिक परमाणु	९६	८२
प्रमाणांगुल	१०१	८४
आत्मांगुल	१०३	८५
३. काल-परिमाण	१०५	८७
श्वासोच्छवास-परिमाण	१०६	८७
लव का परिमाण	१०७	८७
दिन का परिमाण	१०८	८८
मुहूर्त का परिमाण	१०९	८८
पूर्व का परिमाण	११०	८८
पूर्वांग का परिमाण	११३	८८
असंख्यात काल का परिमाण	११६	९०
पल्योपम के प्रकार	११७	९०
बाहर उद्धार पल्योपम का परिमाण	१२०	९१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का परिमाण	१२२	९१
सागरोपम का परिमाण	१२३	९१
बादर अद्धा पल्योपम का परिमाण	१२५	९२
सूक्ष्म अद्धा पल्योपम परिमाण	१२६	९२
अद्धा सागरोपम परिमाण	१२७	९३
उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल	१२८	९३
पुद्गल परावर्तन का काल	१२९	९३
कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति	१३०	९३
क्षेत्र पल्योपम का परिमाण	१३१	९४
क्षेत्र सागरोपम का परिमाण	१३२	९५
४. भाव-परिमाण	१३४	९९
श्रुत एवं गणितीय संख्या	१३५	९९
गणितीय संख्या	१३६	१००
असंख्यात के प्रकार	१३७	१००
अनन्त के प्रकार	१३८	१००
संख्यात का निरूपण	१३९	१००
असंख्यात का निरूपण	१३९	१०४
अनन्त का निरूपण	१३९	१०५
ज्ञान	१४१	१०७
दर्शन एवं चारित्र	१४३	१०९
नयों के प्रकार	१४३	११३
५. जीवद्रव्य-परिमाण	१४४	१२०
सास्वादन एवं मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों का परिमाण	१४५	१२०
अविरति, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त संयत व अप्रमत्तसंयत जीवों का परिमाण	१४६	१२१
उपशामक जीवों का परिमाण	१४७	१२१
क्षपक जीवों का परिमाण	१४८	१२३
नरक में मिथ्यादृष्टि जीवों का परिमाण	१४९	१२४
तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि जीवों का परिमाण	१५०	१२६
वैक्रियलब्धिधारी मिथ्यादृष्टि जीवों का परिमाण	१५१	१२७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का परिमाण	१५२	१२८
पर्याप्त-अपर्याप्त मनुष्य परिमाण	१५३	१२९
मनुष्य का अन्य प्रकार से निरूपण	१५४	१२९
भुवनपति, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों का परिमाण	१५५	१३०
वैमानिक देवों का परिमाण	१५६	१३१
भुवनपति आदि देवों की श्रेणियों का परिमाण	१५७	१३२
नारकों व सनत्कुमारादि देवों का परिमाण	१५८	१३४
बादर पृथ्वी, अप् एवं वनस्पतिकाय के जीवों के परिमाण	१५९	१३५
बादर तेजस् एवं वायुकाय के जीवों का परिमाण	१६०-१६१	१३६
सात राशियों का परिमाण	१६२	१३७
वायुकाय में उत्तर वैक्रियवालों का परिमाण	१६३	१३८
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तापर्याप्त का परिमाण	१६४	१३८
ग्यारह राशियों का परिमाण	१६५	१३९
उपसंहार	१६६	१४१
अजीव द्रव्य का परिमाण	१६७	१४१

भाग ३

क्षेत्र-द्वार

चारों गतियों के जीवों का देहमान	१६८	१४२
नारकी जीवों की ऊँचाई	१६९	१४२
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा वनस्पतिकाय का देहमान	१७०	१४३
तिर्यञ्चों का देहमान	१७१	१४४
एकेन्द्रिय का देहमान, मनुष्य का देहमान	१७६	१४७
देवों का देहमान	१७७	१४७
चौदह गुणस्थानों में अवगाहना का क्षेत्र-परिमाण	१७८	१४८
एकेन्द्रिय क्षेत्र-परिमाण	१७९	१४९
बादर पर्याप्त वायुकाय का क्षेत्र-परिमाण	१८०	१४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
बादर पर्याप्त वायुकाय की क्षेत्र-स्पर्शना	१८१	१५०
अजीव द्रव्यों का क्षेत्र-परिमाण	१८२	१५०

भाग ४

स्पर्शन-द्वार

लोक का संस्थान (आकार)	१८४	१५१
तिर्यक लोक विवेचन जम्बूद्वीप	१८५	१५२
धातकी खण्ड	१८६	१५३
पुष्करार्ध	१८७	१५४
असंख्यातद्वीप समुद्र	१८८	१५४
अधोलोक विवेचन	१८९	१५५
ऊर्ध्वलोक विवेचन	१९०	१५६
मनुष्यों में सात समुद्घात	१९२	१५७
अन्य जीवों में समुद्घात	१९३	१६१
केवली समुद्घात	१९४	१६१
मिथ्यात्वी, सासादनी, मिश्र सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति गुणस्थानवर्ती की स्पर्शना	१९५	१६१
प्रमत्तसंयत की स्पर्शना	१९६	१६३
गुणस्थान की अपेक्षा देवों की स्पर्शना	१९७	१६३
गुणस्थानों की अपेक्षा मनुष्य, तिर्यंच तथा विकलेन्द्रिय जीवों की स्पर्शना	१९८	१६४
अजीव द्रव्यों की स्पर्शना	२००	१६५

भाग ५

काल-द्वार

१. भवायु काल	२०१	१६६
नारकी जीवों का भवायु काल	२०२	१६६
नारक एवं देव की जघन्यायु	२०३	१६७
देवों का भवायु काल	२०४	१६७
एकेन्द्रिय की भवायु काल	२०७	१७०
द्वीन्द्रिय का भवायु काल	२०८	१७०
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का भवायु काल	२०९	१७०
सर्व तिर्यञ्चों का जघन्य आयु काल	२११	१७१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
सर्व जीवों एवं मनुष्यों का जघन्य आयु काल	२१२	१७१
२. कायस्थिति काल		
सर्वपञ्चेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति	२१३	१७२
एकेन्द्रिय जीवों की स्थिति	२१४	१७२
विकलेन्द्रियादि जीवों की कायस्थिति	२१६	१७४
पञ्चेन्द्रिय, तिर्यञ्च व मनुष्य की कायस्थिति	२१७	१७५
३. गुणविभाग काल		
गुणस्थानों का काल	२१९	१७६
सासादन एवं मिश्र गुणस्थान का काल	२२०	१७७
मिथ्यात्व गुणस्थान काल	२२२	१७७
अविरत सम्यग्दृष्टि एवं देशविरत गुणस्थान का काल	२२३	१७९
क्षपकादि का काल	२२४	१७९
प्रमत्ताप्रमत्त, उपशम, उपशान्तमोह गुणस्थान काल	२२५	१८०
नारकी में मिथ्यात्व गुणस्थानकाल	२२६	१८०
तिर्यञ्च एवं मनुष्य का मिथ्यात्वकाल	२२७	१८२
मनुष्य में सासादन एवं मिश्र गुणस्थान काल	२२८	१८३
काययोग	२२९	१८४
स्त्रीवेद एवं पुरुषवेद का उत्कृष्टकाल	२३०	१८५
योग, उपयोग, कषाय तथा लेश्या का उत्कृष्ट-काल	२३१	१८५
ज्ञान, चारित्र का काल	२३२	१८६
विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन का काल	२३३	१८७
भव्यादि का काल	२३४	१८९
काययोगादि तीन योगों का काल	२३५	१९०
वेदादि का काल	२३६	१९१
चारित्र का जघन्य काल	२३७	१९३
चारित्र का उत्कृष्ट काल (अनेक जीवाश्रयी)	२३८	१९३
वैक्रिय, आहारक एवं मिश्रकाययोगकाल	२३९	१९५
अजीवों का स्थितिकाल	२४२	१९६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय	गाथा	पृष्ठ संख्या
भाग ६		
अन्तर-द्वार		
उपपात स्थान	२४४	१९७
अन्तर या विरहकाल	२४७	१९९
नरक एवं मनुष्य का अन्तरकाल	२५०	२०२
त्रस एवं एकेन्द्रिय का अन्तरकाल	२५१	२०४
वनस्पतिकाय का अन्तरकाल	२५२	२०५
तिर्यञ्च एवं नपुंसक वेदादि का अन्तरकाल	२५३	२०५
ईशानादि देवों का अन्तरकाल	२५४	२०७
देवगति का विरहकाल	२५५	२०७
मिथ्यात्व का विरह-अन्तरकाल	२५७	२०८
सासादनादि का विरहकाल	२५८.	२०९
आहारक, वैक्रियमिश्र का अन्तरकाल	२६०	२११
चारित्र का विरहकाल	२६१	२१२
सम्यक्त्वादि का विरहकाल	२६२	२१३
अजीव द्रव्य का विरहकाल	२६४	२१४
भाग ७		
भाव-द्वार		
जीव के भाव	२६५	२१६
अजीव के भाव	२७०	२२१
भाग ८		
अल्पबहुत्व-द्वार		
चारगति में अल्पबहुत्व	२७१	२२३
नरक एवं तिर्यञ्च गति का अल्पबहुत्व	२७३	२२४
देवगति में अल्पबहुत्व	२७४	२२५
गुणस्थानों में अल्पबहुत्व	२७७	२२६
अजीव द्रव्यों में अल्पबहुत्व	२८२	२३०
उपसंहार	२८६	२३२

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

जीवसमास रचयिता एवं रचनाकाल

जीवसमास नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह जीवों की विभिन्न अवस्थाओं की विवेचना करने वाला ग्रन्थ है। यह किसी पूर्वधर आचार्य द्वारा रचित एवं जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह तथ्य मूलग्रन्थ के आधार पर कहीं भी स्पष्ट नहीं होता है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में इसे पूर्व साहित्य के आधार पर रचित माना गया है। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इसके रचयिता पूर्वों के ज्ञाता थे। यह ग्रन्थ किसने और कब बनाया इसका ज्ञान हरिभद्र (८वीं शती) जैसे प्राचीन आचार्यों को भी नहीं था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उस काल तक रचित आगम ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी जीवसमास का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पांचवीं शती में हुई, अत: जीवसमास पांचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रन्थों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अत: जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की पांचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।

प्रस्तुत कृति लगभग छठी शती की रचना है, इसके कुछ अन्य आधार भी है, सर्वप्रथम इसमें नयों की चर्चा के प्रसंग में सात मूल नयों की प्रचलित अवधारणा के स्थान पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द— ये पाँच ही मूलनय माने गये हैं, यह अवधारणा हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है। जीवसमास में समभिरूढ़ और एवंभूत— इन दो नयों का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि उमास्वाति समभिरूढ़ एवं एवंभूत— इन दो नयों का शब्द नय के दो भेदों के रूप में उल्लेख करते हैं। सिद्धसेनदिवाकर ने नैगम को तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु समभिरूढ़ एवं एवंभूत को मूलनय मानकर छह नय माने हैं। ऐसा लगता है कि सप्त नयों की स्पष्ट अवधारणा लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (छठी शती) के मूलपाठ में सर्वप्रथम भाष्यमान पाठ के पाँच मूल नयों के स्थान पर सात मूलनयों का निर्देश हैं। जीवसमास में पाँच नयों का यह उल्लेख इतना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो अवश्य सिद्ध करता है कि प्रस्तुत कृति सप्तनयों की अवधारणा के विकसित एवं सुस्थापित होने के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्वार्द्ध की रचना होनी चाहिए। यद्यपि गुणस्थानों की अवधारणा की उपस्थिति के आधार पर यह कृति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है फिर भी नयों के सन्दर्भ में यह उस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्राचीन रही है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम मूल में भी सर्वत्र इन्हीं पाँचों नयों का निर्देश है (५/६/३, पृ० ७१८, ४/१/४८-५०, ४/१/५६-५९, ४/२/२-४, ४/३/१-४)।

जीवसमास की प्राचीनता का दूसरा आधार उसका ज्ञान-सिद्धान्त है। इसमें ज्ञान के पाँच प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र के समान ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्षज्ञान ही माना गया है। यह अवधारणा भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही है, किन्तु मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान चर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है— नन्दीसूत्र का काल लगभग पाँचवीं शती हैं। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एकभेद के रूप में इन्द्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।

पुनः प्रमाणों की चर्चा के प्रसंग में भी इसमें — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों की ही चर्चा हुई है। जैन दर्शन में चार प्रमाणों की यह चर्चा भी आगमिक युग (५वीं शती) की देन है और न्यायदर्शन से प्रभावित है, समवायांग और नन्दीसूत्र में भी इन्हीं चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क इन तीन प्रमाणों की चर्चा का, जो तार्किक युग की देन है, पूर्ण अभाव है। जैनदर्शन में इन तीनों की प्रमाणों के रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम अकलंक के काल (लगभग ८वीं शती) से प्रारम्भ होती है। अतः इससे भी इतना तो सुनिश्चित होता है कि जीवसमास ५वीं शती के पश्चात् और ८वीं शती के पूर्व अर्थात् छठी-सातवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा। किन्तु सातवीं शती से जीवसमास के निर्देश उपलब्ध होते हैं, अतः यह छठी शती में निर्मित हुआ होगा, इस तथ्य को मान्य किया जा सकता है।

तीसरे जीवसमास में चौदह गुणस्थानों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है इससे भी यही स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ ५वीं शताब्दी के बाद की ही रचना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती) में गुणस्थान सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है। अतः इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ तभी अस्तित्व में आया, जब चौदह गुणस्थानों की अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। चौदह गुणस्थानों का उल्लेख आगम साहित्य में सर्वप्रथम समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं में पाया जाता है। किन्तु उनमें ये गाथाएँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्भवत: वल्लभीवाचना के समय या उसके भी पश्चात् कभी संग्रहणीसूत्र से प्रक्षिप्त की गई होंगी, क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इन दोनों गाथाओं को निर्युक्ति की गाथा न मानकर संग्रहणीसूत्र की गाथा कहा है। आज संग्रहणीसूत्र की अनेक गाथाएँ आगमों एवं निर्युक्तियों में उपलब्ध होती हैं। यह निश्चित है कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध और छठी शती के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आयी है। अत: गुणस्थानों के आधार पर जीव की चौदह मार्गणाओं और आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा करने वाला यह ग्रन्थ उसके पश्चात् ही लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुआ होगा।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौदह गुणस्थानों को जीवसमास के नाम से अभिहित किया गया है। चौदह गुणस्थानों को समवायांगसूत्र में मात्र जीवस्थान के नाम से तथा षट्खण्डागम के प्रारम्भ में जीवसमास के नाम से और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। षट्खण्डागम के समान ही प्रस्तुत कृति में भी गुणस्थान को पहले जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। पुन: प्रस्तुत कृति की षट्खण्डागम के सत्पदप्ररूपना नामक प्रथम खण्ड से भी अनेक अर्थों में समानता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि यह कृति षट्खण्डागम की समकालिक या उससे किञ्चित पूर्ववर्ती या परवर्ती ही रही होगी। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रस्तुत कृति उसी प्रारम्भिक काल की रचना है, जब गुणस्थानों की अवधारणा जीवसमास के नाम से प्रारम्भ होकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अपना स्वरूप ले रही थी। इसमें गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध की चर्चा से यह भी फलित होता है कि यह लगभग छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है, क्योंकि छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से न केवल जीवसमास या जीवस्थान, गुणस्थान के नाम से अभिहित होने लगे थे, अपितु जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के एक-दूसरे से पारस्परिक सह-सम्बन्ध भी निश्चित हो चुके थे। जीवसमास नामक प्रस्तुत कृति में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्ध की जो स्पष्ट चर्चा है, उससे यही फलित होता है कि यह कृति लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध की रचना होकर षट्खण्डागम के समकालिक होनी चाहिए।

इस प्रसंग में गुणस्थान सिद्धान्त के उद्भव और विकास की यात्रा को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जीवसमास नामक इस कृति में 'जीवसमास' के नाम से गुणस्थानों की ही चर्चा की गई है और इन गुणस्थानों के सन्दर्भ में मार्गणाओं आदि का सह-सम्बन्ध स्पष्ट करना ही इसका प्रतिपाद्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

व्यक्ति की आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैन-आगमों यथा— आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इस सिद्धान्त का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है। (समवायांग, सम्पादक— मधुकरमुनि, १४/९५)

समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें संग्रहणीसूत्र से उद्धृत बताया है।

आगमों के समान प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर परम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए "गुणस्थान" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।

जहाँ तक अचेल परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना जैसे तत्त्वज्ञान एवं आचारप्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका, भट्ट अकलंक के राजवार्तिक, विद्यानन्दी के श्लोकवार्तिक आदि दिगम्बर आचार्यों के टीका ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। ज्ञातव्य है कि मात्र षट्खण्डागम में इन्हें जीवसमास कहा गया है। शेष सभी ग्रन्थों में इन्हें गुणस्थान के नाम से ही अभिहित किया गया है।

हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। वहाँ उन्होंने चौदह गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैन धर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो उमास्वाति ने अपने मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्म-निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द— जैसे दर्शन-मोह-उपशमक, दर्शन-मोह-क्षपक (चारित्र-मोह) उपशमक, (चारित्र-मोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं। इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि इस अवधारणा के मूल बीज उपस्थित थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें जीवस्थान कहता है वहाँ प्रस्तुत जीवसमास एवं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम— ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती हैं और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग स्पष्टतया किया जाने लगा था।

इससे यह भी फलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।

जिस प्रकार जीवसमास की प्रथम गाथा में गुणस्थान के लिए 'गुण' का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार मूलाचार में भी इनके लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें चौदह गुणस्थानों का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक साथ चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की, मूलाचार की अपेक्षा विस्तृत विवेचना हुई है। उसके पश्चात् देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्ठाण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि टीका में सत्प्ररूपणा आदि द्वारों की चर्चा में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है, यह विवरण आंशिक रूप से जीवसमास एवं षट्खण्डागम से समानता रखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की ही यह विशेषता है कि उन्होंने सर्वप्रथम नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का उनके भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। इस प्रकार जीवठाण या जीवसमास शब्द जो समवायांग एवं षट्खण्डागम के काल तक गुणस्थान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे, वे अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगे। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जीवस्थान का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग स्पष्ट धारणाएँ बन चुकी थीं और इन दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये थे। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बन्ध जीवयोनियों/जीवजातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ गुण शब्द का प्रयोग बन्धक तत्त्व के रूप में हो रहा था, वहाँ गुण शब्द का प्रयोग गुणस्थान में आत्मविशुद्धि का वाचक बन गया। इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि टीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रन्थ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत जीवसमास और षट्खण्डागम उनसे कुछ पूर्ववर्ती है।

इन समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त में जब सर्वप्रथम गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई, तब उसे जीवस्थान या जीवसमास के नाम से अभिहित किया जाता था— गुणस्थान शब्द का प्रयोग अभी प्रचलित नहीं हुआ था। लगभग छठी शती से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हुआ और छठी शती के उत्तरार्द्ध में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निश्चित हुए। गुणस्थान के इस ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए नीचे हम दो सारणियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

सारिणी क्रमांक - १

तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थ-भाष्य	कसायपाहुडसुत्त	समवायांग / षट्खण्डागम / जीवसमास	श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएँ एवं आराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि।
१	२	३	४
३री-४थी शती	४थी शती	५वीं-६ठी शती	६ठी शती या उसके पश्चात्
गुणस्थान, जीवसमास, जीवस्थान, मार्गणा आदि शब्दों का पूर्ण अभाव।	गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	समवायांग में गुणस्थान शब्द का अभाव, किन्तु जीवठाण का उल्लेख है, जबकि जीवसमास एवं षट्खण्डागम में प्रारम्भ में जीवसमास और बाद में गुणंस्थान के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण।	गुणस्थान शब्द की स्पष्ट उपस्थिति।
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख।	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर प्रकार भेद से कुल १३ अवस्थाओं का उल्लेख।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।
सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव।	सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक्मिथ्यादृष्टि की उपस्थिति।	सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र-दृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है।	उल्लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्रमत्तसंयत, अपूर्व करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव।	अप्रमत्तसंयत, अपूर्व-करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव है।	उल्लेख है	उल्लेख है
उपशम और क्षय का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	उपशम और क्षपक का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से अलग अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन क़ी अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है।	इन व्याख्या ग्रन्थों में पतन आदि का चित्रण है।
जीवस्थान, मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध की चर्चा का अभाव है।	जीवस्थान मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्धों की कोई चर्चा नहीं है।	समवायांग मूलपाठ में जीवस्थान और गुणस्थान दोनों को जीवस्थान ही कहा गया है। इसमें इनके सह-सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु जीवसमास एवं षट्-खण्डागम मूल में इनके सह-सम्बन्धों की चर्चा है।	सहसम्बन्ध की चर्चा है।

सारिणी संख्या : २

तत्त्वार्थसूत्र (तीसरी-चौथी शती)	कसायपाहुड (४थी शती उत्तरार्ध)	समवायांग/ षट्खण्डागम (लगभग ५वीं शती)	तत्त्वार्थ की टीकाएँ (लगभग छठीं शती)
मिथ्यात्व (इस सन्दर्भ में इसे परिगणित नहीं किया है)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- -	- -	सास्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण-सम्मदिट्ठी)	सास्वादन
- -	सम्मा-मिच्छाइट्ठो (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छादिट्ठी (सम्यक्मिथ्यादृष्टि)	सम्यगमिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
१. सम्यग्दृष्टि	सम्माइट्ठी (सम्यक्-दृष्टि) अविरदीए	अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यग्दृष्टि
२. श्रावक	विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरयी (सागार)संजमासंजम	विरयाविरए (विरत-अविरत)	देशविरत
३. विरत	विरद (संजम)	पमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
४. अनन्तवियोजक	दंसणमोह उवसागमे (दर्शनमोह उपशामक)	अपमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
५. दर्शनमोह-क्षपक	दंसणमोह खवगे (दर्शनमोह-क्षपक)	निअट्टिबायरे	अपूर्वकरण
६. (चारित्रमोह) उपशमक	चरितमोहस्स उपसा-मगे (उवसामणा)	अनिअट्टिबायरे	अनिवृत्तिकरण
- -	सुहुमरागो	सुहुम-संपराए	सूक्ष्म-सम्पाराय
७. उपशान्त चारित्रमोह	उवसंत कसाय खवगे	उवसंत मोहे	उपशान्त-मोह
८. चारित्रमोह क्षपक	- -	- -	- -
९. क्षीणमोह	खीणमोह (छदुमत्थो-वेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
१०. जिन	जिण केवली सव्वण्हू सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सजोगिजिणो' शब्द है, मूल में नहीं है)	सजोगी केवली	सयोगी केवली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है, किन्तु मूल में नहीं हैं	अयोगी केवली	अयोगी केवली

ग्रन्थ की भाषा एवं शैली

जहाँ तक जीवसमास की भाषा का प्रश्न है, वह स्पष्टतया महाराष्ट्री प्राकृत है। इससे इसके सम्बन्ध में दो बातें निश्चित होती हैं— एक तो यह कि इसकी रचना सौराष्ट्र और राजस्थान में ही कहीं हुई होगी, क्योंकि यदि इसकी रचना मगध या शौरसेन में हुई होती तो इसकी भाषा में आर्ष अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी प्राकृत होती। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इसकी रचना संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में हुई है, क्योंकि इस युग के दिगम्बर ग्रन्थ प्राय: शौरसेनी या महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी में पाये जाते हैं। यद्यपि प्रस्तुत कृति महाराष्ट्री प्राकृत की रचना है, फिर भी इसमें कहीं-कहीं आर्ष अर्धमागधी के प्रयोग देखे जाते हैं।

जहाँ तक जीवसमास की शैली का प्रश्न है, निश्चय ही यह षट्खण्डागम के समरूप प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ चौदह मार्गणाओं एवं छह और आठ अनुयोगद्वारों के आधारों पर चौदह गुणस्थानों की चर्चा करते हैं। यद्यपि षट्खण्डागम की जीवसमास से अनेक अर्थों में भिन्नता है, जहाँ षट्खण्डागम सामान्यतया शौरसेनी में लिख गया है, वहाँ जीवसमास सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। पुन: जहाँ षट्खण्डागम गद्य में है वहाँ जीवसमास पद्य में है। जहाँ जीवसमास संक्षिप्त है, वहाँ षट्खण्डागम व्याख्यात्मक है। फिर भी विषय प्रस्तुतीकरण की शैली एवं विषयवस्तु को लेकर दोनों में पर्याप्त समरूपता भी है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक खण्ड जीवस्थान के समान इसका भी प्रारम्भ सत्-प्ररूपणा से होता है। इसमें भी गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, भव, सम्यक्, संज्ञा और आहार— इन चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में चौदह गुणस्थानों की चर्चा है। षट्खण्डागम के प्रथम जीवस्थान के समान इसमें भी वही नाम वाले आठ अनुयोगद्वार हैं— १. सत्-प्ररूपणाद्वार, २. परिमाणद्वार, ३. क्षेत्रद्वार, ४. स्पर्शनाद्वार, ५. कालद्वार, ६. अन्तर्द्वार, ७. भावद्वार, ८. अल्पबहुत्वद्वार।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन में दोनों में अद्भूत शैलीगत समरूपता है। फिर भी षट्खण्डागम की अपेक्षा जीवसमास संक्षिप्त है। ऐसा लगता है कि षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवसमास की ही व्याख्या हो।

जीवसमास के आधारभूत ग्रन्थ

जीवसमास ग्रन्थ वस्तुत: दृष्टिवाद से उद्धृत किया गया है, क्योंकि उसकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तिम गाथा में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि जिनोपदिष्ट बहुभंग वाले दृष्टिवाद के दृष्टि-स्थान से जीवसमास नामक यह ग्रन्थ उद्धृत किया गया है। यद्यपि जीवसमास की विषयवस्तु से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा भगवती, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, अनुयोगद्वार आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में मिलती है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस ग्रन्थ की रचना इन ग्रन्थों के आधार पर हुई है, क्योंकि अनेक प्रश्नों पर प्रस्तुत ग्रन्थ का मत भगवती, प्रज्ञापना आदि से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें वर्णित अनेक विषय, जैसे मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध आदि ऐसे हैं, जिनका श्वेताम्बर मान्य इन आगमों में कोई उल्लेख ही नहीं है, किन्तु आगमों की वलभी वाचना से परवर्ती चन्द्रर्षि महत्तर के प्राचीन कर्मग्रन्थों (छठी शती) में ये विषय चर्चित है। इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार ने जो दृष्टिवाद से इसको अवतरित करने की बात कही वह आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि कर्मों के बन्ध, उदय, क्षयोपशम आदि का विषय कम्मपयडी आदि पूर्व साहित्य के अंगीभूत ग्रन्थों में ही अधिक सूक्ष्मता से विवेचित था। जैन परम्परा में अंगधरों के समान ही पूर्वधरों की एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और कर्म-साहित्य विशेष रूप से पूर्व-साहित्य का अंग रहा है। पुनः आगमिक मान्यताओं की अपेक्षा इसके मन्तव्यों का कर्मग्रन्थकारों के अधिक निकट होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। आगमों, कर्मग्रन्थों और जीवसमास के मन्तव्यों में कहाँ समरूपता है और कहाँ मतभेद है, यह सब विस्तार से अन्वेषणीय है।

षट्खण्डागम और जीवसमास

जैसा कि हमने पूर्व में अनेक स्थलों पर संकेत किया कि जीवसमास की सम्पूर्ण विषयवस्तु अपने **वर्णित** विषय और शैली की दृष्टि से षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से पूर्णतः समरूपता रखती है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जीवसमास में यह वर्णन मात्र २८६ गाथाओं में किया गया है, वही वर्णन षट्खण्डागम के जीवस्थान में १८६० सूत्रों के द्वारा किया गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर षट्खण्डागम और जीवसमास में यह है कि प्रत्येक अनुयोगद्वार की प्रत्येक प्ररूपणा के आधारभूत तथ्यों की जो विस्तृत चर्चा लगभग १११ गाथाओं में जीवसमास में की गई है, वह षट्खण्डागम के जीवस्थान में तो नहीं है, किन्तु उसकी धवला टीका में अवश्य उपलब्ध होती है।

इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि क्या जीवसमासकार ने षट्खण्डागम के आधार पर ही तो इसकी रचना नहीं की है? किन्तु ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर षट्खण्डागम के विशिष्ट विद्वान् उसके सम्पादक और भूमिका लेखक पं० हीरालाल जी शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का मन्तव्य, उनकी षट्खण्डागम की भूमिका से उद्धृत करके अविकल रूप से दे रहे हैं। उनके निबन्ध का निष्कर्ष यही है — "किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणा शक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथा रूप में निबद्ध कर दिया है और **वह आचार्य परम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है।** उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और इन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।"

मात्र इतना ही नहीं दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् आदरणीय पण्डित जी ने अपनी भूमिका के उपसंहार में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जीवसमास षट्खण्डागम के जीवट्ठाण प्ररूपणाओं का आधार रहा है। वे लिखते है —

इस प्रकार जीवसमास की रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदय पर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथा में स्वयं ही 'बहुभंगदिट्ठियाए' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होने का संकेत कर दिया है।

समग्र जीवसमास का सिंहावलोकन करने पर पाठकगण दो बातों के निष्कर्ष पर पहुँचेंगे— एक तो यह कि विषय वर्णन की सूक्ष्मता और महत्ता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और दूसरी यह कि यह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण-प्ररूपणाओं का आधार रहा है।"

मात्र इतना ही नहीं वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' जीवसमास प्राचीन है और षट्खण्डागम के जीवस्थान और दिगम्बर प्राकृत पञ्चसंग्रह के जीवसमास का किसी रूप में उपजीव्य भी रहा है। मात्र आदरणीय पण्डित जी ने षट्खण्डागम की भूमिका के अन्त में यह अवश्य माना है कि जीवसमास में एक ही बात खटकने जैसी है, वह यह कि उसमें सोलह स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं। वे लिखते हैं— "यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः' इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और 'नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु' इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उसकी 'नवसु' पद से सूचना मान करके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान कर लिया गया है उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।''

यद्यपि आदरणीय पण्डित जी ने दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से यहाँ इस समस्या का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के उस सूत्र की, सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या के आधार पर करने का किया है। किन्तु यहाँ मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक तथ्य पाये जाते हैं, जो दिगम्बर परम्परा की आज की मूलभूत मान्यताओं से अन्तर रखते हैं। यदि हम यहाँ स्त्री में सातवें गुणस्थान की सम्भावना और स्त्री-मुक्ति के समर्थक उसके प्रथम खण्ड सूत्र ९३ की विवादास्पद व्याख्या को न भी लें, तो भी कुछ प्राचीन मान्यताएँ षट्खण्डागम की ऐसी हैं, जो प्रस्तुत जीवसमास से समरूपता रखती हैं और दिगम्बर परम्परा की वर्तमान मान्यताओं से भिन्नता। आदरणीय पण्डित जी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि जीवसमास में १२ स्वर्गों की ही मान्यता है, किन्तु स्वयं षट्खण्डागम में भी १२ स्वर्गों की ही मान्यता है। उसके वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार की निम्न गाथाएँ १२ स्वर्गों का ही निर्देश करती हैं—

सक्कीसाणा पठमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा।
तच्च तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थ।।

—५/५/७०; पृष्ठ सं०- ७०५

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा।
पस्संति पंचमखिदिं छट्ठिम गेवज्जया देवा।। – ५/५/७१
सव्वं च लोगणालि पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च।।

— ५/५/७२; पृष्ठ सं०- ७०६

मात्र यह ही नहीं, जिस प्रकार जीवसमास में पाँच ही मूल नयों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी सर्वत्र उन्हीं पाँच नयों का निर्देश हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन भाष्यमान परम्परा भी पाँच मूल नयों का ही निर्देश करती है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों की चर्चा है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ षट्खण्डागम और जीवसमास किसी प्राचीन धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। चाहे हम परम्परागत आधारों पर इन्हें एक-दूसरे के आधार पर बनाया गया न भी मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि उनका मूल आधार पूर्वसाहित्य की परम्परा रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्वेताम्बर जीवसमास और दिगम्बर जीवसमास

प्रस्तुत जीवसमास के समान ही दिगम्बर परम्परा में प्राकृत पञ्चसंग्रह के अन्तर्गत जीवसमास पाया जाता है। दोनों के नाम साम्य को देखकर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों में कितना साम्य और वैषम्य है और कौन किसके आधार पर निर्मित हुआ है। इस सम्बन्ध में भी यदि मैं अपनी ओर से कुछ कहता हूँ तो शायद यह समझा जायेगा कि मुझे कुछ पक्ष व्यामोह है। अत: इस सम्बन्ध में भी अपनी ओर से कुछ न कहकर पुन: दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पण्डित हीरालाल जी शास्त्री की पञ्चसंग्रह की भूमिका से ही कुछ अंश अविकल रूप से उद्धृत कर रहा हूँ। आदरणीय पण्डित जी लिखते हैं —

"पञ्चसंग्रह के प्रथम प्रकरण का नाम जीवसमास है। इस नाम का एक ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम की ओर से सन् १९२८ में एक संग्रह के भीतर प्रकाशित हुआ है, जिसकी गाथा संख्या २८६ है। नाम-साम्य होते हुए भी अधिकांश गाथाएँ न विषय-गत समता रखती हैं और न अर्थगत समता ही। गाथा-संख्या की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी जितना कुछ साम्य पाया जाता है, उनके आधार पर एक बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि **श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास प्राचीन है।** पञ्चसंग्रहकार ने उसके द्वारा सूचित अनुयोगद्वारों में से १-२ अनुयोगद्वार के आधार पर अपने जीवसमास प्रकरण की रचना की है। इसके पक्ष में कुछ प्रमाण निम्नप्रकार है—

१. श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास को 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' माना जाता है। इसका यह अर्थ है कि जब जैन परम्परा में पूर्वों का ज्ञान विद्यमान था, उस समय किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने इसका निर्माण किया है। ग्रन्थ-रचना के देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि **यह ग्रन्थ भूतबलि और पुष्पदन्त से भी प्राचीन है और वह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की आठों प्ररूपणाओं के सूत्र-निर्माण में आधार रहा है, तथा यही ग्रन्थ प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास नामक प्रथम प्रकरण का भी आधार रहा है।** इसकी साक्षी में उक्त ग्रन्थ की एक गाथा प्रमाण रूप से उपस्थित की जाती है, जो कि श्वेताम्बर जीवसमास में मंगलाचरण के पश्चात् ही पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

णिक्खेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्ठहिं अणुओगदारेहिं।
गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतब्बा ।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें बतलाया गया है कि नामादि निक्षेपों के द्वारा; निरुक्ति के द्वारा, निर्देश, स्वामित्व आदि छह और सत्, संख्या आदि आठ अनुयोग-द्वारों से तथा गति आदि चौदह मार्गणा-द्वारों से जीवसमास को जानना चाहिए। इसके पश्चात् उक्त सूचना के अनुसार ही सत्-संख्यादि आठों प्ररूपणाओं आदि का मार्गणास्थानों में वर्णन किया गया है। इस जीवसमास प्रकरण की गाथा-संख्या की स्वल्पता और जीवट्ठाण के आठों प्ररूपणाओं की सूत्र-संख्या की विशालता ही उसके निर्माण में एक-दूसरे की आधार-आधेयता को सिद्ध करती हैं।

जीवसमास की गाथाओं और षट्खण्डागम के जीवस्थानखण्ड को आठों प्ररूपणाओं का वर्णन-क्रम विषय की दृष्टि से कितना समान है, यह पाठक दोनों का अध्ययन कर स्वयं ही अनुभव करें।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास-प्रकरण के अन्त में उपसंहार करते हुए जो १८२ अंक-संख्या वाली गाथा पायी जाती है, उससे भी हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुत्ति-अणिओगे।
मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं।।

अर्थात् जो पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों से मार्गणा आदि बीस भेदों में जीव का अन्वेषण करता है, वह जीव के यथार्थ सद्भाव या स्वरूप को जानता है।

पाठक स्वयं ही देखें कि पहली गाथा की बात को ही दूसरी गाथा के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केवल एक अन्तर दोनों में है। वह यह कि पहली गाथा उक्त प्रकरण के प्रारम्भ में दी है, जबकि दूसरी गाथा उस प्रकरण के अन्त में। पहले प्रकरण में प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया गया है, जब कि दूसरे प्रकरण में केवल एक निर्देश-अनुयोगद्वार से १४ मार्गणाओं में जीव की विंशतिविधा सत्प्ररूपणा की गई है और शेष संख्यादि प्ररूपणाओं को न कहकर उनको जानने की सूचना कर दी गई है।

२. पृथिवी आदि षट्कायिक जीवों के भेद प्रतिपादन करने वाली गाथाएँ भी दोनों जीवसमासों में बहुत कुछ समता रखती हैं।

३. प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमास की अनेक गाथाएँ उक्त जीवसमास में ज्यों-की-त्यों पाई जाती है।

उक्त समता के होते हुए भी पञ्चसंग्रहकार ने उक्त जीवसमास-प्रकरण की अनेक गाथाएँ जहाँ संकलित की हैं, वहाँ अनेक गाथाएँ उन पर भाष्यरूप से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रची है और अनेक गाथाओं का आगम के आधार पर स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से निर्माण किया है। (पृ० ३७) फिर भी यह सत्य है कि दोनों जीवसमासों में कुछ गाथायें समान हैं। अनुवादिका साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्री जी के सहयोग से जो कुछ समान गाथाएं हमें प्राप्त हो सकीं वे नीचे दी जा रही हैं—

जीवसमास- पञ्चसंग्रह : तुलनात्मक अध्ययन

(१) मार्गणा

जीवसमास—

गइ इन्दिय काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे।। ६ ।।

पञ्चसंग्रह—

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ।। ५७ ।।

(२) जीव के भेद

जीवसमास—

एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जतया अपज्जत्ता।
बियतिय चउरिंदिय दुविह भेय पज्जत इयरे य।। २३ ।।
पंचिन्दिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता।
पंचिदिएसु चोद्दस मिच्छदिट्ठि भवे सेसा ।। २४ ।।

पञ्चसंग्रह—

बायरसुहुमेगिंदिय बि-ति-चउरिंदिय असण्णी-सण्णीय।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं चौद्दसा होंति. ।। ३४ ।।

(३) गुणस्थान

जीवसमास—

मिच्छाऽऽसायण मिस्सा अविरयसम्मा य देसविरया य।
विरया पमत्त इयरे अपुव्व अणियट्टि सुहुमा य।। ८ ।।
उवसंत खीणमोहा सजोगी केवलिजिणो अजोगी य।
चौद्दस जीवसमासा कमेण एएऽणुगंतव्वा ।। ९ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चसंग्रह—

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।। ४ ।।
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवली जिणो अजोगी य।
चौद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ।। ५ ।।

(४) पर्याप्ति

जीवसमास—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण भासमणे।
चत्तारि पंचछप्पिय एगिंदिय विगल सण्णीणं।। २५ ।।

पञ्चसंग्रह—

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदिय-वियल-सण्णीणं।। ४४ ।।

(१) पृथ्वीकाय

जीवसमास—

पुढवी य सक्कर बालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अयतंब तउय सीसय रूपा सुवण्णे य वइर य।। २७ ।।

पञ्चसंग्रह—

पुढवी य सक्करा बालुया य उवले सिलाइ छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं ।। ७७ ।।

(२) अप्पकाय

जीवसमास—

ओसा य हिमं महिगा हरतणु सुद्धोदए घणोए य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३१ ।।

पञ्चसंग्रह—

ओसा य हिमिय महिया हरदणु सुद्धोदयं घणुदयं च।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ७८ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) तेउकाय

जीवसमास—

इंगाल जाल अच्वी मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३२ ।।

पञ्चसंग्रह—

इंगाल जाल अच्वी मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुदिट्ठा।।७९।।

(४) वायुकाय

जीवसमास—

वाउब्भामे ऊक्कलि मंडलिगुंजा महाधणतणु या।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाण नत्थि ते भेया।। ३३ ।।

पञ्चसंग्रह—

वाउब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघण तणू य।
एदे दु वाउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ८० ।।

(५) वनस्पतिकाय

जीवसमास—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंधबीय बीयरूहा।
संभुच्छिमा य भणिया पत्तेय अणंतकाया या।। ३४ ।।

पञ्चसंग्रह—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंध बीय बीयरूहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ।। ८१ ।।

नरकों में लेश्या

जीवसमास—

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाइणं।। ७२ ।।

पञ्चसंग्रह—

काऊ काऊ तह काउ-णील णीला य णील-किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि-पुढवीसु ।। १८५ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri.

देवों में लेश्या

जीवसमास—

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ।। ७३ ।।

पञ्चसंग्रह—

तेऊ तेऊ वह तेउ-पम्ह पम्मा य पम्म-सुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवणाइदेवाणं।। १८९ ।।

भव्यत्व

जीवसमास—

मिच्छदिट्ठि अभव्वा भवसिद्धाया य सव्वठांणेसु।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा ।। ७५ ।।

पञ्चसंग्रह—

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अंभव्वा य।। १५७ ।।

आहारक

जीवसमास—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ।। ८२ ।।

पञ्चसंग्रह—

विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ।। १७७ ।।

समुद्घात

जीवसमास—

वेयण कसाय मरणे वेउव्वि य तेयए य आहारे।
केवलि य समुग्घाए सत्तय मणुएसु नायव्वा।। १९२ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चसंग्रह—

वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ।
तेजाऽऽहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ।। १९६ ।।

नरक में अन्तरकाल

जीवसमास—

चउवीस मुहुत्ता सत्त दिवस पक्खो य मास दुग चउरो।
छम्मासा रयणाइसु चउवीस मुहुत्त सण्णियरे ।। २५० ।।

पञ्चसंग्रह—

पणयालीस मुहूत्ता पक्खो मासो य विण्णि चउमासा।
छम्मास वरिसमेय च अंतरं होइ पुढवीणं ।। २०६ ।।

	(१) नरक	(२) नरक	(३) नरक	(४) नरक	(५) नरक	(६) नरक	(७) नरक
जीवसमास	२४ मुहूर्त	७ दिन	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास।।२५०।।
पञ्चसंग्रह	४५ मुहूर्त	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास	१ वर्ष-।।२०६।।

सम्यक्त्वादि का विरहकाल

जीवसमास—

सम्मत्त सत्तगं खलु विरयाविरई होइ चौद्दसगं।
विरईए पनरसगं विरहिय कालो अहोरत्ता।। २६२ ।।

पञ्चसंग्रह—

सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति।
विरदेसु य पण्णरसं विरहियकालो य बोहव्वो ।। २०५ ।।

दोनों गाथा का अर्थ समान है। मात्र शब्दों का अन्तर है।

विषयवस्तु

जीवसमास की प्रारम्भिक गाथाओं में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस ग्रन्थ में चार निक्षेपों, छह एवं आठ अनुयोगद्वारों और चौदह मार्गणाओं के आधार पर जीव के स्वरूप का एवं उसके आध्यात्मिक विकास की चौदह अवस्थाओं का अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ २८७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है और निम्न आठ द्वारों में विभक्त किया गया है— (१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्य-परिमाण, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शना, (५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काल, (६) अन्तर, (७) भाव और (८) अल्पबहुत्व। इन आठ अनुयोगद्वारों को आधार बनाकर प्रत्येक द्वार में जीव के तत्सम्बन्धी पक्ष की चर्चा की गई हैं। आठ अनुयोगद्वारों के उल्लेख के पश्चात् ग्रन्थ में चौदह मार्गणास्थानों, चौदह जीवस्थानों और चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है। मार्गणा वह है जिसके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति करता है। जीव की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्तियों के जो मार्ग हैं वे ही मार्गणा कहे जाते हैं। मार्गणाएँ निम्न हैं— (१) गति-मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) काय-मार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) वेद-मार्गणा, (६) कषाय-मार्गणा, (७) ज्ञान-मार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्यत्व-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञी-मार्गणा और (१४) आहार-मार्गणा। इसी क्रम में आगे चौदह गुणस्थानों का जीवसमास के नाम से निर्देश किया गया हैं। वे चौदह गुणस्थान निम्न हैं—

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान, (२) सास्वादन गुणस्थान, (३) मिश्र गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देश-विरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) अपूर्वकरण गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान, (१३) सयोगीकेवली गुणस्थान और (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान।

इन प्रारम्भिक निर्देशों के पश्चात् जीवसमास के प्रथम **सत्पदप्ररूपणाद्वार** में उपर्युक्त चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में उनकी भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस मार्गणा के किस भेद अथवा प्रभेद में कितने गुणस्थान उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः प्रथम सत्पदप्ररूपणा–द्वार चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानों के पारस्परिक सह-सम्बन्धों को स्पष्ट करता है। हमारी जानकारी में अचेल परम्परा में षट्खण्डागम और सचेल परम्परा में जीवसमास ही वे प्रथम ग्रन्थ है जो गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ नियमसार में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान तीनों को स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रतिस्थापित किया है। ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ये तीनों अवधारणायें न केवल विकसित हो चुकी थीं, अपितु इनके पारस्परिक सम्बन्ध भी सुस्पष्ट किये जा चुके थे। यदि हम इस सन्दर्भ में जीवसमास की स्थिति का विचार करे तो हमें स्पष्ट लगता है कि जीवसमास के रचनाकाल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में तो आ चुकी थीं, किन्तु इनका नामकरण संस्कार नहीं हुआ था। जीवसमास की गाथा छह में चौदह मार्गणाओं के नामों का निर्देश है, किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह निर्देश नहीं है कि इन्हें मार्गणा कहा जाता है। इसी प्रकार गाथा आठ और नौ में चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश है, किन्तु वहाँ इन्हें गुणस्थान न कहकर जीवसमास कहा गया है। उसी काल के अन्य दो ग्रन्थ समवायांग और षट्खण्डागम भी गुणस्थानों के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम व्यक्ति हैं जो इन तीनों अवधारणाओं को स्पष्टतया अलग-अलग करते हैं। इसी आधार पर प्रो० ढाकी आदि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि कुन्दकुन्द का काल छठी शताब्दी के पश्चात् ही मानना होगा, जब ये तीनों अवधारणाएँ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थापित हो चुकी थीं और इनमें से प्रत्येक के एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध को भी सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

प्रस्तुत कृति में चौदह गुणस्थानों के नाम निर्देश के पश्चात् जीव के प्रकारों की चर्चा हुई है, उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि अयोगी केवली दो प्रकार के होते हैं— सभव और अभव। अभव को ही सिद्ध कहा गया है। पुनः सांसारिक जीवों में उनके चार प्रकारों की चर्चा हुई है— (१) नारक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देवता।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में नारकों के सात भेदों और देवों के भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्कऔर वैमानिक ये चार भेद किये गये हैं। इसके पश्चात् इनके उपभेदों की भी चर्चा हुई है। गुणस्थान सिद्धान्त के सन्दर्भ में उपरोक्त चारों गतियों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि देव और नारक योनियों में प्रथम चार गुणस्थान पाये जाते हैं। तिर्यञ्चगति में प्रथम पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं, जबकि मनुष्य गति में चौदह ही गुणस्थान पाये जाते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में इनके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न करते हुए जीवस्थान शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् पर्याप्त और अपर्याप्त की चर्चा में यह बताया गया है कि अपर्याप्त में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पर्याप्त में उनकी गति के अनुसार गुणस्थान पाये जाते हैं। इसके पश्चात् इन्द्रियों की दृष्टि से चर्चा की गई है। इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों की चर्चा है। इसमें चतुरिन्द्रिय तक केवल मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान पाए जाते हैं।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में इन्द्रिय-मार्गणा की चर्चा करते हुए एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई हैं। इसमें यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीव, बादर (स्थूल) और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं। पुनः इन दोनों ही प्रकारों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो-दो उपभेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं। पञ्चेन्द्रियों के पर्याप्त, अपर्याप्त तथा संज्ञी और असंज्ञी ऐसे उपभेद होते हैं। इनमें पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान होते हैं, शेष सभी जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ज्ञातव्य है कि इसी सन्दर्भ में जीवसमास में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन— ये छः पर्याप्तियाँ बताई गयी हैं और यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों में चार, विकलेन्द्रिय में पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

काय-मार्गणा की चर्चा करते हुए इसमें षट्जीवनिकायों और उनके भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। षट्जीवनिकायों के भेद-प्रभेदों की यह चर्चा मुख्यतः उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन के समान ही है। यद्यपि यह चर्चा उसकी अपेक्षा संक्षिप्त है, क्योंकि इसमें त्रस-जीवों की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की गई है। इसी काय-मार्गणा की चर्चा के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने जीवों के विभिन्न कुलों (प्रजातियों) एवं योनियों (जन्म ग्रहण करने के स्थान) की भी चर्चा की गई है। योनियों की चर्चा के प्रसंग में संवृत्त, विवृत्त, संवृत्त-विवृत्त तथा सजीव, निर्जीव और सजीव-निर्जीव एवं शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण योनियों की चर्चा है। इसी क्रम में आगे छह प्रकार के संघयण तथा छह प्रकार के संस्थानों की भी चर्चा की है। इसी क्रम में इस सबकी भी विस्तार से चर्चा की गई है कि किन-किन जीवों की कितनी कुलकोटियाँ होती हैं। वे किस प्रकार की योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अस्थियों का ढाँचा अर्थात् संघहन किस प्रकार का होता है तथा उनकी शारीरिक संरचना कैसी होती है? इसी क्रम में आगे पाँच प्रकार के शरीरों की भी चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के जीवों को कौन-कौन से शरीर प्राप्त होते हैं।

योग-मार्गणा के अन्तर्गत मन, वचन और काययोग की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के योग में कौन-सा गुणस्थान पाया जाता है।

योग-मार्गणा के पश्चात् वेद-मार्गणा की चर्चा की गई है। जैन परम्परा में वेद का तात्पर्य स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक की काम वासना से है।

वेदमार्गणा की चर्चा के पश्चात् कषाय-मार्गणा की चर्चा है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ— इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी-प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन ऐसे चार-चार विभाग किये गये हैं और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन से प्रकार के कषाय पाये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते हैं।

अग्रिम ज्ञान-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के ज्ञानों की चर्चा है। इसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं तथा यह बताया गया है कि केवलज्ञान का कोई भेद नहीं होता है। आगे इसी प्रसंग में कौन से ज्ञान किस गुणस्थान में पाये जाते हैं, इसका भी संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

संयम-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के संयमों की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-सा संयम पाया जाता है। इसी चर्चा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है।

दर्शन-मार्गणा के अन्तर्गत चार प्रकार के दर्शनों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि किस गुणस्थान में कितने दर्शन होते हैं।

लेश्या-मार्गणा के अन्तर्गत छः लेश्याओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में लेश्या और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध को भी निरूपित किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि नारकीय जीवों और देवताओं में किस प्रकार लेश्या पायी जाती है, किन्तु यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि नारकीय जीवों और देवों के सम्बन्ध में जो लेश्या की कल्पना है, वह द्रव्य-लेश्या को लेकर है, उनमें भाव-लेश्या तो छहों ही सम्भव हो सकती हैं। वस्तुतः यहाँ द्रव्य-लेश्या स्वभावगत विशेषता की सूचक है।

भव्यत्व मार्गणा के अन्तर्गत भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश है। जैन दर्शन में भव्य से तात्पर्य उन आत्माओं से है जो मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत अभव्य जीवों में मोक्ष को प्राप्त करने की क्षमता का अभाव होता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से अभव्य जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है, जबकि भव्य जीवों में चौदह ही गुणस्थान सम्भव हैं।

भव्यत्व-मार्गणा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में सम्यक्त्व-मार्गणा का निर्देश किया गया है। सम्यक्त्व-मार्गणा के अन्तर्गत औपशमिक, वेदक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे चार प्रकार के सम्यक्त्व की चर्चा है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस-किस गुणस्थान में किस प्रकार का सम्यक्त्व पाया जाता है।

संज्ञी-मार्गणा के अन्तर्गत संज्ञी और असंज्ञी— ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश किया गया है। जिनमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामर्थ्य होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से यहाँ यह बताया है कि असंज्ञी जीवों में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि संज्ञी जीवों में सभी गुणस्थान सम्भव होते हैं।

आहार-मार्गणा के अन्तर्गत जीवों के दो भेद किये गये हैं— (१) आहारक, (२) अनाहारक। इसमें यह भी बताया गया है कि पुनर्जन्म ग्रहण करने हेतु विग्रहगति से गमन करने वाले जीव, केवली-समुद्घात करते समय केवली तथा अयोगी केवली और सिद्ध ये अनाहारक होते हैं। शेष सभी आहारक होते हैं। इस प्रकार जीवसमास के इस प्रथम सत्पदप्ररूपणा-द्वार में चौदह मार्गणाओं का चौदह गुणस्थानों से पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गम्भीरता से देखने पर यह लगता है कि जीवसमास उस प्रारम्भिक स्थिति का ग्रन्थ है, जब मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निर्धारित किये जा रहे थे।

जीवसमास का दूसरा द्वार **परिमाणद्वार** है इस द्वार में सर्वप्रथम परिमाण के द्रव्य-परिमाण, क्षेत्र-परिमाण, काल-परिमाण और भाव-परिमाण ये चार विभाग किये गये हैं। पुनः द्रव्य-परिमाण के अन्तर्गत मान, उन्मान, अवमान, गनिम और प्रतिमान— ऐसे पाँच विभाग किये गये हैं जो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं) के तौलमाप से सम्बन्धित हैं, क्षेत्र-परिमाण के अन्तर्गत अंगुल, वितस्ति, कुक्षी, धनुष, गाऊ, श्रेणी आदि क्षेत्र को मापने के पैमानों की चर्चा की है। इसी क्रम में अंगुल की चर्चा करते हुए उसके उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल ऐसे तीन भेद किए हैं। पुनः इनके भी प्रत्येक के सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल ऐसे तीन-तीन भेद किये गये हैं। सूक्ष्म क्षेत्रमाप के अन्तर्गत परमाणु, उर्ध्वरेणू, त्रसरेणू, रथरेणू, बालाग्र, लीख, जूँ और जव की चर्चा की गई है और बताया गया है कि आठ जवों से एक अंगुल बनता है। पुनः छः अंगुल से एक पाद, दो पाद से एक वितस्ति तथा दो वितस्ति का एक हाथ होता है, ४ हाथों का एक धनुष होता है, २००० हाथ या ५०० धनुष का एक गाऊ (कोश) होता है। पुनः ४ गाऊ का एक योजन होता है।

काल-परिमाण की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि काल की सबसे सूक्ष्म इकाई समय है। असंख्य समय की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक नालिका होती है। दो नालिकाओं का एक मुहूर्त होता है। तीस मूहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है। पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयन का एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख-लाख वर्षों से गुणित करने पर एक पूर्व होता है। पूर्व के आगे नयूतांग, नयूत नलिनांग, नलिन आदि की चर्चा करते हुए अन्त में शीर्ष-प्रहेलिका का उल्लेख किया गया है। इसके आगे का काल संख्या के द्वारा बताना सम्भव नहीं होने से उसे पल्योपम, सागरोपम आदि उपमानों से स्पष्ट किया गया है। जीवसमास में पल्योपम, सागरोपम के विविध प्रकारों और उनके उपमाओं के द्वारा मापने की विस्तृत चर्चा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में काल के पैमानों की अतिविस्तृत और गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

द्रव्य-परिमाण नामक इस द्वार के अन्त में भाव-परिमाण की चर्चा है। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद-प्रभेदों का अत्यन्त ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भाव-परिमाण की इस चर्चा के अन्त में जीवसमास में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों की चर्चा हुई है। इसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाणों को दो भागों में विभक्त किया गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत तथा आगम को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।

आगे नय प्रमाण की चर्चा करते हुए मूल ग्रन्थ में मात्र नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ऐसे पाँच नयों का उल्लेख हुआ है।

इसी क्रम में इस द्रव्य-परिमाण-द्वार के अन्तर्गत विभिन्न गुणस्थानों में और विभिन्न मार्गणाओं में जीवों की संख्या का परिमाण बतलाया गया है। जीवसमास में प्रथम **सत्प्ररूपणाद्वार** की चर्चा लगभग ८५ गाथाओं में की गई है, वहीं दूसरे **द्रव्य-परिमाण-द्वार** की चर्चा भी लगभग ८२ गाथाओं में पूर्ण होती है। उसके बाद क्षेत्र-द्वार आदि शेष छः द्वारों की चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में की गई है।

तीसरे **क्षेत्र-द्वार** में सर्वप्रथम आकाश को क्षेत्र कहा गया है और शेष जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल को क्षेत्रीय अर्थात् उसमें रहने वाला बताया गया है। इस द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चारों गति के जीवों के देहमान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत कृति में देहमान की यह चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। यह बताया गया है कि किस गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग में होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते हैं, शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं, यद्यपि केवली समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् इसमें यह बताया गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त बादर जीव सर्वलोक में होते हैं, शेष जीवलोक के भाग विशेष में होते हैं। यहाँ वायुकायिक जीवों को स्व-स्थान की अपेक्षा से तो लोक के भाग विशेष में ही माना गया है, किन्तु उपपात अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समुद्घात की अपेक्षा से वे भी सर्वलोक में होते हैं। जीव स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपात की अपेक्षा से जिस स्थान विशेष में रहता है, वह क्षेत्र कहलाता है, किन्तु भूतकाल में जिस क्षेत्र में वह रहा था उसे स्पर्शना कहते हैं। स्पर्शना की चर्चा अग्रिमद्वार में की गई है। क्षेत्र-द्वार के अन्त में यह बताया गया है कि आकाश को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य लोक में होते हैं, जबकि आकाश लोक और अलोक दोनों में होता है।

चतुर्थ **स्पर्शनाद्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोक के स्वरूप एवं आकार का विवरण दिया गया है। इसी क्रम में उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का विवेचन किया गया है। तिर्यक्लोक के अन्तर्गत जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और उसके पश्चात् द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करद्वीप और उसके मध्यवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा है। इसी चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही निवास करते हैं, यद्यपि इसके आगे भी द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। सबके अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है। इस द्वार के अन्त में निम्न सात समुद्घातों की चर्चा की गई है—

(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषाय समुद्घात, (३) मारणान्तिक समुद्घात, (४) वैक्रिय समुद्घात, (५) तेजस् समुद्घात, (६) आहारक समुद्घात और (७) केवली समुद्घात। समुद्घात का तात्पर्य आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर लोक में प्रसरित कर विभिन्न कर्मों की निर्जरा करना है। इसी क्रम में आगे यह बताया गया है कि किन जीवों में कितने समुद्घात सम्भव होते हैं। इसके पश्चात् इस स्पर्शन नामक द्वार में विभिन्न गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग की स्पर्शना करते हैं, यह बताया गया है। अन्त में चारों गति के जीव लोक के कितने-कितने भाग का स्पर्श करते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

पाँचवें **काल-द्वार** के अन्तर्गत तीन प्रकार के कालों की चर्चा की गई है— (१) भवायु काल, (२) कायस्थिति काल, (३) गुणविभाग काल और इसमें भवायु काल के अन्तर्गत चारों गतियों के जीवों की अधिकतम और न्यूनतम आयु कितनी होती है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। यह चर्चा दो प्रकार से की गई है। जीव विशेष की अपेक्षा से और उन-उन गति के जीवों के सर्वजीवों की अपेक्षा से यह बताया गया है कि अपर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर नारक, तिर्यञ्च, देवता और पर्याप्त मनुष्य सभी कालों में होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत द्वार में कायस्थिति की चर्चा की गयी है। किसी जीव विशेष का पुनः-पुनः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरन्तर उसी काय में जन्म लेना कायस्थिति है। इस अपेक्षा से देव और नारक पुनः उसी काय में जन्म नहीं लेते हैं। अतः उनकी कायस्थिति एकभवपर्यन्त ही होती है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च को छोड़कर शेष तिर्यञ्च जीवों की कायस्थिति भव की अपेक्षा से अनन्तभव और काल की अपेक्षा से अनन्तकाल तक मानी गई है। जहाँ तक मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का प्रश्न है, उनकी स्थिति सात-आठ भव तक होती है। काल की अपेक्षा से यह कायस्थिति तीन पल्योपम और नौ करोड़ पूर्व वर्ष की हो सकती है।

कायस्थिति की चर्चा के बाद काल-द्वार में गुणविभाग काल की चर्चा है। इसमें विभिन्न गुणस्थानों के जघन्य और उत्कृष्ट काल की सीमा बतायी गयी है। इसी क्रम में सम्यक्त्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, लेश्या एवं मति आदि पाँच ज्ञानों की काल मर्यादा की चर्चा भी प्रस्तुत द्वार में मिलती है।

इसी क्रम में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के काल मर्यादा की चर्चा करते हुए चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम और अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ऐसा तीन प्रकार का बताया गया है। यद्यपि आगम में उसके प्रथम दो प्रकारों का ही निर्देश मिलता है। इसके पश्चात् इस द्वार में भव्यत्व-अभव्यत्व आदि की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट काल की चर्चा हुई है। द्वार के अन्त में विभिन्न मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्कृष्ट-जघन्य काल की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है। अन्त में अजीव द्रव्य के काल की चर्चा करते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय को अनादि-अनन्त बताया है। काल सामान्य दृष्टि से तो अनादि-अनन्त है, किन्तु विशेष रूप से उसे भूत, वर्तमान और भविष्य— ऐसे तीन विभागों में बाँटा जाता है। पुद्गल द्रव्य में परमाणु एवं स्कन्धों का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी पर्यन्त बताया है।

छठा **अन्तरद्वार**–जीव जिस गति अथवा पर्याय को छोड़कर अन्य किसी गति या पर्याय को प्राप्त हुआ हो, वह जब तक पुनः उसी गति या पर्याय को प्राप्त न कर सके, तब तक का काल अन्तरकाल कहा जाता है। प्रस्तुत द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चार गतियों के जीवों में कौन, कहाँ, किस गति में जन्म ले सकता है, इसकी चर्चा की गई। उसके पश्चात् एकेन्द्रिय, त्रसकाय एवं सिद्धों के सामान्य अपेक्षा से निरन्तर उत्पत्ति और अन्तराल के काल की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् सिद्धोंकी निरन्तरता और अन्तराल की चर्चा करते हुए चारों गतियों, पांचों इन्द्रियों, षट् जीवनिकायों आदि की अपेक्षा से भी अन्तरकाल की चर्चा की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सातवे **भाव-द्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सन्निपातिक ऐसे छः भागों की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् आठ कर्मों की अपेक्षा से विभिन्न भावों की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि मोहनीय-कर्म में चार भाव होते हैं, शेष तीन घाती कर्मों में औदयिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे तीन भाव होते हैं। शेष अघाती कर्मों में मात्र औदयिक भाव होते हैं। पारिणामिक भाव तो जीव का स्वभाव है। अत: वह सभी अवस्थाओं में पाया जाता है। अजीव द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में पारिणामिक भाव है, किन्तु यहाँ पारिणामिक भाव का तात्पर्य परिणमन ही समझना चाहिए, क्योंकि भाव तो चेतनागत अवस्था है। पुद्गल में पारिणामिक और औदयिक दोनों भाव होते हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मवर्गणा के रूप में उदय में भी आते हैं।

आठवें **अल्पबहुत्व-द्वार** में सर्वप्रथम चारों गतियों एवं सिद्धों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि सबसे अल्प मनुष्य है, मनुष्यों से असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं, देवों से असंख्यात गुणा अधिक सिद्ध या मुक्त आत्मा है और सिद्धों से अनन्त गुणा अधिक तिर्यंच हैं। स्त्री-पुरुष के अल्पबहुत्व को बताते हुए कहा गया है कि मानव स्त्री सबसे कम है, उनकी अपेक्षा पुरुष अधिक हैं पुरुषों से अधिक नारकीय जीव हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक पंचेन्द्रिय तिरियञ्चिणि हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक देवियाँ हैं। इसी क्रम में आगे विभिन्न नरकों की पारस्परिक अपेक्षा से और देव गति में विभिन्न देवों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। इसी क्रम में आगे विभिन्न कायों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न गुणस्थानों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस प्रकार इस द्वार में विभिन्न मार्गणाओं की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। अन्त में अजीव द्रव्यों और उनके प्रदेशों के अल्पबहुत्व का विचार करते हुए प्रस्तुत कृति समाप्त होती है, अन्तिम दो गाथाओं में जीवसमास का आधार दृष्टिवाद को बतलाते हुए जीवसमास के अध्ययन के फल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इसका अध्ययन करता है उसकी मति विपुल होती है तथा वह दृष्टिवाद के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवसमास का वर्ण्य-विषय विविध आयामों वाला है। उसमें जैन, खगोल, भूगोल, सृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ उस युग में प्रचलित विविध प्रकार के तौल-माप, जीवों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। गुणस्थान सिद्धान्त को आधार बनाकर आठ अनुयोगद्वारों के माध्यम से उसकी व्याख्या करने वाला श्वेताम्बर परम्परा में यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता और महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। इसपर सर्वप्रथम मलधार-गच्छीय श्री हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति है। यह मूलग्रन्थ सर्वप्रथम ऋषभदेव केशरीमल संस्थान, रतलाम के द्वारा ई० सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इसके भी पूर्व हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के साथ यह ग्रन्थ आगमोदय समिति बम्बई द्वारा ई० सन् १९२७ में मुद्रित किया गया था। जिनरत्नकोष से हमें यह भी सूचना मिलती है कि इसपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के अतिरिक्त शीलांकाचार्य की एक टीका भी उपलब्ध होती है, जो अभी तक अप्रकाशित है। यद्यपि इसकी प्रतियाँ बड़ौदा आदि विभिन्न ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार इसकी एक अन्य टीका बृहद्वृत्ति के नाम से जानी जाती है, जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के द्वारा विक्रम संवत् ११६४ तद्नुसार ई० सन् ११०७ में लिखी गई थी।

इस प्रकार यद्यपि मूलग्रन्थ और उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध थी, किन्तु प्राकृत और संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए इसके हार्द को समझ पाना कठिन था। इसका प्रथम गुजराती अनुवाद, जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की टीका पर आधारित है, मुनि श्री अमितयश विजय की महाराज ने किया, जो जिनशासन आराधना ट्रस्ट, बम्बई के द्वारा ई० सन् १९८५ में प्रकाशित हुआ। फिर भी हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिए इस महान् ग्रन्थ का उपयोग कर पाना अनुवाद के अभाव में कठिन ही था। ई० सन् १९९५ में खरतरगच्छीया महत्तरा अध्यात्मयोगिनी पूज्याश्री विचक्षणश्री जी म०सा० की सुशिष्या एवं साध्वीवर्या मरुधरज्योति पूज्या मणिप्रभाश्री जी की नेश्रायवर्तिनी **साध्वी श्री विद्युतप्रभाश्रीजी,** पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अपनी गुरु भगिनियों के साथ अध्ययनार्थ पधारीं, उनसे मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए निवेदन किया, जिसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया अपितु कठिन परिश्रम करके अल्पावधि में ही इसका अनुवाद सम्पन्न किया। उसके सम्पादन और संशोधन में मेरी व्यस्तता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से अपेक्षा से कुछ अधिक ही समय लगा, किन्तु आज यह ग्रन्थ मुद्रित होकर लोकार्पित होने जा रहा है, यह अतिप्रसन्नता और सन्तोष का विषय है। सम्पादन एवं भूमिका लेखन में हुए विलम्ब के लिए मैं साध्वीश्री जी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रावणपूर्णिमा
शाजापुर

डॉ० सागरमल जैन
निदेशक (इमेरिटस)
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षट्खण्डागम का जीवस्थान और जीवसमास*

— *पं. हीरालाल जी शास्त्री*

[षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है, किन्तु आज वह दिगम्बर परम्परा में आगम तुल्य ग्रन्थ के रूप में मान्य है और उस पर लिखी गई धवला और टीका आज दिगम्बर जैन समाज का आधारभूत ग्रन्थ है। प्रस्तुत लेखांश दिगम्बर जैन परम्परा के वरिष्ठ विद्वान् पं० हीरालालजी शास्त्री की षट्खण्डागम की भूमिका से लिया गया है। इसमें आदरणीय पण्डित जी ने यह प्रतिपादित किया है कि षट्खण्डागम के जीवस्थान का उपजीव्य जीवसमास रहा है] — सम्पादक

षट्खण्डागम के जीवस्थान का आधार जीवसमास

षट्खण्डागम के छह खण्डों में पहला खण्ड जीवस्थान है। इसका उद्गम धवलाकार ने महाकम्मपयडिपाहुड के छठे बन्धन नामक अनुयोगद्वार के चौथे भेद बंधविधान के अन्तर्गत विभिन्न भेद-प्रभेद रूप अवान्तर अधिकारों से बतलाया है, यह बात हम प्रस्तावना के प्रारम्भ में दिये गये चित्रादियों के द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं। जीवस्थान का मुख्य विषय सत्, संख्यादि आठ प्ररूपणाओं के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन करना है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जीवस्थान का मूल उद्गमस्थान महाकम्मपयडिपाहुड था और यतः कर्मबन्ध करने के नाते उसके बन्धक जीव का जबतक स्वरूप, संख्यादि न जान लिए जावें, तबतक कर्मों के भेद-प्रभेदों का और उनके स्वरूप आदि का वर्णन करना कोई महत्त्व नहीं रखता, अतः भगवत् पुष्पदन्त ने सबसे पहले जीवों के स्वरूप आदि का सत्, संख्यादि अनुयोगद्वारों से वर्णन करना ही उचित समझा। इस प्रकार जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड की रचना का श्रीगणेश हुआ।

पर जैसाकि मैंने वेदना और वर्गणाखण्ड में आई हुई सूत्र-गाथाओं के आधार पर षट्खण्डागम से पूर्व-रचित विभिन्न ग्रन्थों में पाई जाने वाली गाथाओं

---

*. षट्खण्डागम, सम्पा०- ब्र०पं०सुमतिबाई शहा, श्री श्रुतभांडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, १९६५ की पं० हीरालाल शास्त्री की 'प्रस्तावना' से साभार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के तुलनात्मक अवतरण देकर यह बताया है कि महाकम्मपयडिपाहुड का विषय बहुत विस्तृत था, और वह संक्षेप रूप से कण्ठस्थ रखने के लिए गाथा रूप में ग्रंथित या गुम्फित होकर आचार्य-परम्परा से प्रवहमान होता हुआ चला आ रहा था, उसका जितना अंश आचार्य शिवशर्म को प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने अपनी 'कम्मपयडी-संग्रहणी' में संगृहित कर दिया। इसी प्रकार उनके पूर्ववर्ती जिस आचार्य को जो विषय अपनी गुरु परम्परा से मिला, उसे उन-उन आचार्यों ने उसे गाथाओं में गुम्फित कर दिया, ताकि उन्हें जिज्ञासु जन कण्ठस्थ रख सकें। समस्त उपलब्ध जैन वाङ्मय का अवलोकन करने पर हमारी दृष्टि एक ऐसे ग्रन्थ पर गई, **जो षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान के साथ रचना-शैली से पूरी-पूरी समता रखता है और अद्यावधि जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है, किन्तु पूर्वभृत्-सूरि-सूत्रित के रूप में विख्यात है, उसका नाम है जीवसमास।**

इसमें कुल २८६ गाथाएँ हैं और सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम आदि उन्हीं आठ अनुयोगद्वारों में जीव का वर्णन ठीक उसी प्रकार से किया गया है, जैसाकि षट्खण्डागम के जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड में। भेद है, तो केवल इतना ही, कि आदेश से कथन करते हुए जीवसमास में एक-दो मार्गणाओं का वर्णन करके यह कह दिया गया है कि इसी प्रकार से धीर, वीर और श्रुतज्ञजनों को शेष मार्गणाओं का विषय अनुमार्गण कर लेना चाहिए। तब षट्खण्डागम के जीवस्थान में उन सभी मार्गणा स्थानों का वर्णन खूब विस्तार के साथ प्रत्येक प्ररूपणा में पाया जाता है। यही कारण है कि यहां जो वर्णन केवल २८६ गाथाओं के द्वारा किया गया है, वहाँ वही वर्णन जीवस्थान में १८६० सूत्रों के द्वारा किया गया है।

जीवसमास में आठों प्ररूपणाओं का ओघ और आदेश से वर्णन करने के पूर्व उस-उस प्ररूपणा की आधारभूत अनेक बातों की बड़ी विशद चर्चा की गई है, जो कि जीवस्थान में नहीं है। हाँ, धवला टीका में वह अवश्य दृष्टिगोचर होती है। ऐसी विशिष्ट विषयों की चर्चा वाली सब मिलाकर लगभग १११ गाथाएँ हैं। उनको २८६ में से घटा देने पर केवल १७५ गाथाएँ ही ऐसी रह जाती हैं, जिनमें आठों प्ररूपणाओं का सूत्ररूप में होते हुए भी विशद एवं स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि १७५ गाथाओं का स्पष्टीकरण षट्खण्डागमकार ने १८६० सूत्रों में किया है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि सम्भव है षट्खण्डागम के उक्त जीवस्थान के विशद एवं विस्तृत वर्णन का जीवसमासकार ने संक्षेपीकरण किया हो। जैसा कि धवला-जयधवला टीकाओं का संक्षेपीकरण गोम्मटसार के रचयिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिचन्द्राचार्य ने किया है। पर इस शंका का समाधान यह है कि पहले तो गोम्मटसार के रचयिता ने उसमें अपना नाम स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, जिससे कि वह परवर्ती रचना सिद्ध हो जाती है। पर यहाँ तो जीवसमासकार ने न तो अपना नाम कहीं दिया है और न परवर्ती आचार्यों ने ही उसे किसी आचार्य-विशेष की कृति बताकर नामोल्लेख किया है। प्रत्युत् उसे 'पूर्वभृत्-सूरि-सूत्रित' ही कहा है, जिसका अर्थ यह होता है कि **जब यहाँ पर पूर्वो का ज्ञान प्रवहमान था, तब किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणाशक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथारूप में निबद्ध कर दिया है और वह आचार्य परम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है। उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।**

दूसरे इस जीवसमास की जो गाथाएँ आठ प्ररूपणाओं की भूमिका रूप हैं, वे धवलाटीका के अतिरिक्त उत्तराध्ययन, मूलाचार, आचारांग-निर्युक्ति, प्रज्ञापनासूत्र, प्राकृत पञ्चसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों में पायी जाती हैं। जीवसमास की अपने नाम के अनुरूप विषय की सुगठित विगतवार सुसम्बद्ध रचना को देखते हुए यह कल्पना असंगत-सी प्रतीत होती है कि उसके रचयिता ने उन-उन उपर्युक्त ग्रन्थों से उन-उन गाथाओं को छांट-छांट कर अपने ग्रन्थ में निबद्ध कर दिया हो। इसके स्थान पर तो यह कहना अधिक संगत होगा कि जीवसमास के प्रणेता वस्तुतः श्रुतज्ञान के अंगभूत ११ अंगों और १४ पूर्वों के वेत्ता थे। भले ही वे श्रुतकेवली न हों, पर उन्हें अंग और पूर्वों के बहुभाग का विशिष्ट ज्ञान था, और यही कारण है कि वे अपनी कृति को इतनी स्पष्ट एवं विशद बना सके। यह कृति आचार्य-परम्परा से आती हुई धरसेनाचार्य को प्राप्त हुई, ऐसा मानने में हमें कोई बाधक कारण नहीं दिखाई देता। प्रत्युत् प्राकृत पञ्चसंग्रह की प्रस्तावना में जैसाकि मैंने बतलाया, यही अधिक सम्भव जँचता है कि प्राकृत पञ्चसंग्रहकार के समान जीवसमास धरसेनाचार्य को भी कण्ठस्थ था और उसका भी व्याख्यान उन्होंने अपने दोनों शिष्यों को किया है।

यहाँ पर जीवसमास का कुछ प्रारम्भिक परिचय देना अप्रासंगिक न होगा। पहली गाथा में चौबीस जिनवरों (तीर्थङ्करों) को नमस्कार कर जीवसमास कहने की प्रतिज्ञा की गई है। दूसरी गाथा में निक्षेप, निरुक्ति, (निर्देश-स्वामित्वादि) छह अनुयोगद्वारों से, तथा (सत्-संख्यादि) आठ अनुयोगद्वारों से गति आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गणाओं के द्वारा जीवसमास अनुगन्तव्य कहे हैं। तीसरी गाथा के द्वारा नामादि चार वा बहुत प्रकार के निक्षेपों की प्ररूपणा का विधान है। चौथी गाथा में उक्त छह अनुयोगद्वारों से सर्वभाव (पदार्थ) अनुगन्तव्य कहे हैं। पांचवीं गाथा में सत्-संख्यादि आठ अनुयोगद्वारों का निर्देश है, जो कि इस प्रकार है—

संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्त-फुसणा य।
कालंतरं च भावो अप्पाबहुअं च दाराइं ।। ५ ।।

पाठकगण इस गाथा के साथ षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड के 'संतपरूवणा' आदि सातवें सूत्र से मिलान करें। तत्पश्चात् छठी 'गइ इंदिए य काए' इत्यादि सर्वत्र प्रसिद्ध गाथा के द्वारा चौदह मार्गणाओं के नाम गिनाये गये हैं, जो कि ज्यों के त्यों षट्खण्डागम के सूत्रांक ४ में बताये गये हैं। पुनः सातवीं गाथा में 'एत्तो उ चउदसण्हं इहाणुगमणं करिस्सामि' कहकर और चौदह गुणस्थानों के नाम दो गाथाओं में गिनाकर उनके क्रम से जानने की प्रेरणा की गई है। जीवसमास की ५वीं गाथा से लेकर ९वीं गाथा तक का वर्णन जीवस्थान के २रे सूत्र से लेकर २२वें सूत्र तक के साथ शब्द और अर्थ की दृष्टि से बिल्कुल समान है। अनावश्यक विस्तार के भय से दोनों के उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं।

इसके पश्चात् ७६ गाथाओं के द्वारा सत्प्ररूपणा का वर्णन ठीक उसी प्रकार से किया गया है, जैसाकि जीवस्थान की सत्प्ररूपणा में है। पर जीवसमास में उसके नाम के अनुसार प्रत्येक मार्गणा से सम्बन्धित सभी आवश्यक वर्णन उपलब्ध हैं। यथा— गतिमार्गणा में प्रत्येक गति के अवान्तर भेद-प्रभेदों के नाम दिये गये हैं। यहाँ तक कि नरकगति के वर्णन में सातों नरकों और उनकी नामगोत्र वाली सातों पृथिवियों के, मनुष्यगति के वर्णन में कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और आर्य-म्लेच्छादि भेदों के तथा देवगति के वर्णन में चारों जाति के देवों के तथा स्वर्गादिकों के भी नाम गिनाये गये हैं। इन्द्रिय-मार्गणा में गुणस्थानों के निर्देश के साथ छहों पर्याप्तियों और उनके स्वामियों का भी वर्णन किया गया है। जबकि यह वर्णन जीवट्ठाण में योगमार्गणा के अन्तर्गत किया गया है।

कायमार्गणा में गुणस्थानों के निर्देश के अतिरिक्त पृथिविकायिक आदि पांचों स्थावर कायिकों के नामों का विस्तार से वर्णन है। इस प्रकार की 'पुढवी य सक्करा वालुया' आदि १४ गाथाएँ वे ही हैं, जो धवल पुस्तक १ के पृ० २७२ आदि में, तथा मूलाचार में २०६वीं गाथा से आगे, तथा उत्तराध्ययन, आचारांगनिर्युक्ति, प्राकृत पञ्चसंग्रह और कुछ गो० जीवकाण्ड में ज्यों की त्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाई जाती हैं। इसी मार्गणा के अन्तर्गत सचित्त-अचित्तादि योनियों और कुलकोडियों का वर्णन कर पृथिवीकायिक आदि जीवों के आकार और त्रसकायिक जीवों के संहनन और संस्थानों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो प्रकरण को देखते हुए जानकारी की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

योगमार्गणा से लेकर आहारमार्गणा तक का वर्णन षट्खण्डागम के जीवस्थान के समान ही है। जीवसमास में इतना विशेष है कि ज्ञानमार्गणा में आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रहादि भेदों का, संयम-मार्गणा में पुलाक, बकुशादिका, लेश्यामार्गणा में द्रव्यलेश्या का और सम्यक्त्वमार्गणा में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व आदि के प्रकरणवश कर्मों के देशघाती, सर्वघाती आदि भेदों का भी वर्णन किया गया है। अन्त में साकार और अनाकार उपयोग के भेदों को बतलाकर और **'सव्वे तल्लक्खणा जीवा'** कहकर जीव के स्वरूप को भी कह दिया गया है।

यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए दोनों के समतापरक एक अवतरण को दे रहे हैं—

जीवसमास

अस्सण्णि अमणपंचिंदियंत सण्णी उ समण छउमत्था।

नो सण्णि नो असण्णी केवलनाणी उ विण्णेआ ।। ८१ ।।

जीवस्थान

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी ।।१७२।। सण्णी मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव खीण कसायवीयरायछदुमत्था त्ति।।१७३।। असण्णी एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ।।१७४।।

पाठकगण इन दोनों उद्धरणों की समता और जीवसमास की कथन-शैली की सूक्ष्मता के साथ 'नो संज्ञी और नो असंज्ञी' ऐसे केवलियों के निर्देश की विशेषता का स्वयं अनुभव करेंगे।

दूसरी संख्याप्ररूपणा या द्रव्यप्रमाणानुगम का वर्णन करते हुए जीवसमास में पहले प्रमाण के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चार भेद बतलाये गये हैं। तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाण में मान, उन्मानादि भेदों का, क्षेत्रप्रमाण में अंगुल (हस्ते) धनुष आदि का, कालप्रमाण में समय, आवली, उच्छ्वास आदि का और भावप्रमाण में प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञानों का वर्णन किया गया है। इनमें क्षेत्र और कालप्रमाण का वर्णन खूब विस्तार के साथ क्रमशः १४ और ३५ गाथाओं में किया गया है। जिसे कि धवलाकार ने यथास्थान लिखा ही है। इन चारों प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के प्रमाणों का वर्णन करने वाली गाथाएँ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में ज्यों की त्यों या साधारण से शब्दभेद के साथ मिलती हैं, जिनसे कि उनका आचार्य-परम्परा से चला आना ही सिद्ध होता है। इन चारों प्रकार के प्रमाणों का वर्णन षट्खण्डागमकार के सामने सर्वसाधारण में प्रचलित रहा है, अत: उन्होंने उसे अपनी रचना में स्थान देना उचित नहीं समझा है।

इसके पश्चात् मिथ्यादृष्टि आदि जीवों की संख्या बतलाई गई है, जो दोनों ही ग्रन्थों में शब्दशः समान है। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ एक उद्धरण दिया जाता है—

जीवसमास-गाथा

मिच्छा दव्वमणंता कालेणोसप्पिणी अणंताओ। खेत्तेण भिज्जमाणा हवंति लोगा अणंता ओ।।१४४।।

षट्खण्डागम-सूत्र

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया? अणंता ।।२।। अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ।।३।। खेत्तेण अणंताणंता लोगा।।४।। — (षट्खण्डागम, पृ० ५४-५५)

पाठकगण दोनों के विषय-प्रतिपादन की शाब्दिक और आर्थिक समता का स्वयं ही अनुभव करेंगे।

इस प्रकार से जीवसमास में चौदह गुणस्थानों की संख्या को, तथा गति आदि तीन मार्गणाओं की संख्या को बतलाकर तथा सान्तरमार्गणाओं आदि का निर्देश करके कह दिया गया है कि—

एवं जे जे भावा जहिं जहिं हुंति पंचसु गईसु।
ते ते अणुमग्गित्ता दव्वपमाणं नए धीरा।। १६६ ।।

अर्थात् मैंने इन कुछ मार्गणाओं में द्रव्यप्रमाण का वर्णन किया है, तद्नुसार पांचों ही गतियों में सम्भव शेष मार्गणास्थानों का द्रव्यप्रमाण धीर-वीर पुरुष स्वयं ही अनुमार्गण करके ज्ञात करें। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संकेत को लक्ष्य में रखकर ही षट्खण्डागमकार ने शेष ११ मार्गणाओं के द्रव्यप्रमाण का वर्णन पूरे ९०सूत्रों में किया है।

क्षेत्रप्ररूपणा करते हुए जीवसमास में सबसे पहले चारों गतियों के जीवों के शरीर की अवगाहना बहुत विस्तार से बताई गई है, जो प्रकरण को देखते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए वहाँ बहुत आवश्यक है। अन्त में तीन गाथाओं के द्वारा सभी गुणस्थानों और मार्गणास्थानों के जीवों की क्षेत्रप्ररूपणा कर दी गई है। गुणस्थानों में क्षेत्रप्ररूपणा करने वाली गाथा के साथ षट्खण्डागम के सूत्रों की समानता देखिये—

जीवसमास-गाथा

मिच्छा उ सव्वलोए असंखेभागे य सेसया हुंति। केवलि असंखभागे भागेसु व सव्वलोए वा।।१७८।।

षट्खण्डागम-सूत्र

ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते? सव्वलोगे ।।२।। सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभाए ।। ३ ।। सजोगिकेवली केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभाए, असंखेज्जेसु वा भागेसु, सव्वलोगे वा ।।४।। (षट्खं०, पृ० ८६-८८)

स्पर्शनप्ररूपणा करते हुए जीवसमास में पहले स्वस्थान, समुद्घात और उपपादपद का निर्देश कर क्षेत्र और स्पर्शन का भेद बतलाया गया है। तत्पश्चात् किस द्रव्य का कितने क्षेत्र में अवगाह है, यह बतलाकर अनन्त आकाश के मध्यलोक का आकार सुप्रतिष्ठित संस्थान बताते हुए तीनों लोकों के पृथक् आकार बताकर उसकी लम्बाई-चौड़ाई बताई है। पुनः मध्यलोक के द्वीप समुद्रों के संस्थान-संनिवेश आदि को बताकर उर्ध्व और अधोलोक की क्षेत्र सम्बन्धी घटा-बढ़ा का वर्णन किया गया है। पुनः समुद्घात के सातों भेद बताकर किस गति में कितने समुद्घात होते हैं, यह बताया गया है। इस प्रकार सभी आवश्यक जानकारी देने के पश्चात् गुणस्थानों और मार्गणास्थानों के स्पर्शन की प्ररूपणा की गई है। गुणस्थानों की स्पर्शनप्ररूपणा जीवसमास में डेढ़ गाथा में कही गई है, जबकि षट्खण्डागम में वह ९ सूत्रों में वर्णित है। दोनों का मिलान कीजिए—

जीवसमास-गाथा

मिच्छेहिं सव्वलोओ सासण-मिस्सेहि अजय-देसेहिं। पुट्ठा चउदसभागा बारस अट्ठट्ठ छच्चेव।।१९५।। सेसेहऽसंखभागो फुसिओ लोगो सजोगिकेवलिहिं।

षट्खण्डागम-सूत्र

ओघेण मिच्छादिट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं? सव्वलोगो ।। २ ।। सासणसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो ।। ३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अट्ठ बारह चोद्दस भागा वा देसूणा।। ४ ।। सम्मामिच्छाइट्ठि— असंजदसम्मादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो ।।५।। अट्ठ चोद्दस भागा वा देसूणा।। ६ ।। संजदासंजदेहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो।। ७ ।। छ चौद्दस भागा वा देसूणा।। ८ ।। पमत्तसंजदप्पहुडि जीव अजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। सजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जा वा भागा सव्वलोगो वा ।। १० ।। (षट्खं०, पृ० १०१-१०४)

कालप्ररूपणा करते हुए जीवसमास में सबसे पहले चारों गति के जीवों की विस्तार के साथ भवस्थिति और कायस्थिति बताई गई है, क्योंकि उसके जाने बिना गुणस्थानों और मार्गणास्थानों की काल-प्ररूपणा ठीक-ठीक नहीं जानी जा सकती है। तदनन्तर एक और नाना जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों और मार्गणास्थानों की कालप्ररूपणा की गई है। गुणस्थानों की प्ररूपणा जीवसमास में ७।।। गाथाओं में की गई है तब षट्खण्डागम में वह ३१ सूत्रों में की गई है। विस्तार के भये से यहाँ दोनों के उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं। जीवसमास में कालभेद वाली कुछ मुख्य-मुख्य मार्गणाओं की कालप्ररूपणा करके अन्त में कहा गया है—

एत्थ य जीवसमासे अणुमग्गिय सुहुम-निउणमइकुसले।

सुहुमं कालविभागं विमएज्ज सुयम्मि उवजुत्तो।। २४० ।।

अर्थात् सूक्ष्म एवं निपुण बुद्धिवाले कुशल जनों को चाहिए कि वे जीवसमास के इस स्थल पर श्रुतज्ञान में उपयुक्त होकर अनुक्त मार्गणाओं के सूक्ष्म काल-विभाग का अनुमार्गण करके शिष्य जनों को उसका भेद प्रतिपादन करें।

अन्तर-प्ररूपणा करते हुए जीवसमास में सबसे पहले अन्तर का स्वरूप बतलाया गया है, पुन: चारों गतिवाले जीव मरण कर कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं, यह बताया गया है। पुन: जिनमें अन्तर सम्भव है, ऐसे गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का अन्तरकाल बताया गया है। पश्चात् तीन गाथाओं के द्वारा गुणस्थानों की अन्तरप्ररूपणा की गई है, जबकि वह षट्खण्डागम में १९ सूत्रों के द्वारा वर्णित है। तदनन्तर कुछ प्रमुख मार्गणाओं की अन्तरप्ररूपणा करके कहा गया है कि—

भव-भावपरित्तीणं काल विभागं कमेणऽणुगमित्ता।

भावेण समुवउत्तो एवं कुज्जंऽतराणुगमं।। २६३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् अनुक्त शेष मार्गणाओं के भव और भाव-परिवर्तन-सम्बन्धी काल-विभाग को क्रम से अनुमार्गण करके भाव से समुपयुक्त (अतिसावधान) होकर इसी प्रकार से शेष मार्गणाओं के अन्तरानुगम को करना चाहिए।

भावप्ररूपणा जीवसमास में केवल छह गाथाओं के द्वारा की गई है, जबकि षट्खण्डागम के जीवस्थान में वह ९२ सूत्रों में वर्णित है। जीवसमास की संक्षेपता को लिए हुए विशेषता यह है कि इसमें एक-एक गाथा के द्वारा मार्गणास्थानों में औदयिक आदि भावों का निर्देश कर दिया गया है। यथा—

गइ काय वेय लेस्सा कसाय अन्नाण अजय असण्णी।
मिच्छाहारे उदया, जियभव्वियर त्तिय सहावो।। २६९ ।।

अर्थात् गति, काय, वेद, लेश्या, अज्ञान, असंयम, असंज्ञी, मिथ्यात्व और आहारमार्गणाएँ औदयिकभावरूप हैं। जीवत्व, भव्यत्व और इतर (अभव्यत्व) ये तीनों स्वभावरूप अर्थात् पारिणामिक भावरूप हैं।

जीवसमास में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा एक खास ढंग से की गई है, जिससे षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवट्ठाण और द्वितीय खण्ड खुद्दाबंध इन दोनों खण्डों की अल्पबहुत्वप्ररूपणा के आधार का सामञ्जस्य बैठ जाता है। अल्पबहुत्व की प्ररूपणा में जीवसमास के भीतर सर्वप्रथम जो दो गाथाएँ दी गई हैं, उनका मिलान खुद्दाबंध के अल्पबहुत्व से कीजिए—

जीवसमास-गाथा

थोवा नरा नरेहि य असंखगुणिया हवंति णेरइया। तत्तो सुरा सुरेहि य सिद्धाऽणंता तओ तिरिया।।२७१।।

थोवाउ मणुस्सीओ नर-नरय-तिरिक्खिओ असंखगुणा। सुर-देवी संखगुणा सिद्धा तिरिया अणंतगुणा।।२७२।।

खुद्दाबन्ध-सूत्र

अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण।।१।। सव्वत्थोवा मणुसा।।२।। णेरइया असंखेज्जगुणा।।३।। देवा असंखेज्जगुणा।।४।। सिद्धा अणंतगुणा।।५।। (खुद्दाबंध-अल्पब०, पृ० ४५१)

अट्ठगदीओ समासेण ।।७।। सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ ।।८।। मणुस्सा असंखेज्जगुणा।।९।। णेरइया असंखेज्जगुणा।।१०।। पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ ।।११।। देवा संखेज्जगुणा ।।१२।। देवीओ संखेज्जगुणाओ।।१३।। सिद्धा अणंतगुणा।।१४।। तिरिक्खा अणंतगुणा।।१५।।

(खुद्दाबं० अल्पब०, पृ० ४५१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों ग्रन्थों के दोनों उद्धरणों से बिल्कुल स्पष्ट है कि खुद्दाबन्ध के अल्पबहुत्व का वर्णन उक्त दोनों गाथाओं के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार खुद्दाबन्ध के अल्पबहुत्व-सम्बन्धी सू० १६ से २१ तक का आधार जीवसमास की २७५वीं गाथा है, सू० ३८ से ४४ तक का आधार २७६वीं गाथा है।

खुद्दाबन्ध में मार्गणाओं के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा के पश्चात् जो अल्पबहुत्वमहादण्डक है, उसमें सू० २ से लेकर ४३वें सूत्र तक की अल्पबहुत्व-प्ररूपणा का आधार जीवसमास की गा० २७३ और २७४ है।

जीवस्थान के भीतर गुणस्थानों के अल्पबहुत्व का जो वर्णन सू० २ से लेकर २६वें सूत्र तक किया गया है, उसका आधार जीवसमास की २७७ और २७८वीं गाथा है। पुनः मार्गणास्थानों में गतिमार्गणा का अल्पबहुत्व गुणस्थानों को साथ कहा गया है। इन्द्रिय और कायमार्गणा के अल्पबहुत्व की वे ही गाथाएँ आधार हैं, जिनकी चर्चा अभी खुद्दाबन्ध के सूत्रों के साथ समता बताते हुए कर आए हैं। अन्त में शेष अनुक्त मार्गणाओं के अल्पबहुत्व जानने के लिए २८१वीं गाथा में कहा गया है कि—

'एवं अप्पाबहुयं दव्वपमाणेहि साहेज्जा'।

अर्थात् इसी प्रकार से नहीं कही हुई शेष सभी मार्गणाओं के अल्पबहुत्व को द्रव्यप्रमाणानुगम (संख्याप्ररूपणा) के आधार से सिद्ध कर लेना चाहिए।

जीवसमास का उपसंहार करते हुए सभी द्रव्यों का द्रव्य की अपेक्षा अल्पबहुत्व और प्रदेशों की अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाकर अन्त में दो गाथाएँ देकर उसे पूरा किया है, जिससे जीवसमास नामक प्रकरण की महत्ता का बोध होता है। वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

१) **बहुभंगदिट्ठिवाए दिट्ठत्थाणं जिनवरोवइट्ठाणं।**
धारणपत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उवजुत्तो ।। २८५ ।।

२) **एवं जीवाजीवे वित्थरमिहिए समासनिद्दिट्ठे।**
उवजुत्तो जो गुणए तस्स मई जायए विउला ।। २८६ ।।

अर्थात् जिनवरों के द्वारा उपदिष्ट और बहुभेद वाले दृष्टिवाद में दृष्ट अर्थों की धारणा को वह पुरुष प्राप्त होता है, जो कि इस जीवसमास में कहे गये अर्थ को हृदयङ्गम करने में उपयुक्त होता है। इस प्रकार द्वादशाङ्ग श्रुत में विस्तार से कहे गये और मेरे द्वारा समास (संक्षेप) से कहे गये इस ग्रन्थ में जो उपयुक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर उसके अर्थ का गुणन (चिन्तन और मनन) करता है, उसकी बुद्धि विपुल (विशाल) हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार जीवसमास की रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदय पर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथा में स्वयं ही 'बहुभंगदिट्ठिवाए' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होने का संकेत कर दिया है।

समग्र जीवसमास का सिंहावलोकन करने पर पाठकगण दो बातों के निष्कर्ष पर पहुँचेंगे— **एक तो यह कि वह विषय वर्णन की सूक्ष्मता और महत्ता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और दूसरी यह कि षट्खण्डागम के जीवट्ठाण-प्ररूपणाओं का वह आधार रहा है।**

यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः' इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और 'नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु' इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उसकी 'नवसु' पद से सूचना मान करके समाधान कर लिया गया है उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।

षट्खण्डागम के पृ० ५७२ से लेकर ५७७ तक वेदनाखण्ड के वेदनाक्षेत्रविधान के अन्तर्गत अवगाहना-महादण्डक के सू० ३० से लेकर ९९वें सूत्र तक जो सब जीवों की अवगाहना का अल्पबहुत्व बतलाया गया है, उसके सूत्रात्मक बीज यद्यपि जीवसमास की क्षेत्रप्ररूपण्ा में निहित है, तथापि जैसा सीधा सम्बन्ध, गो० जीवकाण्ड में आई हुई **'सुहुमणिवाते आभू'** इत्यादि (गा० ९७ से लेकर १०१ तक की) गाथाओं के साथ बैठता है, वैसा अन्य नहीं मिलता। इन गाथाओं की रचनाशैली ठीक उसी प्रकार की है, जैसी कि वेदनाखण्ड में आई हुई चौसठ पदिकवाले जघन्य और उत्कृष्ट अल्पबहुत्व की गाथाओं की है। यतः गो० जीवकाण्ड में पूर्वाचार्य-परम्परा से आने वाली अनेकों गाथाएँ संकलित पायी जाती हैं, अतः बहुत सम्भव तो यही है कि ये गाथाएँ भी वहाँ संगृहीत ही हों। और, यदि वे नेमिचन्द्राचार्य रचित हैं, तो कहना होगा कि उन्होंने सचमुच पूर्व गाथा-सूत्रकारों का अनुकरण किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञात पूर्वधर आचार्य द्वारा विरचित

जीवसमास

(चौदह-गुणस्थान विवेचन)

"मङ्गलाचरण"

दस चोद्दस य जिणवरे चोद्दस गुणजाणए नमंसिता।
चोद्दस जीवसमासे समासओऽणुक्कमिस्सामि।।१।।

गाथार्थ— दस और चौदह अर्थात् चौबीस श्रेष्ठ जिनों को, जो चौदह गुणस्थानों के ज्ञाता हैं, नमस्कार करके मैं चौदह जीवसमासों (चौदह गुणस्थानों) का अनुक्रम से संक्षेप में विवेचन करूँगा।

विवेचन—ग्रन्थकार अपनी रचना की निर्विघ्न समाप्ति हेतु रचना के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं। प्रस्तुत कृति में रचनाकार ने प्रथम गाथा में चौबीस जिनेश्वरों को नमस्कार किया है एवं उन्हें चौदह गुणस्थानों का ज्ञाता बताया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि तीर्थंकर तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते हैं फिर उन्हें मात्र चौदह गुणस्थानों का ज्ञाता ही क्यों कहा गया है?

इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि समस्त जीवराशि चौदह गुणस्थानों में वर्गीकृत है, अत: चौदह गुणस्थानों के ज्ञान में समस्त लोक के जीव-जगत् का और उनके सम्बन्ध से समस्त लोकालोक का ज्ञान निहित है। इस प्रकार इससे उनकी सर्वज्ञता की ही पुष्टि होती है। इसका दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि रचनाकार अपनी रचना में चौदह गुणस्थानों का विवेचन करने जा रहा है, अत: तीर्थंकर भगवान को चौदह गुणस्थानों का ज्ञाता कहकर रचनाकार यह स्पष्ट करना चाहता है कि वह अपनी इस कृति में जिन चौदह गुणस्थानों का विवेचन कर रहा है वे उनके द्वारा ज्ञात एवं प्रज्ञप्त हैं। इस प्रकार वह एक ओर अपनी विनम्रता और दूसरी ओर अपने विवेचन की प्रामाणिकता को ही पुष्ट करता है।

प्रस्तुत गाथा की एक विशेषता यह भी है कि इसमें गुणस्थान और जीव-समास को पर्यायवाची माना गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निक्षेप—

निक्खेवनिरुत्तीहिं छहिं अट्ठहिं याणुओगदारेहिं।
गइयाइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा।।२।।

गाथार्थ—इस जीवसमास को निक्षेपों, निर्युक्तियों, छः या आठ अनुयोगद्वारों तथा गति आदि चौदह मार्गणाओं के द्वारा समझना चाहिए।

विवेचन—अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग ४, पृष्ठ २०२७ में निक्षेप का अर्थ बताया है— "निक्षेपणं निक्षेपः"। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि के द्वारा आगमिक शब्दों के अर्थ का निरूपण या व्याख्या करना निक्षेप है। सामान्यतया नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव— ये निक्षेपों के चार प्रकार बताये गये हैं। यद्यपि आगमों में इनके अन्य भेदों की चर्चा भी उपलब्ध होती है।

निर्युक्ति—शब्द के अर्थ की व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ निर्युक्ति कही जाती हैं, यथा— जो जीता है वह जीव है।

अनुयोगद्वार—शब्द की व्याख्या जिन-जिन अपेक्षाओं से की जा सकती है उन्हें अनुयोगद्वार कहते हैं। अग्रिम गाथा में इन पर विस्तार से विचार किया गया है।

मार्गणा—गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाएँ हैं। जिनके आधार पर जीव की विभिन्न स्थितियों का विचार किया जाता है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम विभाग की गाथा तीन में निक्षेपों की, गाथा चार में छः अनुयोगद्वारों की तथा गाथा पाँच में सत्पदप्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा है, पुनः गाथा ग्यारह से छियासी तक चौदह मार्गणाओं की चर्चा है।

नामं ठवणा दव्वे भावे य चउव्विहो उ निक्खेवो।
कत्थइ य पुण बहुविहो तयासयं पप्प कायव्वो।।३।।

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव— ये निक्षेप के चार प्रकार हैं। तथापि वक्ता के आशय एवं शब्द की प्रयोग शैली के आधार पर उसके अनेक भेद भी कहे जाते हैं।

विवेचन—सामान्यतया निक्षेप के चार प्रकार बताये गये हैं, किन्तु वक्ता के आशय एवं शब्द की प्रयोग शैली आदि की अपेक्षा से अनेक प्रकार के निक्षेप भी घटित हो सकते हैं। आगमिक व्याख्याओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, तद्भव, भोग, संयम, आधार, ओघ, यशकीर्ति आदि दस निक्षेपों का भी उल्लेख मिलता है। यदि व्यक्ति सभी निक्षेपों को न जान सके तो कम से कम उसे चार निक्षेप तो जानना ही चाहिए।

इसी प्रकार अनुयोगद्वारों के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क) कसायपाहुड (३/३-२२/७/३) में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि— अनुयोगद्वार किसे कहते हैं? इसके उत्तर में बताया गया है कि कहे जाने वाले अर्थ को जानने के उपायभूत अधिकार को अनुयोगद्वार कहते हैं। अनुयोग के चार प्रकार हैं— १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग तथा ४. द्रव्यानुयोग।

(ख) स्याद्वादमञ्जरी (श्लोक-२८/पृष्ठ-३०९/पंक्ति-२२) में उपक्रम आदि चार अनुयोग बताते हुए कहा गया है— प्रवचन महानगर के अनुयोग रूप चार द्वार हैं— १. उपक्रम, २. निक्षेप, ३. अनुगम और ४. नय।

(ग) तत्त्वार्थसूत्र (१/७) में निर्देश, स्वामित्व आदि छः प्रकार के अनुयोग बताये गये हैं।

(घ) षट्खण्डागम की धवलाटीका में (१/१, १, १/१८/३४) में बताया गया है कि— किं, कस्स, केण, कत्थ, केवचिरं तथा कदिविधं— इन छः अनुयोगद्वारों से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान करना चाहिए।

इन्हीं छः अनुयोगद्वारों को आगे गाथा चार में स्पष्ट किया गया है।

छः अनुयोगद्वार

किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कइविहो उ भावोत्ति।
छहिं अणुओगदारेहिं सव्वे भावाऽणुगंतव्वा।।४।।

गाथार्थ— क्या, किसका, किससे, कहाँ, कितने समय तक और कितने प्रकार के भाव वाला है, इन छः अनुयोगद्वारों से जीव आदि तत्त्वों की सभी अवस्थाओं का विवेचन करना चाहिए। जैसे—

प्रश्न— जीव क्या है? अथवा जीव का लक्षण क्या है?
उत्तर— जीव का लक्षण उपयोग है।
प्रश्न— जीव किसका स्वामी है?
उत्तर— जीव स्वयं के ज्ञानादि गुणों का स्वामी है।
प्रश्न— जीव किसके द्वारा बंधा हुआ है?
उत्तर— संसारी जीव कर्मों से बंधा हुआ है।
प्रश्न— जीव कहाँ-कहाँ है?
उत्तर—सशरीरी संसारी जीव चौदह राजूलोक में है और सिद्धजीव लोकाग्र में सिद्धशिला के ऊपर स्थित है।
प्रश्न— जीव कब से है और कब तक रहेगा?
उत्तर— जीव अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा।
प्रश्न— जीव के भाव कितने प्रकार के हैं?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर— जीव के औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदायिक तथा पारिणामिक— ये पाँच प्रकार के भाव हैं।

आठद्वार

संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य।
कालंतरं च भावो अप्पाबहुयं च दाराइं।।५।।

गाथार्थ— १.सत्पदप्ररूपणा (अस्तित्व), २. द्रव्यपरिमाण (मात्रा या संख्या), ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाव (अवस्थाएँ) और ८.अल्प-बहुत्व— ये आठ अनुयोगद्वार हैं जिनके द्वारा किसी तत्त्व की विवेचना की जाती है।

विशेषार्थ— प्रस्तुत गाथा में निम्न आठ अपेक्षाओं के आधार पर जीवद्रव्य का निरूपण किया गया है।

१. **सत्पद—** सत्पद अर्थात् अस्तित्व गुण की अपेक्षा से जीवादि तत्त्व हैं।

२. **द्रव्य—** द्रव्य की अपेक्षा से आत्म-द्रव्य कितने हैं? आत्म-द्रव्य अनन्त हैं।

३. **क्षेत्र—** जीव कितने क्षेत्र में निवास करते हैं? मुक्तजीव लोक के असंख्यातवें भाग में अथवा लोकाग्र में निवास करते हैं, किन्तु संसारी जीव सम्पूर्ण लोक में रहे हुए हैं।

४. **स्पर्श—** मुक्तजीवों ने कितने स्थान को स्पर्शित कर रखा है? मुक्त जीवों की स्पर्शना लोक के असंख्यातवें भाग जितनी है।

५. **काल—** मुक्तजीव मोक्ष में कितने काल तक रहेंगे? एक जीव की अपेक्षा से सादि-अनन्त काल तक तथा समस्त मुक्तजीवों की अपेक्षा से अनादि काल से मुक्तजीव वहाँ रहे हुए हैं और अनन्त काल तक वहाँ रहेंगे।

६. **अन्तर—** एक जीव के सिद्ध होने से दूसरे जीव के सिद्ध होने तक अधिक से अधिक कितना अन्तर रहता है? सिद्ध जीवों में अधिक से अधिक अन्तर छः मास का हो सकता है।

७. **भाव—** सिद्धों में कौनसे भाव हैं? सिद्धों में क्षायिक एवं पारिणामिक भाव हैं।

८. **अल्प-बहुत्व—** सिद्धों में अल्प-बहुत्व की विवेचना किस प्रकार की जाती है? जैसे नपुंसक सबसे कम, स्त्रियाँ उससे ज्यादा तथा पुरुष उससे अधिक सिद्ध होते हैं।

नोट— प्रस्तुत कृति में इन आठ द्वारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र (१/८) में भी इन्हीं आठ द्वारों का उल्लेख मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौदहमार्गणा

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे।।६।।

गाथार्थ— १. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय (शरीर), ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्यत्व, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञा तथा १४. आहार—ये चौदह जीव मार्गणाएं हैं।

विवेचन— इन चौदह मार्गणाओं से मोक्ष-तत्त्व की विचारणा इस प्रकार करनी चाहिए—

१. गति— चार गतियों में से मोक्ष में ले जाने वाली गति कौन सी है? मनुष्य गति।

२. इन्द्रिय— कितनी इन्द्रियों वाले जीव मोक्ष जा सकते हैं? पञ्चेन्द्रिय जीव ही मोक्ष जा सकते हैं।

३. काय— षट्जीवनिकायों में कौनसी काया मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है? त्रसकाय।

४. योग— किस योग से जीव मोक्ष जाते हैं? किसी भी योग से नहीं, अपितु अयोगी होकर ही जीव मोक्ष जाते हैं।

५. वेद— मोक्ष अवस्था में कौन सा वेद (वासना-भाव) रहता है? मोक्ष अवस्था में कोई भी वेद (वासना-भाव) नहीं होता है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक सम्बन्धी वासना से रहित होकर ही मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

६. कषाय— मोक्ष में जाने वाले को कितने कषाय रहते हैं? मुक्तजीव में कोई भी कषाय नहीं रहते।

७. ज्ञान— मोक्ष में कौनसा ज्ञान है? मोक्ष में मात्र केवलज्ञान (अनन्त-ज्ञान) होता है।

८. संयम— किस प्रकार के संयम या चारित्र से युक्त होकर जीव मोक्ष जाते हैं? यथाख्यात-चारित्र से युक्त होकर ही जीव मोक्ष जाते हैं।

९. दर्शन— मोक्ष में कौन सा दर्शन होता है? मोक्ष में मात्र केवलदर्शन है।

१०. लेश्या— मोक्ष में कौनसी लेश्या होती है? मोक्ष में कोई भी लेश्या नहीं होती।

११. भव्य— मोक्ष में भव्य जीव जाते हैं या अभव्य? मात्र भव्य जीव ही मोक्ष जाते हैं।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. सम्यक्त्व— मोक्ष में कौन सा सम्यक्त्व होता है? मोक्ष में क्षायिक-सम्यक्त्व होता है।

१३. संज्ञा— मोक्ष संज्ञी (विवेकशील) जीव को प्राप्त होता है या असंज्ञी जीव को? मोक्ष मात्र संज्ञी जीव को ही प्राप्त होता है।

१४. आहार— मोक्ष में जीव आहारक है या अनाहारक? मोक्ष में जीव अनाहारक होता है।

इसी प्रकार अन्य तत्त्वों पर भी इन मार्गणाओं की अपेक्षाओं से विवेचन किया जा सकता है।

पुनः यह विवेचन भी गाथा पाँच में बताये गये आठ अनुयोगद्वारों में से मात्र प्रथम सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार के आधार पर किया गया है। अन्य अनुयोगद्वारों के आधार पर भी इस सम्बन्ध में विवेचन सम्भव है।

जीव के चौदह भेद

आहारभव्वजोगाइएहिं एगुत्तरा बहू भेया।
एत्तो उ चउदसण्हं इहाणुगमणं करिस्सामि।।७।।

गाथार्थ— आहार, भव्यत्व, योग आदि की अपेक्षा से जीवों के एक से लेकर क्रमशः दो, तीन, चार आदि अनेक भेद होते हैं, किन्तु यहाँ पर इन अनेक भेदों में से मात्र चौदह भेदों का ही वर्णन किया जा रहा है।

विवेचन—

(१) उपयोग अर्थात् चेतना लक्षण की अपेक्षा से सभी जीव **एक** प्रकार के है।

(२) आहारक-अनाहारक, सशरीरी-अशरीरी, संसारी-मुक्त, त्रस-स्थावर आदि द्विविध अपेक्षाओ से जीवों के **दो** प्रकार होते हैं।

(३) भव्य, अभव्य एवं भव्य-अभव्य-व्यतिरिक्त अर्थात् सिद्ध अथवा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रिय इस प्रकार से जीवों के **तीन** प्रकार भी होते हैं।

(४) मनोयोग, वचनयोग, काययोग तथा अयोग की अपेक्षा से अथवा स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा अवेदी की अपेक्षा से जीव **चार** प्रकार के होते हैं।

(५) क्रोध कषाय, मान कषाय, माया कषाय, लोभ कषाय एवं अकषाय की अपेक्षा से अथवा मनुष्यगति, देवगति, नरकगति, तिर्यञ्चगति एवं सिद्धगति की अपेक्षा से जीव **पांच** प्रकार के होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६) मिथ्यात्व, सास्वादन, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं मिश्र भाव की अपेक्षा से अथवा पांच इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा से अथवा षट्जीव-निकाय की अपेक्षा से जीव **छः** प्रकार के होते हैं।

(७) छः लेश्या एवं अलेश्या की अपेक्षा से जीव **सात** प्रकार के हैं।

(८) सात समुद्घात तथा असमुद्घात की अपेक्षा से जीव **आठ** प्रकार के हैं।

(९) शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, संवृत, विवृत्त तथा संवृतविवृत्त इन नौ योनियों की अपेक्षा से जीव **नौ** प्रकार के होते हैं।

(१०) पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय की अपेक्षा से जीवों के **दस** प्रकार होते हैं।

(११) पांच प्रकार के पर्याप्त, पांच प्रकार के अपर्याप्त (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय) एवं पर्याप्ति रहित इस अपेक्षा से जीव के **ग्यारह** प्रकार भी होते हैं।

(१२) पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार दर्शन इन बारह उपयोगों की अपेक्षा से जीव **बारह** प्रकार के होते हैं।

(१३) षट्जीवनिकाय के पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बारह भेद तथा तेरहवाँ अकाय (सिद्ध) इस तरह जीवों के **तेरह** भेद होते हैं।

(१४) चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा से जीवों के **चौदह** प्रकार होते हैं।

साधना की अपेक्षा से अधिक उपयोगी होने के कारण प्रस्तुत कृति में इन चौदह भेदों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अन्य-अन्य अपेक्षाओं से जीवों के इससे अधिक भेद भी किये जा सकते हैं।

पंचसंग्रह (१/३३) में जीवस्थानों को जीवसमास के नाम से अभिहित करते हुए जीवों के क्रमशः चौदह, इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तालीस, चौपन तथा सत्तावन भेद भी बताये गये हैं।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग २, पृष्ठ ३४१) में— जीवसमासों के अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं— वे भेद क्रमशः इस प्रकार हैं— चौदह, चौबीस, तीस, बत्तीस, चौतीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चौपन, सत्तावन, पचासी, अट्ठानवे तथा चार सौ छः।

जीवविचारप्रकरण में जीव के पांच सौ तिरसठ (५६३) भेद भी बताये गये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थान

मिच्छा १ ऽऽसायण २ मिस्सा ३ अविरयसम्मा ४ य देसविरया ५ य।
विरया पमत्त ६ इयरे ७ अपुव्व ८ अणियट्टि ९ सुहुमा १० य ।।८।।

उवसंत ११ खीणमोहा १२ सजोगिकेवलिजिणो १२ अजोगी १४ य।
चोद्दस जीवसमासा कमेण एएऽणुगंतव्वा।।९।।

गाथार्थ— १. मिथ्यात्व, २. सासादन (सास्वादन), ३. मिश्र (सम्यक्-मिथ्या), ४. अविरत— सम्यक्-दृष्टि, ५. देशविरत, ६. सर्वविरत प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगीकेवली तथा १४ अयोगीकेवली। इन चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) को क्रमशः जानना चाहिए।

विवेचन

गुणस्थान का सामान्य लक्षण— दर्शनमोहनीयादि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव-लक्षित किये जाते हैं उन्हें सर्वदर्शियों ने "गुणस्थान" संज्ञा से निर्दिष्ट किया है। —(*पंचसंग्रह* १/३)

मोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय के कारण और मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अंतरंग परिणामों (भावों) में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है। परिणाम (भाव) यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु सर्वाधिक मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे ऊपर जघन्य वीतराग-परिणाम से लेकर उत्कृष्ट वीतराग-परिणाम तक की अनन्त वृद्धियों के क्रम को वक्तव्य बनाने के लिए जीवों को जिन चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है, वे चौदह श्रेणियाँ गुणस्थान कहलाती हैं।

(***जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश,*** *भाग* २, पृष्ठ २४५)

आत्मशक्तियों अथवा गुणों के क्रमिक विकास को गुणस्थान कहते हैं। आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। यह अवस्था सबसे प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र आदि गुणों के विकास द्वारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता है। धीरे-धीरे उन आध्यात्मिक गुणों का विकास करता हुआ विकास की चरम सीमा तक पहुँच जाता है। विकासक्रम के समय होने वाली आत्मा की इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को चौदह भागों में विभाजित कर इन्हें चौदह गुणस्थानों के नाम से जाना जाता है।

(**आध्यात्मिक विकासक्रम**— *पं. सुखलाल जी*)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समवायांग के १४वें समवाय के सूत्र ५० में कर्मों की विशुद्धि की अपेक्षा से चौदह जीवस्थान (गुणस्थान) कहे गये हैं।

जैन विचारधारा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासक्रम की चौदह अवस्थाएँ मानी गई हैं, जिन्हें चौदह गुणस्थानों के नाम से जाना जाता है। 'गुण' शब्द प्राचीन काल में धागे के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता था। धागे का कार्य है बांधना। जीव के बंधन से विमुक्ति के बीच की जो चौदह अवस्थाएँ हैं, वे ही गुणस्थान हैं। इन चौदह अवस्थाओं को प्राप्त जीव संसार में रहता है और इन अवस्थाओं को पार करने वाला जीव मुक्त या सिद्ध कहलाता है।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान— यह जीव अनादि काल से मिथ्याभावों, मिथ्या आकांक्षाओं एवं मिथ्या आग्रहों से जकड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में वह सत्यानुभूति से वंचित रहता है। उसकी दृष्टि मात्र बहिर्जगत् की ओर रहती है। यथार्थ बोध के अभाव में वह सतत बाह्य सुखों की प्राप्ति की कामना करता है। इस गुणस्थान में रहा जीव दिग्भ्रमित होकर इधर-उधर भटकता रहता है।

इस गुणस्थान में जीव की जीवादितत्त्वों के प्रति सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। ऐसा जीव सांसारिक विषयों का ज्ञाता होने पर भी आत्मस्वरूप का ज्ञाता न होने से अज्ञानी कहा जाता है तथा मोह की प्रबलता के कारण उसमें अपने आध्यात्मिक विकास की इच्छा और प्रयत्नों का अभाव होता है। ऐसी निम्नतम स्थिति वाले जीव मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती कहे जाते हैं।

२. सासादन या सास्वादन गुणस्थान— स अर्थात् सहित तथा आस्वादन अर्थात् अनुभूति। अत: जिन जीवों में सम्यक् दर्शन का आस्वादन शेष रहता है, वे सास्वादन गुणस्थानवर्ती कहे जाते हैं। विकासक्रम में इसे द्वितीय स्थान प्राप्त है फिर भी यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का ही द्योतक है। प्रथम गुणस्थानवर्ती कोई भी आत्मा इसमें नहीं जाती वरन् जब कोई आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से पतित होती है, तब वह खायी हुई खीर के वमन के समय होने वाले आस्वादन तुल्य एक समय से लेकर उत्कृष्ट छ: आवलिका काल तक **वमन किये गये** सम्यक्त्व के आस्वादन से युक्त रह सकता है। जीव की इस पतनोन्मुख दशा का नाम सास्वादन गुणस्थान है। कुछ आचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि "जीव सम्यक्त्व की आसादना (आसातना/विराधना) करके गिरता है इसलिए इसे सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। सम्यक्त्वरूपी पर्वत के शिखर से च्युत, मिथ्यात्व रूपी भूमि के समभिमुख और सम्यक्त्व के नाश को प्राप्त जीव को सासादन नाम वाला जानना चाहिए।" (पञ्चसंग्रह, दिगम्बर, १/७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. मिश्र गुणस्थान (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान)— व्यामिश्र अर्थात् अच्छी तरह से मिश्रित दही तथा गुड़ के समान ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रित भाव को सम्यक्-मिथ्यात्व जानना चाहिए। यह गुणस्थान आत्मा की मिश्रित अवस्था का परिचायक है। इस अवस्था में जीव सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व के मध्य झूलता रहता है। उसमें सद्-असद् का संघर्ष चलता रहता है। यदि जीव का सद् पक्ष प्रबल हो जाता है तो वह सम्यक्-दर्शन प्राप्त कर लेता है और यदि असद् पक्ष प्रबल हो जाता है तो वह मिथ्यात्व में चला जाता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अड़तालीस मिनिट की समयावधि को एक मुहूर्त कहा जाता है। अन्तर्मुहूर्त की समयावधि कम से कम एक समय तथा अधिक से अधिक एक समय कम अड़तालीस मिनट होती है। सामान्यतया यह गुणस्थान पतनोन्मुख जीवों को होता है किन्तु जिन जीवों ने एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, वे सम्यक्त्व के वमन (त्याग) के पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त कर, पुन: विकासक्रम में इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं।

४. अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान —दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके जीव सम्यक्-दृष्टि बनता है। इस जीव को जिनोक्त तत्त्व पर श्रद्धा तो होती है परन्तु वह पाँच इन्द्रियों के विषयों के सेवन से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं हो पाता। उसका ज्ञानात्मकंपक्ष या मनोभूमिका सम्यक् होने पर भी आचरणात्मक पक्ष मिथ्या ही होता है। वह सत्य को समझते हुए भी असत्य को छोड़ नहीं पाता। वे उस अपंग व्यक्ति की भाँति होते हैं, जो सत्यमार्ग को देखते हुए भी उस पर चल नहीं पाते।

जैन दर्शन के अनुसार अविरत सम्यक्-दृष्टि जीव जब निम्न सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय कर लेता है तब वह सम्यक्-दृष्टि कहलाता है— १. अनन्तानुबंधी क्रोध, २. अनन्तानुबंधी मान, ३. अनन्तानुबंधी माया, ४. अनन्तानुबंधी लोभ, ५. मिथ्यात्वमोह, ६. मिश्रमोह तथा ७. सम्यक्त्वमोह। जब साधक इन सातों प्रकृतियों को पूर्णत: नष्ट कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व और जब सातों प्रकृतियों को दबा देता है तब औपशमिक सम्यक्त्व तथा जब सातों प्रकृतियों या उनके अंशों में से कुछ को दबा देता है तथा कुछ को नष्ट कर देता है, तब वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व अनन्त काल तक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अधिकतम छियासठ सागरोपम तक तथा औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है।

व्रत ग्रहण न कर पाने के कारण वह अविरत तथा सम्यक्-दर्शन प्राप्त कर लेने के कारण सम्यक्-दृष्टि, इस प्रकार अविरत सम्यक्-दृष्टि कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह गुणस्थान चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव प्राप्त कर सकते हैं।

५. देशविरत गुणस्थान— जब सम्यक्-दृष्टि जीव अप्रत्याख्यानी (अनियंत्रणीय) कषायचतुष्क का उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है तब वह त्रस जीवों की हिंसा आदि स्थूल पापों से विरत होता है किन्तु स्थावर जीवों की हिंसादि सूक्ष्म पापों से अविरत ही रहता है।

विकास क्रम की यह पांचवीं श्रेणी नैतिक आचरण की प्रथम सीढ़ी है जहाँ से साधक नैतिकता के पथ पर चलना प्रारम्भ करता है। चतुर्थ गुणस्थान में वह उचित-अनुचित को जानते हुए भी सम्यक्-चारित्र के मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो पाता, जबकि पंचम गुणस्थान में यथाशक्ति सम्यक् आचरण का प्रयास प्रारम्भ कर देता है।

देशविरति का अर्थ है वासनामय जीवन से आंशिक रूप में निवृत्ति। इसमें वह यथाशक्ति अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि अणुव्रतों को ग्रहण करता है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान— जब उक्त सम्यक्-दृष्टि जीव के प्रत्याख्यानीय (नियंत्रणीय) कषायचतुष्क का उपशम या क्षयोपशम हो जाता है तब वह स्थूल एवं सूक्ष्म सभी हिंसादि पापों का त्याग कर महाव्रतों को अर्थात् सकल संयम को धारण करता है। फिर भी संज्वलन कषाय और नोकषाय का उदय होने से प्रमाद तो बना ही रहता है। ऐसे साधकों में क्रोधादि कषायों की बाह्य अभिव्यक्ति का तो अभाव हो जाता है, यद्यपि आन्तरिक रूप में एवं बीज रूप में वे बनी रहती हैं अतः यदा-कदा क्रोधादि कषायवृत्तियाँ उनके अन्तर मानस को झकोरती रहती हैं। ऐसी दशा में भी साधक अशुभाचरण और अशुभ मनोवृत्तियों पर पूर्णतः विजय प्राप्त करने के लिए दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ने का प्रयास करता है। जब-जब वह कषाय आदि प्रमादों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब-तब वह आगे के गुणस्थान (अप्रमत्तसंयत गुणस्थान) में चला जाता है और जब-जब कषाय आदि प्रमाद उस पर हावी हो जाते हैं तब-तब वह पुनः लौट कर इसी वर्ग में आ जाता है। वस्तुतः यह उन साधकों का विश्रान्ति स्थल है जो साधना के पथ पर प्रगति तो करना चाहते हैं लेकिन यथेष्ट शक्ति के अभाव में आगे नहीं बढ़ पाते। अतः इस वर्ग में रहकर विश्राम करते हुए कषायरूपी शत्रुओं को समूल नष्ट करने हेतु शक्ति संचय करते हैं।

इस गुणस्थान में बाह्य आचरण की शुद्धि के साथ-साथ भावशुद्धि का प्रयास भी चलता रहता है।

इस स्थान में आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना और तदनुरूप प्रवृत्ति भी होती है। यहाँ आत्मा पुद्गलासक्ति या कर्तृत्व भाव का त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर विशुद्ध ज्ञाता एवं द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थित होने का प्रयास तो करता है लेकिन देहभाव या प्रमाद उसमें अवरोध उपस्थित करता है। अत: इस अवस्था में पूर्ण आत्म-जागृति संभव नहीं होती। इसलिए साधक को प्रमाद के कारणों का उन्मूलन या उपशमन करना होता है और जब वह उसमें सफल हो जाता है तब वह विकास की अग्रिम श्रेणी में प्रविष्ट हो जाता है।

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—जो व्यक्त और अव्यक्त रूप से समस्त प्रकार के प्रमाद से रहित है, साधना के क्षेत्र में महाव्रत तथा मूलगुण और उत्तर गुणों से मण्डित है, स्व-पर के ज्ञान से युक्त है जो कषायों को दबाते या उपशम करते हुए या क्षय करते हुए ध्यान में लीन रहता है वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती होता है। विशेष यहकि पांचवें गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान मात्र मनुष्यों को ही होते हैं और सातवें से ऊपर के सभी गुणस्थान उत्तमसंघनन के धारक तथा मोक्षगामी जीवों को ही होते हैं।

सातवें गुणस्थान से ऊपर दो श्रेणियाँ होती हैं— १. उपशमश्रेणी एवं २. क्षपकश्रेणी, सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सभी गुणस्थानों का काल अन्तर्मुहूर्त है।

आत्म-साधना में सजग वे साधक ही इस वर्ग में आते हैं, जो देह में रहते हुए भी देहातीत भाव से युक्त हो आत्मस्वरूप में रमण करते हैं। फिर भी दैहिक उपाधियाँ विचलन तो पैदा करती ही हैं, अत: इस गुणस्थान में साधक का निवास मात्र अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। इस गुणस्थान की उपमा घड़ी के पैण्डुलम से या झूले से दी गयी है। संयम या पंचमहाव्रत स्वीकारने के बाद जो आत्मा सतत जागरूक बन आत्मलीन बनता है वह आत्मभावों की निर्मलता के कारण अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त करता है परन्तु ऐसे साधक को भी संज्वलन कषाय के उदय से बीच-बीच में बाधाएँ आती हैं। बाधा के काल को प्रमत्तसंयत तथा आत्मरमणता के काल को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा गया है। जैसे उछाले जाने पर गेंद एक बार ऊपर जाती है पर पुन: नीचे आ जाती है वही स्थिति सातवें-छठे गुणस्थानवर्ती साधकों की है।

गुणस्थान आरोहण क्रम में भी तीर्थंकर आदि उच्च साधक दीक्षा के समय पहले सातवां गुणस्थान फिर छठा गुणस्थान प्राप्त करते हैं।

८. अपूर्वकरण गुणस्थान— इस गुणस्थानवर्ती जीवों के आध्यात्मिक परिणामों में भिन्नता होती है एवं संज्वलन कषायों का उदय बना रहता है अत: इसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं यहाँ निवृत्ति का अर्थ मनोभावों का वैविध्य है। इस गुणस्थान में साधक पूर्व में अप्राप्त ऐसे अपूर्व परिणामों (मनोभावों) वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

होता है, अतः इसे अपूर्वकरण भी कहते हैं। इन अपूर्व परिणामों में स्थित जीव मोहकर्म का क्षय या उपशम करने को उद्यत होता है। इस अवस्था में साधक अधिकांश वासनाओं से मुक्त होता है। यद्यपि इस नवें गुणस्थान में अवशिष्ट वासनारूपी शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त कर ली जाती है फिर भी उनका राजा सूक्ष्म लोभ छद्म रूप से बच निकलता है। अग्रिम दसवें गुणस्थान में उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। चूँकि वह विजय यात्रा दो रूप में चलती है, एक तो शत्रु सेना को नष्ट करते हुए आगे बढ़ता है तथा दूसरा उसे उपशमित करते हुए, दबाते हुए आगे बढ़ता है। इन्हें क्रमशः क्षायिक एवं औपशमिक श्रेणी कहते हैं। उपशमित विजय यात्रा विशेष लाभकर नहीं होती है, क्योंकि समय पाकर वासनारूपी शत्रु-सैनिक पुनः एकत्रित होकर उस विजेता आत्मा पर आक्रमण कर उसे पराजित कर देते हैं। यह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्त मोह की अवस्था है जहाँ से साधक पतित हो जाता है लेकिन जो विजेता शत्रु सेना को निर्मूल करता हुआ आगे बढ़ता है वह अन्त में मोह रूपी शत्रु पर पूर्ण विजय को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है।

चारित्रमोह के उपशमन या क्षय में उद्यत, अपूर्वकरण से युक्त साधक इस गुणस्थान में अपूर्व प्रक्रियाओं से जुड़ता है— इन प्रक्रियाओं को जैन पारिभाषिक शब्दों में— १. स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुण-संक्रमण और ५. अपूर्वस्थितिबंध कहा गया है।

बंधनों से बंधा हुआ कोई भी व्यक्ति बंधनों के शिथिल या जीर्ण-शीर्ण होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है। साथ ही पूर्व में वह जिन बंधनों को स्वशक्ति से तोड़ने में असमर्थ था अब वह अपनी शक्ति से उन बंधनों को तोड़ने की कोशिश करता है और बंधन-मुक्ति की निकटता से प्रसन्न होता है। ठीक इसी प्रकार अधिकांश बंधनों के नाश होने पर भावों की विशुद्धि रूप अपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है तथा शेष कर्मों को नष्ट करने का प्रयास करता है और इस प्रयास में स्थितिघात (कर्मों की स्थिति में कमी) रसघात (कर्मों की तीव्रता में कमी), गुण-श्रेणी (कर्म दलिकों का अपने ढंग से आयोजन), गुण-संक्रमण (कर्मप्रकृतियों का अपने ढंग से संयोजन) और अपूर्व स्थितिबंध (अल्पतम स्थिति का बंध) आदि की प्रक्रिया करता है। इस अवस्था में साधक मुक्ति को अपने अधिकार क्षेत्र की वस्तु मान लेता है और उसकी प्राप्ति का प्रयास करता है।

९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान— इस गुणस्थान में अवस्थित जीवों के परिणामों की अपेक्षा परस्पर निवृत्ति (भेद या भिन्नता) न होने से इसे अनिवृत्ति करण गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में जीवों का परिणाम प्रति समय एक सा होता है। यहाँ साधक सूक्ष्म लोभ को छोड़ चारित्रमोह की शेष सभी कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृतियों को अतिविमल ध्यान रूप अग्नि से जला डालते हैं या फिर उन्हें उपशमित कर देते हैं।साधक के कामवासनात्मक भाव जिन्हें जैन परिभाषा में 'वेद' कहा जाता है, उनका भी यहाँ उन्मूलन हो जाता है।

१०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान— जिस प्रकार कोसुंभ भीतर से अत्यल्प लालिमा वाला होता है उसी प्रकार सूक्ष्मराग सहित जीव को सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानवर्ती जानना चाहिए। इसमें उपशम एवं क्षायिक दोनों ही श्रेणी वाले जीव होते हैं। उपशम श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म लोभ का उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला उसका क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है। यहाँ सम्पराय से आशय कषाय से है। डॉ०नथमल टाटिया के शब्दों में आध्यात्मिक विकास की उच्चता में रहे हुए इस सूक्ष्म लोभ की व्याख्या अवचेतन रूप में शरीर के प्रति रहे हुए राग के अर्थ में की जा सकती है।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान— कतकफल सहित जल अथवा शरद्काल में सरोवर में मिट्टी आदि के तली में बैठ जाने के कारण जिस प्रकार पानी निर्मल प्रतीत होता है उसी प्रकार जिसका सम्पूर्ण मोहकर्म सर्वथा उपशान्त हो गया है ऐसा जीव अत्यन्त निर्मल परिणाम वाला होता है।

इस गुणस्थान का काल अत्यल्प अर्थात् अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके समाप्त होते ही वह नीचे गिरता हुआ सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है यदि उसका संसार परिभ्रमण शेष है तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी पहुँच जाता है। ऐसी आत्मा पुनः प्रयास से प्रगति कर आगे बढ़ सकती है। उपशमन या दमन के द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्ष की यह चरम सीमा है। परन्तु उपशमन या दमन साधना का सच्चा मार्ग नहीं है, क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं होता। दुष्ट प्रवृत्तियों को दबा देने या उपशमित कर देने से वे निर्मूल नहीं होतीं अपितु द्विगुणित वेग से विस्फोट करती हैं। अतः यहाँ से साधक का पतन अवश्यम्भावी है, निश्चित है। इसकी उपमा राख में दबी हुई अग्नि अथवा पानी में नीचे बैठी हुई मिट्टी के समान है जो कभी भी समय पाकर प्रकट हो सकती है। गीता कहती है कि दमन में विषयों का निवर्तन तो हो जाता है परन्तु वृत्तियों का निवर्तन नहीं होता। वृत्तियों के निर्मूल न होने से कुसंस्कारों के पुनः प्रकट होने की सम्भावना बनी रहती है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान—मोहकर्म के सम्पूर्णतः क्षय हो जाने से जिसका चित्त स्फटिक के भाजन में रखे हुए स्वच्छ जल के समान निर्मल हो गया है, ऐसे वीतराग साधक को क्षीण-कषायी कहा गया है। जिस प्रकार निर्मली (कतकफल), फिटकरी आदि से स्वच्छ किये हुए जल को स्फटिक के भाजन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छानकर, निकाल कर रखने से उसके पुनः दूषित होने का भय नहीं रहता है अथवा जिस प्रकार अग्नि को जल से पूर्णतः बुझा देने के बाद उसके पुनः प्रकटन का कोई भय नहीं रहता ठीक उसी प्रकार इस गुणस्थान में पहुँचे जीव को किसी प्रकार के पतन का भय नहीं रहता है।

यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। यहाँ पहुँचने पर साधक की साधना को विराम मिल जाता है। इस गुणस्थान में व्यक्ति सहज़ रूप से ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ तथा अन्तराय की पाँच— कुल उन्नीस कर्म प्रकृतियों को क्षय करके केवलदर्शन और केवलज्ञान को प्राप्त कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है।

१३. सयोगीकेवली गुणस्थान— केवलज्ञान रूपी दिवाकर (सूर्य) की किरणों के समूह से जिनका अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, जिन्होंने नौ केवललब्धियों के उद्गम से "परमात्मा" रूपी संज्ञा को प्राप्त कर लिया है ऐसे योग युक्त भगवान को सयोगी-जिन कहा गया है। केवली को राग-द्वेष नहीं होता अतः उनके नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं होता। मात्र योग के कारण उन्हें ईर्यापथिक आस्रव और बन्ध होता है, जो तत्काल ही निर्जरित होता रहता है।

जिस प्रकार सूखी भित्ति पर आकर लगी हुई बालू तत्क्षण झड़ जाती है, उसी प्रकार योग के सद्भाव से आये हुए कर्म-परमाणु भी कषाय के अभाव में तत्काल झड़ जाते हैं। ये सयोगी-जिन धर्मदेशना देते हुए जन-कल्याण करते हैं।

इस गुणस्थान वाले व्यक्ति को कृतकृत्य हो जाने से साधक नहीं कहा जा सकता, किन्तु चार घाती कर्म क्षय हो जाने पर भी चार अघाती कर्म शेष रहने से उन्हें सिद्ध भी नहीं कहा जा सकता है। यहाँ बंधन के पाँच कारणों में से १. मिथ्यात्व २. अविरति, ३. प्रमाद तथा ४. कषाय इन चार के समाप्त होने पर भी मन-वचन और काय की प्रवृत्तिरूप पाँचवा कारण योग शेष रहता है। इसीलिए इन्हें सयोगी-जिन, अर्हत्, सर्वज्ञ, वीतराग एवं केवली कहा जाता है। इस अवस्था की तुलना वेदान्त की जीवन्मुक्ति या सदेहमुक्ति की अवस्था से की जा सकती है।

१४. अयोगी केवली— जो जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए हैं अर्थात् शैल (पर्वत) के समान स्थिर योग वाले हैं, मन, वचन एवं काय की प्रवृत्तियों— योगों के निरुद्ध कर देने से जिनका आस्रव सर्वथा रुक गया है, जो कर्मरज से विप्रमुक्त हैं और योग से रहित हो चुके हैं ऐसे भगवान को अयोगी केवली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में लगने वाले काल के समान होता है। प्रारब्ध-कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं, इस कारण जब जीवन का अन्तिम समय निकट होता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तो आवश्यकता पड़ने पर केवली पहले समुद्घात करते हैं फिर शैलेशीकरण कर योग निरोधकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यही सर्वांगीण पूर्णावस्था है, जिसे मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, सिद्धि, शिवपद और परमात्मावस्था कहा गया है। अष्ट कर्मों के नष्ट होने से जीव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, वीतरागता, अनन्तवीर्य अव्याबाधसुख, अक्षयस्थिति, अमूर्तता, अगुरुलघुता आदि आठ गुणों को प्राप्त करता है।[१]

गुणस्थानातीत सिद्धों का स्वरूप—जो अष्टविध कर्मों से रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, क्षायिकसम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

सम्यग्दृष्टि के लिए जो असंयत विशेषण दिया गया है वह अन्तदीपक है। वह अपने से नीचे के सभी गुणस्थानों के असंयतपने का निरूपण करता है तथा जो सम्यग्दृष्टि शब्द है वह ऊपर के समस्त गुणस्थानों में पाया जाता है।

प्रमत्त शब्द भी अन्तदीपक है इसलिए वह छठे से पूर्व सभी गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व को सूचित करता है अर्थात् छठे गुणस्थान तक जीव प्रमत्त है उसके ऊपर सातवें गुणस्थान से सब अप्रमत्त हैं।

बादर पद भी अन्तदीपक है वह पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानों के बादर होने का निर्देश करता है। छद्मस्थ पद को भी इसी प्रकार से जानना चाहिए। सयोगी पद भी अपने से नीचे के सभी गुणस्थानों को सयोगी प्रतिपादित करता है।

अयोगी के भेद

दुविहा होंति अजोगी सभवा अभवा निरुद्धजोगी य ।
इह सभवा अभवा उण सिद्धा जे सव्वभवमुक्का ।।१०।।

गाथार्थ—जिन्होंने अपने योगों को निरुद्ध कर लिया ऐसे अयोगी केवली दो प्रकार के होते हैं— १. सभव अयोगी तथा २. अभव अयोगी। इसमें सभव अयोगी सिद्धत्व से कुछ न्यून होते हैं क्योंकि योग निरोध कर लेने पर भी अभी शरीर युक्त होने से संसार में हैं। जो सभी प्रकार से भव (संसार) से मुक्त हैं वे अभवसिद्ध होते हैं।

---

१. प्रस्तुत विवेचन 'पञ्चसंग्रह' और डॉ॰ सागरमल जैन के ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' के आधार पर किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में अयोगी के दो प्रकर बताये गये हैं— १. सशरीरी (सभव) २. अशरीरी (अभव)। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव सशरीरी अयोगी होते हैं। वे देह त्यागकर अभी सिद्ध नहीं बने हैं। उन्हें सिद्ध बनने में अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना काल शेष रहता है। योग निरोध कर लेने पर भी उन्हें सिद्ध से कुछ कम योग्यता वाला माना गया है।

जिन्होंने शरीर का त्याग कर अष्टकर्म को नष्ट कर दिया है तथा जो सिद्ध-शिला पर पहुँच गये हैं ऐसे अयोगी सिद्ध को प्रस्तुत गाथा में अभव-अयोगी संज्ञा से अभिहित किया गया है। अत: यहाँ पर निरुद्ध योगी के भी दो भेद सभव अयोगी तथा अभव अयोगी के रूप में बताये गये हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्पदप्ररूपणा-द्वार

१. गति मार्गणा

निरयगई तिरि मणुया देवगई चेव होइ सिद्धि गई ।

नेरइया उण नेया सत्तविहा पुढविभेएण।।११।।

गाथार्थ— १. नरकगति, २. तिर्यञ्चगति, ३. मनुष्यगति, ४. देवगति तथा ५. सिद्धगति— ऐसी पाँच गतियाँ होती हैं। पृथ्वियों (नरकों) के भेद से नरक गति भी सात प्रकार की है।

विवेचन— सामान्यतः गतियाँ चार ही मानी जाती हैं किन्तु यहाँ सिद्धगति को सम्मिलित करके पाँच गतियाँ बताई गई हैं। संसारी जीवों की अपेक्षा से तो गतियाँ चार ही हैं, पाँचवीं गति के अधिकारी तो मात्र सिद्ध हैं।

नरक गति—

घम्मा वंसा सेला होइ तहा अंजणा य रिट्ठाय ।
मघवत्ति माघवत्ति य पुढवीणं नामधेयाइं।।१२।।

रयणप्पभा य सक्करबालुयपंकप्पभा य धूमपहा।
होइ तम तम-तमाविय पुढवीणं नामगोत्ताइं ।।१३।।

गाथार्थ— १. घम्मा, २. वंशा, ३. शैला, ४. अञ्जना, ५. रिष्टा, ६. मघवा और ७. माघवती नाम वाली (सात) पृथ्वियाँ (नरक) हैं।

इन पृथ्वियों के १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमःप्रभा, ७. तमस्तमप्रभा— ये सात गोत्र (विशेषता) जानने चाहिए।

विवेचन— रत्नों के प्रकाश को प्रभा कहते हैं। जिस नरक में प्रकाश रत्न के प्रकाश के समान हो उसे रत्नप्रभा नाम दिया गया है। जिसमें शर्करा कणों के समान कान्ति है, उसे शर्कराप्रभा नाम दिया गया है। इसी तरह क्रमशः सभी नरकों के विषय में जानना चाहिए।

तिर्यञ्चगति

तिरियगईया पंचिंदिया य पज्जत्तया तिरिक्खीओ।
तिरियां य अपज्जत्ता मनुया पजत्त इयरे य।।१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ—तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव तिर्यञ्च कहे जाते हैं। इनमें भी संज्ञीपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एवं तिर्यञ्चिणियाँ पर्याप्त तथा अपर्याप्त ऐसे दो प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी पर्याप्त तथा अपर्याप्त ऐसे दो प्रकार के होते हैं।

विवेचन— मनुष्यों के अतिरिक्त एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्राणी तिर्यञ्च कहलाते हैं। इनमें पञ्चेन्द्रियसंज्ञीतिर्यञ्च (पशु-जगत् के) जीवों में तिर्यञ्च तथा तिरियञ्चिनी अर्थात् पुरुष तथा स्त्री का पर्याय भेद होता है।

मनुष्यों में भी मात्र संज्ञीमनुष्यों में स्त्री-पुरुष का भेद होता है, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में नहीं।

मनुष्यगति

ते कम्मभोगभूमिय अंतरदीवा य खित्तपविभत्ता।
सम्मुच्छिमा य गब्भय आरिमिलक्खुत्ति य सभेया।।१५।।

गाथार्थ— ये मनुष्य भी कर्मभूमिज, भोगभूमिज तथा अन्तरद्वीपज के रूप में क्षेत्रों के आधार पर प्रविभक्त किये गये हैं। ये सम्मूर्च्छिम और गर्भज तथा आर्य और म्लेच्छ भेद वाले भी होते हैं।

विवेचन—मनुष्यों का यह त्रिविध विभाजन तीन प्रकार की भूमियों में उत्पन्न होने की अपेक्षा से किया गया है।

१. कर्मभूमि—जहाँ व्यक्तियों को कर्म करने से ही भोग-उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है अर्थात् जहाँ असि, मसि और कृषि से जीवन व्यवहार चलता है, ऐसी कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं— पाँच भरत, पाँच ऐरावत तथा पाँच महाविदेह। इन कर्मभूमियों से जीव मोक्ष-मार्ग की साधना करके मोक्ष जा सकते हैं तथा इन्हीं में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि शलाका पुरुष जन्म लेते हैं। इन भूमियों से पाँचों गतियों में जाना सम्भव है। महाविदेह क्षेत्र सदा कर्मभूमि के रूप में रहता है। शेष भरत, ऐरावत क्षेत्रों में कभी कर्मभूमि होती है और कभी भोगभूमि होतीहै।

२. अकर्मभूमि (भोगभूमि)—भोगभूमि को अकर्मभूमि भी कहा जाता है। जहाँ व्यक्ति बिना कर्म किये ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है, जहाँ असि-मसि-कृषि आदि का व्यवहार नहीं होता तथा मानव कल्पवृक्ष के द्वारा ही अपना जीवनयापन करता है। जहाँ मनुष्य युगल के रूप में जन्म लेता है और साथ ही मरण प्राप्त करता है। ऐसी अकर्मभूमियाँ या भोगभूमियाँ तीस हैं। पाँच हिमवन्त, पाँच हरिवर्ष, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच रम्यक् तथा पाँच हैरण्यवत्। अकर्म भूमि से मरकर मनुष्य देवगति में ही जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेष—भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के प्रथम तीन आरों से कुछ कम तथा उत्सर्पिणी के अन्तिम तीन आरों से कुछ कम समय-अकर्मभूमि के रूप में ही होता है। इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में सर्वप्रथम ऋषभदेव के समय से असि-मसि-कृषि (कर्म) की व्यवस्था प्रारम्भ हुई थी, उससे पूर्व यह क्षेत्र अकर्मभूमि थी।

३. अन्तरद्वीप—ये द्वीप लवण समुद्र के अन्दर होने से अन्तरद्वीप कहलाते हैं। लवण समुद्र में चारों ओर हाथी दाँत तुल्य दो-दो दाढ़ाए हैं। इस प्रकार चार तरफ दो-दो दाढ़ा होने से कुल आठ दाढ़ाएँ होती है। एक-एक दाढ़ा में सात-सात द्वीप होने से छप्पन (८×७=५६) अन्तरद्वीप होते हैं।

गर्भज—स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज कहे जाते हैं।

आर्य—आर्य क्षेत्र अर्थात् जहाँ तीर्थंकर आदि का जन्म होता है और उनके द्वारा धर्म-प्रवर्तन होता है— ऐसे क्षेत्रों को आर्यक्षेत्र कहते हैं ऐसे क्षेत्रों मे जन्म लेने वाले मनुष्य आर्य कहलाते हैं। ये आर्य भी नौ प्रकार के हैं— १. क्षेत्र-आर्य, २. जाति-आर्य, ३. कुल-आर्य, ४. कर्म-आर्य, ५. शिल्प-आर्य, ६. भाषा-आर्य, ७. ज्ञान-आर्य, ८. दर्शन-आर्य और ९. चारित्र-आर्य। आर्य अर्थात् सुसंस्कारित। प्रज्ञापनासूत्र (पृ० १०२) में निम्न २५½ देशों के निवासी "क्षेत्रआर्य" कहे गये हैं—

	देश	राजधानी		देश	राजधानी
१.	मगध	राजगृह	१३.	वत्स	कौशाम्बी
२.	अंग	चम्पा	१४.	शांडिल्य	नंदीपुर
३.	बंग	ताम्रलिप्ति	१५.	मलय	भद्दिलपुर
४.	कलिंग	कंचनपुर	१६.	मत्स्य	वैराट
५.	काशी	वाराणसी	१७.	वरण	आच्छा
६.	कोशल	साकेत-अयोध्या	१८.	दशार्ण	मृत्तिकावती
७.	कुरु	हस्तिनापुर	१९.	चेद्दीदेश	शुलिमति
८.	कुशार्त	शौरीपुर	२०.	सिंधु-सौवीर	वीतभयपत्तन
९.	पंचाल	काम्पिल्यपुर	२१.	शूरसेन	मथुरा
१०.	जांगल	अहिच्छत्रा	२२.	भंग	पावापुरी
११.	सौराष्ट्र	द्वारिका	२३.	परिवर्त	मासापुरी
१२.	विदेह	मिथिला	२४.	कुणाल	श्रावस्ती
२५.	लाढ	कोटिवर्ष			
२५½	केकयार्द्ध	श्वेताम्बिका			

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके अतिरिक्त महाविदेह क्षेत्र में विजयों के मध्य खण्डवर्ती क्षेत्र आर्य देश जानना। (क्षेत्र-आर्य के अतिरिक्त अन्य आर्यों की जानकारी हेतु देखें— प्रज्ञापनासूत्र— प्रश्न १०३ से प्रश्न १३८ तक)

अनार्य या म्लेच्छ— धर्म के स्वरूप को नहीं जानने वाले भक्ष्याभक्ष्य एवं कृत्याकृत्य को नहीं समझने वाले अनार्य या म्लेच्छ कहे जाते हैं। ये म्लेच्छ शक, यवन, शबर, बर्बर, किरात आदि देश में जानना। ये कठोर निर्दयी, धर्मरहित रौद्र परिणामी होते हैं। (विस्तार हेतु देखें— प्रज्ञापनासूत्र -प्रश्न ९८) आर्य-अनार्य का यह भेदमात्र कर्मभूमि में है भोगभूमि में नहीं। अकर्मभूमि के समान ही ५६ द्वीप में रहने वाले मनुष्य भी १० प्रकार के कल्पवृक्षों से ही अपने इष्ट पदार्थों को प्राप्त करते हैं। इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्य वज्रऋषभनाराच सङ्घनन वाले, समचतुस्र संस्थान वाले एवं देवतुल्य लावण्य वाले होते हैं। ये मनुष्य स्वभाव से भद्र, विनयी, प्रशान्त, अल्पकषायी, अल्प इच्छावाले, अल्प ममत्ववाले, वेदनारहित, एक दिन के अन्तर से आहार करने वाले होते हैं तथा एक युगल को जन्म देकर ७९ दिन पालन करके देवलोक को प्राप्त करते हैं।

भोग भूमि में जन्म लेने वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी अक्रूर स्वभाव वाले होते हैं। वे भी मरकर देवलोक में जाते हैं। इन द्वीपों में विकलेन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता है। (विस्तृत विवेचन हेतु देखें- जीवाजीवाभिगमसूत्र)

अकर्मभूमियों व अन्तरद्वीपों का कोष्ठक

स्थान	देहमान	आयुष्य	आहारदिन	आहार परिमाण	पसली	अपत्य पालन
५६ अन्तरद्वीप	८०० धनुष	पल्योपम का असंख्यभाग	एक दिन के अन्तराल से	आंवले के बराबर	६४	७९दिन
हिमवन्त, हिरण्यवंत	१ गाउ	१ पल्योपम	एक दिन के अन्तराल से	आंवले के बराबर	६४	७९दिन
हरिवर्ष, रम्यक् वर्ष	२ गाउ	२ पल्योपम	दो दिन के अन्तराल से	बेर के बराबर	१२८	६४दिन
देवकुरु, उत्तरकुरु	३ गाउ	३ पल्योपम	तीन दिन के अन्तराल से	तुअर के दाने के बराबर	२५६	४९दिन

सम्मूर्च्छिम मनुष्य— प्रज्ञापनासूत्र— प्रश्नसंख्या-९५ में यह पूछा गया है कि— भगवन्। सम्मूर्च्छिम मनुष्य कैसे होते हैं? वे कहाँ उत्पन्न होते हैं? उत्तर में भगवान ने कहा हे गौतम! मनुष्य क्षेत्र के अन्दर, पैंतालीस लाख योजन विस्तृत द्वीप-समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमियों में, तीस अकर्मभूमियों में एवं छप्पन अन्तरद्वीपों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में गर्भज मनुष्य के १. मल (विष्टा) २. पेशाब, ३. कफ, ४. नाक का मैल, ५. वमन (उल्टी), ६. पित्त, ७. मवाद, ८. रक्त ९. शुक्र (वीर्य) १०. सूखे हुए शुक्र के पुद्गल के गीला होने पर, ११. मृत कलेवर १२. स्त्री पुरुष के संभोग, १३. नगर की नालियों तथा १४. समस्त अशुचि स्थानों में स्वतः (बिना गर्भ के) सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य एक साथ असंख्य उत्पन्न होते हैं तथा वैसे ही मर जाते हैं। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त एवं देह अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। ये नियम से असंज्ञी तथा अपर्याप्त ही होते हैं।

देवगति

देवा य भवणवासी वंतरिया जोइसा य वेमाणी ।
कप्पोवगा य नेया गेविज्जाणुत्तरसुराय ।।१६।।

गाथार्थ— भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक देव कल्पोपपन्न हैं। ग्रैवेयक तथा अनुत्तरविमानों के देव कल्पातीत कहे जाते हैं।

विवेचन— इस गाथा में देवों के चार प्रकार बताये गये हैं।

भवनपति— दस प्रकार के भवनपतियों के नाम आगे गाथा में बताये गये हैं। ये देव जम्बूद्वीपवर्ती सुमेरुपर्वत के नीचे उसके दक्षिण और उत्तरभाग में तिरछे अनेक लक्ष योजन तक रहते हैं। असुरकुमार प्रायः आवासों में और कभी भवनों में बसते हैं तथा नागकुमार आदि सब प्रायः भवनों में ही बसते हैं। इनके आवास रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन को छोड़कर बीच में एकलाख अठहत्तर हजार (१,७८,०००) योजन के भाग में सब जगह हैं पर भवन तो रत्नप्रभा के नीचे नब्बे हजार योजन के भाग में ही होते हैं। इनके आवास बड़े मण्डप जैसे तथा भवन नगर के समान होते हैं। भवन बाहर से गोल भीतर से समचतुष्कोण और तल में पुष्करकर्णिका के समान होते हैं। ये देव क्रीड़ा-प्रिय तथा दिखने में मनोहर होते हैं।

व्यन्तर— सभी व्यन्तर देव ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीनों लोकों में विविध गिरि-कन्दराओं, शून्यगृहों, वृक्षों, वापिकाओं तथा वनों के अन्तराल में निवास करते हैं। इसी कारण उन्हें व्यन्तर कहा जाता है। व्यन्तरों के आठ भेद आगे गाथा में बताये गये हैं। सामान्यतः भूत, प्रेत आदि की गणना व्यन्तर जाति के देवों में की जाती है।

ज्योतिष्क— मेरु के समतल भू-भाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर ज्योतिषचक्र का क्षेत्र आरम्भ होता है। आठ सौ योजन की ऊँचाई पर सूर्य के विमान हैं। सूर्य विमान से अस्सी योजन की ऊँचाई पर अर्थात् तल से आठ सौ अस्सी योजन की ऊँचाई पर चन्द्र के विमान हैं। वहाँ से बीस योजन अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तल से नौ सौ योजन की ऊँचाई पर ग्रह, नक्षत्र और तारागण हैं। मनुष्य लोक के ज्योतिष्क सदा मेरु के चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं। मनुष्य लोक में एक सौ बत्तीस सूर्य तथा इतने ही चन्द्र हैं। मनुष्य लोक से बाहर के सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों के विमान स्थिर हैं और संख्या में असंख्यात हैं।

वैमानिक— वैमानिक देवों के दो भेद हैं (अ) कल्पोपपन्न तथा (ब) कल्पातीत। कल्प अर्थात् एक प्रशासनिक व्यवस्था के अधीन रहने वाले कल्पोपपन्न तथा प्रशासनिक व्यवस्था से परे रहने वाले कल्पातीत कहलाते हैं। इन वैमानिक देवों के विमान एक दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित हैं।

सौधर्म से अच्युतकल्प तक के देव कल्पोपपन्न हैं और इनसे ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न देवों में स्वामी-सेवक भाव होता है, किन्तु कल्पातीत में नहीं।

कल्पातीत देव भी दो प्रकार के हैं (अ) ग्रैवेयक तथा (ब) अनुत्तर। जो चौदह रज्जुप्रमाण लोकपुरुष के ग्रीवा प्रदेश में हैं, वे ग्रैवेयक देव हैं। इनकी संख्या नौ है तथा ये देवगति से तो मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं किन्तु कालान्तर में चारों गति के अधिकारी हो सकते है क्योंकि नवग्रैवेयक तक अभव्य जीव भी जा सकते हैं। अभव्य जीव कभी मोक्ष के अधिकारी न होने से वे चारों गतियों में भ्रमण करते रहते हैं। इनसे ऊपर वाले देव अनुत्तरविमानवासी हैं, जिनकी संख्या पाँच है। इनमें सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव एक भवतारी होते हैं तथा शेष चार अनुत्तर विमानवासी देव दो या तीन भव करके नियमतः मोक्ष जाते हैं।

भवनपति देवों के भेद

असुरा नागसुवन्ना दीवोदहिथणियविज्जुदिसिनामा ।
वायग्गिकुमाराविय दसेव भणिया भवणवासी ।।१७।।

गाथार्थ— १. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. सुवर्णकुमार, ४. द्वीपकुमार, ५. उदधिकुमार, ६. स्तनितकुमार, ७. विद्युतकुमार, ८. दिशिकुमार, ९.वायुकुमार और १० अग्निकुमार— ये भवनवासी देवों के दस प्रकार कहे गये हैं।

व्यन्तरों के भेद

किंनरकिंपुरिसमुहोरगा य गंधव्व रक्खसा जक्खा।
भूया य पिसायाविय अट्ठविहा वाणमंतरिया ।।१८।।

गाथार्थ— १. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. महोरग, ४. गन्धर्व, ५. राक्षस, ६. यक्ष, ७. भूत तथा ८. पिशाच— ये वाणव्यन्तर देवों के आठ प्रकार हैं।

विशेष— किन्नर दस प्रकार के, किंपुरुष दस प्रकार के, महोरग दस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के, गन्धर्व बारह प्रकार के, राक्षस सात प्रकार के, यक्ष तेरह प्रकार के, भूत नौ प्रकार के तथा पिशाच पन्द्रह प्रकार के होते हैं।

ज्योतिष्क के भेद

चंदा सूरा य गहा नक्खत्ता तारगा य पंचविहा ।
जोई सिया नरलोए गइरयओ संठिया सेसा ।।१९।।

गाथार्थ— सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे-ये पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में तो गतिशील हैं, किन्तु मनुष्य लोक से आगे सभी सूर्य चन्द्र स्थित हैं।

वैमानिकों के भेद—

सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलंतयया ।
सुक्कसहस्साराणयपाणय तह आरणच्चुयया।।२०।।

हेट्ठिममज्झिमउवरिमगेविज्जा तिण्णि तिण्णि तिण्णेव।
सव्वट्ठविजयविजयंतजयंत अपराजिया अवरे।।२१।।

गाथार्थ— १. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. लान्तक, ७. शुक्र, ८. सहस्रार, ९. आनत, १०. प्राणत, ११. आरण तथा १२. अच्युत— ये बारह प्रकार के वैमानिक कल्पोपपन्न हैं।

अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक एवं ऊर्ध्वग्रैवेयक—इन तीनों स्थानों में (समानान्तर रूप से) तीन-तीन अर्थात् कुल नौ ग्रैवेयक हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध— ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इन ग्रैवेयकों तथा अनुत्तरविमानों के निवासी देव कल्पातीत कहे जाते हैं।

विवेचन— कल्पोपपन्न एवं कल्पातीत की परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र केटीकाकारों ने इस प्रकार से दी है— विमानेषु भवा वैमानिका:। कल्पोपपन्ना इन्द्रादिदशतया कल्पनात् कल्पा: सौधर्मादयोऽच्युतान्ता: तेषूपपन्ना कल्पोपपन्ना:। कल्पानतीता: कल्पातीता: उपरिष्टा: सर्वे ग्रैवेयकविमानपंचकाधिवासिन:। (तत्त्वार्थसूत्र ४/१७-१८ टीका सिद्धसेनगणि)

तत्त्वार्थसूत्र ४/३ की सर्वार्थसिद्धि टीका में पूज्यपाद देवनन्दी कहते हैं— कल्प इस संज्ञा का क्या कारण है? जहाँ इन्द्रादि दस प्रकार के देवों की व्यवस्था होती है वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादि की कल्पना ही कल्प संज्ञा का कारण है।

यद्यपि इन्द्रादिक भेदों की कल्पना भवनवासियों में भी संभव है फिर भी रूढ़ि से कल्प शब्द का व्यवहार वैमानिकों में ही किया जाता है। संक्षेप में जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र की हिन्दी टीका में पं०सुखलाल जी लिखते हैं कि देवों के दो भेद हैं १. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत। कल्प (व्यवस्था) में रहने वाले कल्पोपपन्न और कल्प से ऊपर रहने वाले कल्पातीत हैं।

नवग्रैवेयक— तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (४/१९) में पूज्यपाद देवनन्दी लिखते हैं कि "नवसु ग्रैवेयकेषु" में नव शब्द का कथन अलग से क्यों किया गया है? क्योंकि अनुदिश नामक नौ विमान हैं। इससे नौ अनुदिशा का ग्रहण कर लेना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र (४/२०) की टीका में सिद्धसेनगणि लिखते हैं कि तत् ग्रैवेयकानिनवोपर्युपरि। भाष्य-ग्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेश विनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रीव्या ग्रैवैया ग्रैवेयका इति।

तत्त्वार्थसूत्र की टीका पं०सुखलाल जी (४/२०) लिखते हैं कि कल्पों में ऊपर-ऊपर अनुक्रम से नौ विमान हैं जो लोकपुरुष के ग्रीवा स्थानीय भाग में होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं। सबसे ऊपर स्थित होने के कारण अन्तिम पाँच विमान अनुत्तर विमान कहलाते हैं।

चारगतियों में गुणस्थान—

सुरनारएसु चउरो जीवसमासा उ पंच तिरिएसु ।
मणुयगईए चउदस मिच्छद्दिट्ठी अपज्जत्ता ।।२२।।

गाथार्थ— देव तथा नारक में चार, तिर्यंच में पाँच, मनुष्य में चौदह तथा अपर्याप्त जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि नामक एक जीवसमास (गुणस्थान) होता है।

विवेचन— देव तथा नारकी में विरति संभव न होने से चार गुणस्थान ही होते हैं। तिर्यंच गति में अणुव्रतों की संभावना होने से पाँच गुणस्थान कहे गये हैं। मनुष्य में चौदह गुणस्थान संभव हैं तथा लब्धिअपर्याप्ततिर्यंच तथा लब्धिअपर्याप्तमनुष्य में मात्र प्रथम गुणस्थान ही संभव है।

२ इन्द्रिय मार्गणा

इन्द्रियों के आधार पर जीवों के भेद एवं गुणस्थान—

एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जत्तया अपज्जत्ता ।
बियतियचउरिंदिय दुविहभेय पज्जत्त इयरेय ।।२३।।

पंचिंदिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता ।
पंचिंदिएसु चोद्दस मिच्छद्दिट्ठी भवे सेसा ।।२४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ—एकेन्द्रिय के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त तथा अपर्याप्त— ये ४ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय— इन तीनों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त, ऐसे ६ भेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, ऐसे ४ भेद हैं। इनमें पंचेन्द्रिय जीवों में चौदह गुणस्थान तथा शेष सभी में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हैं।

विवेचन—उपर्युक्त गाथा में जीव के १४ भेद बताये गये हैं। इन्हें इस प्रकार भी बताया जा सकता है— १. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. बादर एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रियी ५. चतुरेन्द्रिय ६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा ७. संज्ञी पंचेन्द्रिय। इन सातों में प्रत्येक के पर्याप्त तथा अपर्याप्त ऐसे दो-दो भेद करने से जीव के १४ भेद होते हैं।

नारक, देव तथा तिर्यंच में पाये जाने वाले गुणस्थानों की चर्चा गतिमार्गणानामक गाथा २२ में की जा चुकी है। इन्द्रियों की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय संज्ञी मनुष्यों में १४ गुणस्थान संभव हैं तथा शेष सभी अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

प्रश्न—यहाँ शंका उपस्थित होती है कि करण अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय में सासादन गुणस्थान है, उसे यहाँ क्यों नहीं लिया गया है?

उत्तर—करण अपर्याप्त को दूसरा गुणस्थान होने की संभावना है पर उसका काल अत्यल्प होने से उसकी यहाँ चर्चा नहीं की। पर्याप्तावस्था में तो सभी असंज्ञीजीव मिथ्यात्व में आ जाते हैं, अतः पंचेन्द्रिय को छोड़ सभी को मिथ्यात्व गुणस्थान कहा गया है।

गाथा २२,२३,२४ में लब्धि एवं करण अपर्याप्त की चर्चा होने से प्रसंगानुसार यहाँ लब्धि और करण-अपर्याप्त तथा पर्याप्त का विवेचन किया जा रहा है। अपर्याप्त जीवों के दो प्रकार हैं १. लब्धि अपर्याप्त और २. करण-अपर्याप्त। इसी प्रकार पर्याप्त जीवों के भी दो प्रकार हैं १. लब्धिपर्याप्त तथा २. करणपर्याप्त।

१. लब्धिअपर्याप्त—अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जो जीव स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों को पूर्णतः प्राप्त किये बिना ही मर जाते हैं, वे लब्धि अपर्याप्त हैं।

२. करणअपर्याप्त—करण अपर्याप्त के विषय में यह बात नहीं है। वे पर्याप्त नामकर्म उदयवाले भी होते हैं अर्थात् चाहे उन्हें अपर्याप्त नामकर्म का उदय हो, चाहे पर्याप्त नामकर्म का—पर जब तक वे अपने करण (प्रयत्न) से शरीर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों को पूर्णतः प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वे करण अपर्याप्त कहे जाते हैं।

३. लब्धिपर्याप्त— जिन्हें पर्याप्त नामकर्म का उदय हो तथा जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, उससे पहले नहीं, उन्हें लब्धि पर्याप्त कहा जाता है।

४. करणपर्याप्त— जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है, परन्तु इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी किसी अपेक्षा से करण अपर्याप्त ही कहा जा सकता है। वह शरीर रूप करण पूर्ण करने से 'करणपर्याप्त' और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से 'करणअपर्याप्त' कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से आहार पर्याप्ति से लेकर मनः पर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर 'करणपर्याप्त' तथा उत्तरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से 'करण-अपर्याप्त' कह सकते हैं। परन्तु जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है तभी उसे 'करण-पर्याप्त' कहा जाता है। (कर्मग्रन्थ ४ गाथा ३ का परिशिष्ट)

पर्याप्ति

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाण भासमणे ।
चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदियवि गलसण्णीणं।। २५।।

गाथार्थ— १. आहार, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. श्वासोच्छ्वास, ५. भाषा और ६. मन ये छः प्रकार की पर्याप्तियाँ हैं। इनमें से चार पर्याप्ति एकेन्द्रिय को, पाँच पर्याप्ति विकलेन्द्रिय को तथा छः पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव को होती है।

विवेचन— पर्याप्ति किसे कहते हैं? पुद्गल को ग्रहण कर उसका तद्रूप परिणमन करना पर्याप्ति है। यह छः प्रकार की है—

१. आहार पर्याप्ति—उत्पत्ति स्थान में ग्रहण किये हुए आहार का रसादि के रूप में परिवर्तित करने वाली शक्ति को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

२. शरीरपर्याप्ति—आहार से रस, खून, मांस, मेद (चर्बी), हड्डी, मज्जा, तथा शुक्र बनाकर शरीर रचना करने वाली शक्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—शरीर रचना के क्रम में इन्द्रियों को बनाने वाली शक्ति इन्द्रियपर्याप्ति कही जाती है।

४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—श्वासोच्छ्वास लेने की क्षमता का विकसित हो जाना श्वासोच् ास पर्याप्तिं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. *भाषापर्याप्ति*— भाषा-योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें भाषा रूप में परिणत करने वाली शक्ति को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

६. *मनःपर्याप्ति*— मनोवर्गणा रूपी पुद्गलों को एकत्रित कर उन्हें मन रूप में परिणत करने वाली शक्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को प्रथम चार, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय जीवों को मंन: पर्याप्ति छोड़कर शेष पाँच तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

३. काय मार्गणा

कायमार्गणा एवं गुणस्थान

पुढविदगअगणिमारुय साहारणकाइया चउद्धा उ ।
पत्तेय तसा दुविहा चोद्दस तस सेसिया मिच्छा ।।२६।।

गाथार्थ— पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजस्काय, वायुकाय तथा साधारण-वनस्पतिकाय के चार-चार प्रकार हैं। प्रत्येक वनस्पति तथा त्रसकाय के दो-दो प्रकार हैं। इनमें से त्रसकाय में चौदह गुणस्थान होते हैं शेष में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

विवेचन— प्रत्येक वनस्पतिकाय को छोड़कर शेष सभी-पांचों कायों के चार-चार भेद हैं— सूक्ष्म, बादर (स्थूल), पर्याप्त तथा अपर्याप्त। प्रत्येक वनस्पतिकाय तथा त्रस के दो भेद हैं— पर्याप्त तथा अपर्याप्त।

त्रस अर्थात् पंचेन्द्रिय जीवों में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं तथा शेष सभी में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

पाँचों ही कायों के दो भेद हैं— सूक्ष्म तथा बादर। बादर वे हैं जो चर्म चक्षुओं से दिखाई देते हैं तथा सूक्ष्म वे हैं जो चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देते, छेदने से छिदते नहीं, भेदने से भिदते नहीं, जलाने से जलते नहीं, ये पाँचों ही सूक्ष्म काय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं अर्थात् ठसाठस भरे हुए हैं। केवली कथन से ही इसे मान्य किया जाता है।

अब पाँचों कायों के भेद बताते हैं—

पृथ्वीकाय के भेद

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे ।
अयतंबतउयसीसय रुप्पसुवण्णे य वइरेय ।।२७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले ।
अब्भपडलऽब्भबालुय बायरकाए मणिविहाणा ।।२८।।

गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
चंदप्पह वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ।।२९।।

गेरुय चंदण वध (प्प) गे भुयमोए तह मसारगल्ले य ।
वण्णाईहिं य भेदा सुहुमाणं नत्थि ते(मे) भेया ।।३०।।

गाथार्थ— पृथ्वीकाय के कंकर, रेत, पत्थर, शिला, नमक, लोहा, ताँबा, सीसा, चाँदी, सोना, हीरा, हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सास (धातु विशेष), रञ्जन, प्रवाल, अभ्रकपरत, अभ्रकबालू, मणि आदि बादर पृथ्वीकाय के प्रकार हैं।

गोमेद, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, चन्द्रप्रभ, वैदूर्य, जलकान्त, सूर्यकान्त— ये सभी रत्नों के भेद हैं।

गेरू, चन्दन, वधक, भुजमोचक, मसारगल्ल तथा इनके वर्णादि के अनेक भेदों के कारण बादर (स्थूल) पृथ्वीकाय के अनेक भेद हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकाय का कोई भेद नहीं है।।२७-३०।।

विवेचन— पृथ्वी ही है काया जिनकी, उसे पृथ्वीकाय कहते हैं। जब तक यह मिट्टी, धातु आदि खदान में रहती है तब तक सजीव होती है, परन्तु खदानादि से निकलने के बाद वे धातु आदि अचित्त/निर्जीव हो जाती है।

धातुओं में सोना, चाँदी, जस्ता, ताँबा, काँसा, लोहा आदि जब तक खदानों में हैं वे सजीव पृथ्वीकाय हैं। रत्नों में माणिक्य, मूँगा, पन्ना, पुखराज, हीरा आदि भी खदानों में होने तक पृथ्वीकाय के अन्तर्गत आते हैं।

उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन (गाथा ७३-७४-७५) में भी पृथ्वीकाय का यथावत् वर्णन है, किन्तु यहाँ "चन्दन" को पृथ्वीकाय का भेद माना गया है। संभवतः सूखे चन्दन वृक्ष की जड़ों को पृथ्वी में से खोदकर निकाले जाने के कारण पृथ्वीकाय माना गया हो अथवा चन्दन के समान सुगंधित मिट्टी का कोई प्रकार हो।

अप्काय के भेद—

ओसा य हिमं महिगा हरतणु सुद्धोदए घणोए य ।
वण्णाईहिं य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया ।।३१।।

गाथार्थ— ओस, हिम, धूँअर का पानी, वनस्पति पर स्थित पानी, शुद्ध पानी, घनोदधि (पत्थर तुल्य जमा हुआ पानी अर्थात् बर्फ)— ये अप्काय के भेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वर्णादि के भेद से अप्काय भी अनेक प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म अप्काय के कोई भेद नहीं होते हैं।

विवेचन— अप् अर्थात् पानी ही काया है जिनकी, ऐसे जीव अप्काय कहे जाते हैं। इनके अनेक भेद बताये गये हैं— जैसे आकाश से गिरने वाला पानी, कूएँ, बावड़ी, तालाब एवं समुद्र का पानी एवं स्त्रोतों का पानी आदि अनेक प्रकार का पानी जानना चाहिए।

तेजस्काय के भेद—

इंगाल जाल अच्वी मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य ।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया ।।३२।।

गाथार्थ— अंगारे, ज्वाला, चिनगारी, भोभर, शुद्धाग्नि आदि और इनके वर्णादि के भेद से बादर अग्निकाय के अनेक भेद हैं। सूक्ष्म अग्निकाय के कोई भेद नहीं होते हैं।

विवेचन— अग्नि ही है काया जिनकी, उन्हें तेजस्काय कहा जाता है। उल्कापात, आकाश में चमकने वाली विद्युत् आदि वे सभी वस्तुएँ जो प्रज्वलित हैं, तेजस्काय के ही रूप हैं।

वायुकाय के भेद—

वाउब्भामे उक्कलिमंडलिगुंजा महा घणतणू या ।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया ।।३३।।

गाथार्थ— उद्भ्रामक, (ऊपर की ओर जाने वाली वायु); उत्कालिक (नीचे की ओर बहने वाली वायु); मंडलिक (गोलाकार चलने वाली वायु); गुंज (गुंजार करने वाली वायु); महावायु (तूफानादि) घनवात (ठोस वायु) तनुवात (हल्की वायु) आदि वर्णादि के भेद से बादर वायुकाय के अनेक भेद जानना चाहिए। सूक्ष्म वायुकाय के कोई भेद नहीं होते हैं।

वनस्पतिकाय के भेद—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंधबीय बीयरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेय अणंतकाया य।।३४।।

गाथार्थ— मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह सम्मूर्च्छिम आदि वनस्पतियों के भेद हैं। प्रत्येक और अनन्तकाय—ऐसे दो प्रकार बादर वनस्पतिकाय के हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— मूल अर्थात् जड़ ही है बीज जिसका वह मूलबीज है, यथा— कमल का कांड। अग्रभाग ही जिसका बीज हो वह अग्रबीज है, यथा— कोरन्टक नागरवेल। पर्व (गांठ) ही है बीज जिनका ऐसा गन्ना पर्वबीज है। कन्द ही है बीज जिनका वे कन्दबीज हैं, यथा— सूरन, आलू आदि। स्कन्ध ही है बीज जिनका, ऐसे स्कन्ध बीज होते हैं, जैसे— गुलाब, मेंहदी। बीज से उगने वाली वनस्पतियाँ जैसे— गेहूँ, मूँग, धान चनादि बीजरुह हैं। उपर्युक्त समस्त प्रकारों से भिन्न, भूमि, जलादि में अपने आप (स्वत:) उत्पन्न हो जाय ऐसी काई आदि सम्मूर्च्छिम वनस्पति कहलाती है। प्रत्येक तथा अनन्तकाय ये दोनों बादर वनस्पति काय के भेद हैं।

प्रत्येककाय— जिसके प्रत्येक शरीर में एक जीव की स्वतन्त्र सत्ता हो, वह प्रत्येक वनस्पति है। यथा— गेहूँ, चना, आम आदि।

अनन्तकाय— एक ही पिण्ड में जहाँ अनन्त जीव हों वह अनन्तकाय कहा जाता है, यथा— शकरकन्द, मूली आदि।

कंदा मूला छल्ली कट्ठा पत्ता पवाल पुप्फ फला।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वया चेव ।।३५।।

गाथार्थ— कन्द, मूल, छाल, काष्ठ, पत्ता, अंकुर, फूल, फल, गुच्छा, गुल्म, बेल, घास, पर्वज ये सभी वनस्पतियों के भेद हैं।

विवेचन— कन्द अर्थात् समूह। जो जमीन के अन्दर पिण्ड रूप में होती हैं ऐसी वनस्पतियाँ जमीकन्द कहलाती हैं, यथा— सूरन आदि। मूल—वृक्ष आदि की जड़ें मूल कही जाती हैं अथवा जो मूल (जड़) पर जीवित रहते हैं, वे मूल हैं। छाल— केले आदि छाल प्रधान वनस्पति हैं। काष्ठ— खदिर आदि काष्ठ प्रधान माने जाते हैं। पत्र— नागर, बेल आदि पत्र प्रधान वनस्पति हैं। प्रवाल अंकुर या कोपल-प्रधान हैं। फूल— जूही, चम्पा, चमेली आदि फूल प्रधान वनस्पतियाँ हैं। फल— बेर, आम आदि के पेड़ फल प्रधान हैं। गुच्छ— जामुन आदि वनस्पतियाँ गुच्छ प्रधान हैं। गुल्म— जहाँ लताओं का एक प्रासाद। जाल बन जाता है वह गुल्म कहलाता है। नवमल्लिका आदि गुल्म प्रधान वनस्पतियाँ हैं। बेल— ककड़ी बेल प्रधान वनस्पति है। घास— श्यामक (दूब) घास प्रधान वनस्पति है। पर्व अर्थात् गाँठ— गन्ना गाँठ प्रधान वनस्पति है।

कन्द के नाम— उत्तराध्ययन सूत्र (३६/९६-९९) में जमीकन्दों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं— हिरिलीकंद, सिरिलीकंद, जावईकंद, कदलीकंद, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुबक, लोही, स्निहू, कुहक, कृष्ण, वज्रकंद, सूरकंद, अश्वकर्णी, सिंहकरणी, भुसुंडी, हरिद्रा (हल्दी), आलू, मूली शृंगबेर (अदरक) आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक वनस्पतिकाय— उत्तराध्ययनसूत्र (३६-९४,९५) में गुच्छ (बैगंन), गुल्म (नवमल्लिकादि), लता (चम्पकलतादि), वल्ली (भूमि पर फैलने वाली ककड़ी आदि की बेल), तृण (दूब), लतावलय (केलादि), पर्वज (ईख), कुहण (भूमिस्फोट, कुकुरमुत्ता) जलरुह (कमल) आदि को प्रत्येक वनस्पतिकाय कहा गया है।

गुल्म और गुच्छे में अन्तर— गुच्छ वह होता है जिसमें पत्तियाँ या केवल पतली टहनियाँ फैली हों, जैसे— बैंगन, तुलसी आदि। गुल्म वे हैं जो एक जड़ से कई तनों के रूप में निकले जैसे— कटसरैया, कैर आदि।

लता और वल्ली में अन्तर— लता किसी बड़े पेड़ से लिपट कर ऊपर फैलती है, जबकि वल्ली भूमि पर ही फैल कर रह जाती है जैसे— माधवी, अतिमुक्तक आदि लता है तथा ककड़ी, खरबूजे की वल्ली (बेल) होती है।

प्रज्ञापनासूत्र (गाथा ५४/१-११ एवं ५५/१-३) में साधारण वनस्पतिकाय की विस्तार से चर्चा करते हुए साधारण व प्रत्येक वनस्पतिकाय का भेद बताया गया है— मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रवाल (कोंपल), पत्ते, पुष्पादि यदि समभंग वाले हों तथा उनकी छाल मोटी हो तो उसे अनन्तकाय समझना चाहिए। इसके विपरीत जिसका भंग विषम हो, जो असम टूटे उसे प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए।

स्थानांगसूत्र (तृतीयस्थान, प्रथम उद्देश्यक सूत्र १०४ में।)

तृणवनस्पतिकाय के तीन प्रकार के बताये गये हैं—

१. संख्यात जीव वाले— नस से बंधे हुए पुष्प, फूल-फलादि।

२. असंख्यात जीव वाले— वृक्ष के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, छाल, शाखा और प्रवाल।

३. अनन्त जीव वाले— पनक, फफूंदी, लीलन-फूलन, जमीकन्द आदि।

सेवालपणगकिण्हग कवया कुहुणा य बायरो काओ।
सव्वो य सुहुमकाओ सव्वत्थ जलत्थलागासे।।३६।।

गाथार्थ— सेवाल (पानी के ऊपर जमने वाली काई), पणग (पांच प्रकार की लीलन-फूलन), किण्हग (वर्षाऋतु में घड़े में जमने वाली काई), कवया (भूमि स्फोट-छत्राकार वनस्पति), कुहुणो अर्थात् बिल्ली का टोप— ये बादर वनस्पतिकाय के भेद हैं।

सूक्ष्म वनस्पतिकाय जल, स्थल और लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरयं च छिन्नरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ।।३७।।

गाथार्थ— जिस वनस्पति की नसें, सन्धियां और पर्व (गांठें) देखने में न आती हों। तोड़ने पर जिनके समान टुकड़े होते हों, जिसमें तंतु न हों और जो काटने पर भी पुनः अंकुरित हो जाय वह साधारण वनस्पतिकाय कहलाती है तथा इसके विपरीत लक्षण वाली प्रत्येक वनस्पति होती है।

इस प्रकार पाँच स्थावर का निरूपण किया, अब त्रसकाय का निरूपण करते हैं—

त्रस के भेद—

दुविहा तसा य वुत्ता वियला सयलिंदिया मुणेयव्वा ।
बितिचउरिंदिय वियला सेसा सयलिंदिया नेया ।।३८।।

गाथार्थ— त्रस दो प्रकार के कहे गये हैं— विकलेन्द्रिय तथा सकलेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय हैं। शेष सभी पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहे जाते हैं।

विवेचन— त्रास, कष्ट, पीड़ा मिलने पर जो स्थानान्तरित हो सकें वे त्रस हैं। ये दो प्रकार के हैं— विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक एवं सकलेन्द्रिय अर्थात् पञ्चेन्द्रिय।

संखा गोम्मी भमराइया उ विगलिंदिया मुणेयव्वा ।
पंचिंदिया य जलथलखहयकसुरनारयनरारय ।।३९।।

गाथार्थ— शंख, कनखजूरा, भ्रमर आदि को विकलेन्द्रिय जानना चाहिए। पञ्चेन्द्रियों में जलचर, थलचर, खेचर, देव, नारक तथा मनुष्य आते हैं।

विवेचन— द्वीन्द्रिय में शंख, कौड़ी, सीप, अलसिया आदि जीव आते हैं। त्रीन्द्रिय में कनखजूरा, खटमल, चींटी, जूं आदि जीव आते हैं। चतुरिन्द्रिय में भ्रमर, मक्खी, मच्छर आदि जीव आते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के तीन प्रकार हैं— १. जलचर, २. थलचर तथा ३. खेचर। १. जलचर जैसे मछली आदि हैं। २. थलचर तीन प्रकार के हैं— (क) चतुष्पद में गाय, घोड़ा आदि। (ख) उरपरिसर्प— सांप, अजगर आदि। (ग) भुजपरिसर्प— नेवला, गिरगिट आदि। ३. खेचर— आकाश में उड़ने वाले कबूतर, कौआ आदि।

मनुष्य— कर्म तथा अकर्म भूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य।

नारक— रत्नप्रभा आदि नरक में उत्पन्न होने वाले जीव नारकी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव— ऊर्ध्वलोक में रहने वाले देव आदि।

मनुष्य, तिर्यंच, नारक तथा देव की चर्चा हम पूर्व गाथाओं में कर चुके हैं।

नोट— द्वीन्द्रिय— जिनके दो इन्द्रियाँ हैं— शरीर तथा मुख।
त्रीन्द्रिय— जिनके तीन इन्द्रियाँ हैं— शरीर, मुख तथा नासिका।
चतुरिन्द्रिय— जिनके चार इन्द्रियाँ हैं— शरीर, मुख, नासिका तथा आँख।
पंचेन्द्रिय— जिनके पाँच इन्द्रियाँ हैं— शरीर, मुख, नासिका, आँख तथा कान।

कुलों की संख्या

बारस सत्त य तिन्नि य सत्त य कुलकोडि सयसहस्साइं।
नेया पुढविदगागणिवाऊणं चेव परिसंखा।।४०।।

कुलकोडिसयसहस्सा सत्तट्ठ य नव च अट्ठवीस च।
बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरियकायाणं ।।४१।।

अद्धत्तेरस बारस दस दस कुलकोडिसहस्साइं।
जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयसप्पाण नव हुंति।।४२।।

छब्बीसा पणबीसा सुरनेरइयाण सहसहस्साइं।
बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं मणुस्साणं।।४३।।

एगा कोडाकोडी सत्ताउई भवे सयसहस्सा।
पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीओ मुणेयव्वा।।४४।।

गाथार्थ— पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के कुलों की संख्या अनुक्रम से बारहलाख करोड़, सातलाख करोड़, तीनलाख करोड़ और सातलाख करोड़ जानना चाहिये।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा वनस्पतिकाय के कुलों की संख्या क्रमशः सातलाख करोड़, आठलाख करोड़, नौलाख करोड़ तथा अट्ठासीलाख करोड़ जानना चाहिये।

जलचर, खेचर, चतुष्पद, उरपरिसर्प तथा भुजपरिसर्प के कुलों की संख्या क्रमशः साढ़े बारह लाख करोड़, बारह लाख करोड़, दस लाख करोड़, दस लाख करोड़ तथा नौ लाख करोड़ जानना चाहिये।

देव, नारक तथा मनुष्य के कुलों की संख्या क्रमशः छब्बीस लाख करोड़, पच्चीस लाख करोड़ तथा बारह लाख करोड़ जाननी चाहिये।

इस प्रकार समस्त कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवें लाख पचास हजार (१९७,५००००) करोड़ जाननी चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काय	कुल	योनि
पृथ्वीकाय	१२ लाख करोड़	७ लाख
अप्काय	७ लाख करोड़	७ लाख
तेजस्काय	३ लाख करोड़	७ लाख
वायुकाय	७ लाख करोड़	७ लाख
वनस्पतिकाय	२८ लाख करोड़	१०+१४ लाख
द्वीन्द्रिय	७ लाख करोड़	२ लाख
त्रीन्द्रिय	८ लाख करोड़	२ लाख
चतुरिन्द्रिय	९ लाख करोड़	२ लाख
पञ्चेन्द्रिय: जलचर	१२½ लाख करोड़	४ लाख
खेचर	१२ लाख करोड़	
चतुष्पद	१० लाख करोड़	
उरपरिसर्प	१० लाख करोड़	
भुजपरिसर्प	९ लाख करोड़	
देव	२६ लाख करोड़	४ लाख
नारक	२५ लाख करोड़	४ लाख
मनुष्य	१२ लाख करोड़	१४ लाख
	कुल १९७½ लाख करोड़	८४ लाख योनियाँ

योनियाँ (प्रजातियाँ)

यहाँ हमने ८४ लाख योनियों अर्थात् प्रजातियों की चर्चा की। जीव जिस प्रजाति में जन्म ग्रहण करता है। उसकी अपेक्षा से उसके चौरासी लाख भेद किये गये हैं। यथा— पृथ्वीकायादि। जिस-जिस निकाय में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तर तम भाव वाली और विभिन्न प्रकार की शारीरिक संरचना वाली जितनी प्रजातियाँ होती हैं उस निकाय की उतनी ही योनियाँ अर्थात् प्रजातियाँ होती हैं। ज्ञातव्य है योनि की अवधारणा उससे भिन्न है। जीव के जन्म के लिए स्थान आवश्यक है जिस स्थान पर स्थूल शरीर की रचना के लिए आवश्यक पुद्गल तेजस् एवं कार्मण शरीर के साथ दूध और पानी की तरह मिल जाते हैं उसे 'योनि' कहते हैं। ये योनि नौ प्रकार की हैं, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

कुल और योनि में अन्तर

यहाँ हम प्रजाति को योनि तथा अनुवांशिकता को कुल कह सकते हैं। योनि (प्रजाति) की संख्या मात्र चौरासी लाख है जबकि अनुवांशिक विशेषताओं अर्थात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन कुलों की संख्या १९७½ लाख करोड़ है।

जीवसमास में गाथा ४० से ४४ तक जीवों के इन कुलों अर्थात् अनुवांशिकताओं का वर्णन किया गया है।

बिच्छुओं की योनि एक है किन्तु उनमें जो रंग आदि की भिन्नता के कारण जो अनुवांशिक भेद हैं वे कुल कहलायेंगे।

कहीं ऐसा भी कहा गया है कि सभी प्रकार के भ्रमरों की योनि एक है परन्तु काष्ठ, गोबर, पुष्पादि अलग-अलग स्थान में उत्पन्न होने के कारण एवं उनके रंग आदि की भिन्नता के कारण उनके कुल अनेक माने जायेंगे। यही कारण है कि योनि की अपेक्षा कुल की संख्या अधिक है।

आकार की अपेक्षा तीन प्रकार की योनियाँ

आकार की अपेक्षा से योनि तीन प्रकार की कही गई हैं— १. कूर्मोन्नत (कछुए के समान उन्नत) योनि। २. शंखावर्त (शङ्ख के समान आवर्त वाली) योनि और ३. बंशीपत्रिका (बाँस के पत्ते के समान आकार वाली) योनि।

— स्थानाङ्ग, (तृतीय स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्र १०३)

१. कूर्मोन्नत योनि— उत्तम पुरुषों की माताओं के होती है। इसमें तीन प्रकार के उत्तम पुरुष गर्भ में आते है— तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव तथा वासुदेव।

२. शंखावर्त योनि— चक्रवर्ती के स्त्री रत्न अर्थात् मुख्य पटरानी की होती है। शंखावर्त योनि में बहुत से जीव और पुद्गल उत्पन्न और विनष्ट होते हैं, किन्तु निष्पन्न नहीं होते अर्थात् वह सन्तान को जन्म नहीं देती हैं।

३. बंशीपत्रिका योनि— सामान्य पुरुषों के माताओं की होती है।

योनि के नौ प्रकार (उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा से)

तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीय अध्याय, सूत्र ३३ में नौ प्रकार की योनियाँ बताई गई हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में अगली गाथाओं में नौ योनियों की चर्चा है। नौ प्रकार की योनियों की चर्चा उत्पत्ति स्थान के स्वरूप की अपेक्षा से की गई हैं—

१. सचित्त— जो जीव से अधिष्ठित हो, चेतना युक्त हो।

२. अचित्त— जो जीव से अधिष्ठित न हो।

३. मिश्र (सचित्ताचित्त)— जो आंशिक रूप से जीव से अधिष्ठित हो तथा आंशिक रूप से जीव से अधिष्ठित न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. **शीत—** जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो।

५. **उष्ण—** जिस उत्पत्ति स्थान में स्पर्श उष्ण हो।

६. **मिश्र (शीतोष्ण)—** जिसमें कुछ भाग शीत तथा कुछ भाग उष्ण स्पर्श वाला हो।

७. **संवृत—** जो स्थान ढका हुआ हो।

८. **विवृत—** जो स्थान खुला हो।

९. **मिश्र (संवृत-विवृत्त)—** जो स्थान कुछ ढका तथा कुछ खुला हो।

जीवों की योनि (जन्म) स्थान—

एगिंदियनेरइया संवुडजोणी य हुंति देवा य।
विगलिंदियाण वियडा संवुडवियडा य गब्भंमि।।४५।।

गाथार्थ— एकेन्द्रिय जीव, नारक और देवता संवृत योनि से जन्म लेते हैं। विकलेन्द्रिय जीव विवृत योनि से उत्पन्न होते हैं तथा गर्भज जीव अर्थात् मनुष्य एवं तिर्यंच संवृतविवृत योनि से जन्म ग्रहण करते हैं।

प्रश्न— नारक तथा देव के जीव संवृत्त योनि वाले कैसे होते हैं?

उत्तर— नारकी जीवों का जन्म कुम्भियों में होता है। ये कुम्भियाँ ढकी हुई होती हैं। इसी प्रकार देवता देवशय्या में देवदुष्य वस्त्र से ढके हुए जन्म लेने के कारण संवृतयोनि वाले माने जाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों का जन्म भी संवृत रूप से ही होता है। अतः ये सभी संवृत योनि वाले माने जाते हैं।

अच्चिता खलु जोणी नेरइयाणं तहेव देवाणं।
मीसा य गब्भवसही तिविहा जोणी उ सेसाणं।।४६।।

गाथार्थ— नारक तथा देव की योनि अचित्त होती है। गर्भज तिर्यंच तथा मनुष्य की योनि मिश्र होती है। शेष सभी की सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र योनि होती है।

विशेष— शेष सभी अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की योनि सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र इन तीनों में से किसी भी एक प्रकार की हो सकती है।

सीओसिणजोणीया सव्वे देवा य गब्भवक्कंता।
उसिणा य तेउकाए दुह नरए तिविह सेसाणं।।४७।।

गाथार्थ— सभी प्रकार के देव तथा गर्भज (मनुष्य एवं तिर्यञ्च) मिश्र (शीतोष्ण) योनि में उत्पन्न होते हैं। तेजस्काय के जीव उष्ण योनि वाले होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नारकी शीत तथा उष्ण योनि वाले होते हैं तथा शेष जीव तीनों प्रकार की योनि वाले होते हैं।

विवेचन— सभी प्रकार के (भवनवासी) देव तथा गर्भज जीव न अति शीत न अति उष्ण अर्थात् शीतोष्ण योनि में जन्म लेते हैं। अग्निकाय तो स्वभाव से उष्ण होने के कारण उनकी योनि उष्ण होती है। नारकी में अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्ण योनि होती है। रत्नप्रभादि ऊपर के नरकों में मात्र उष्ण योनि है तथा नीचे के नरकों में शीत योनि है। प्रथम तीन नरकों में एकान्त रूप से लकड़ी के अंगारों से अनन्त गुना अधिक उष्णता होने के कारण वे नारकी जीव उष्ण योनि वाले कहलाते हैं। चौथी नारकी में अनेक प्रतर उष्ण होते हैं अत: उनमें जन्म होने पर उनकी योनि उष्ण होती है किन्तु उसमें कुछ प्रतर शीतल होने के कारण वहाँ शीत योनि भी होती है। वहाँ सर्दी में पड़ने वाली बर्फ से भी अनन्तगुना अधिक शीत होती है। पांचवें, छठे, सातवें नरक में एकान्त शीत वेदना है। अत: ये नारक जीव शीत योनि में जन्म लेते हैं।

संघयण

वज्जरिसहनारायं वज्जं नाराययं च नारायं।
अद्धं चिय नारायं खीलिय छेवट्ठ संघयणं ।।४८।।

रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलिया वियाणाहि।
उभयो मक्कडबंध नारायं तं वियाणाहि ।।४९

गाथार्थ— १. वज्रऋषभनाराच, २. ऋषभनाराच, ३. नाराच, ४. अर्धनाराच, ५. कीलिक तथा ६. सेवार्त ये छ: प्रकार के संघयण होते हैं।

वज्र अर्थात् कीली, ऋषभ अर्थात् पट्टा तथा दोनों तरफ से मर्कटबंध द्वारा कस लेने को 'नाराच' कहते हैं।

विवेचन— हड्डियों के मर्कटबंध पर हड्डियों का पट्टा लगा कर, उन्हें हड्डियों की कील से संधित करना 'संघयण' कहलाता है।

जैसे मर्कट अर्थात् बन्दर का बच्चा अपनी माँ को, उसके कूदने के क्षणों में कसकर पकड़ लेता है उसी प्रकार हड्डियों का कसा हुआ संधान 'मर्कटबंध' कहलाता है।

सामान्यत: हड्डियों की रचना विशेष को 'संघयण' कहते हैं। इसके छ: भेद हैं—

१. वज्रऋषभनाराचसंघयन— वज्र का अर्थ कील है। ऋषभ का अर्थ है हड्डियों पर लपेटा गया पट्टा या वेष्टन है और नाराच का अर्थ दोनों ओर से मर्कटबंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा जुड़ा होना है।

जिस संघयण में दोनों ओर से मर्कटबंध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्रमय अर्थात् बहुत ही मजबूत हड्डी की कील लगी हो उसे 'वज्रऋषभनाराचसंघयण' कहते हैं।

२. **ऋषभनाराचसंघयन**— जिस संघयण में दोनों ओर से मर्कट बंध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन तो हो परन्तु तीनों हड्डियों को जोड़ने वाली वज्र नामक हड्डी की कील न हो उसे 'ऋषभनाराचसंघयण' कहते हैं।

३. **नाराचसंघयन**—हड्डियों का मात्र मर्कटबंध द्वारा जुड़ा होना और उसमें की (वज्र) तथा वेष्टन (ऋषभ) का न होना 'नाराचसंघयण' है।

४. **अर्धनाराचसंघयण**—जिस संघयण में एक ओर तो मर्कटबंध हो तथा दूसरी ओर कील हो उसे 'अर्धनाराचसंघयण' कहते हैं।

५. **कीलिकसंघयन**—जिस संघयण में हड्डियाँ केवल कील से जुड़ी हों उसे 'कीलिकसंघयण' कहते हैं।

६. **सेवार्तसंघयन**—जिस संघयण में हड्डियाँ पर्यन्त भाग में एक दूसरे को स्पर्शित करती हुई रहती हैं और उनके मध्य में मात्र चिकना पदार्थ होता है उसे 'सेवार्तसंघयन' कहते हैं।

(जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश) (पन्नवणा २३ कर्मप्रकृतिपद)

(ठाणांग ६ सूत्र ४९४) (कर्मग्रन्थ - भाग १ पृ० ३९)

नरतिरियाणं छप्पिय हवइ हु विगलिंदियाण छेवट्ठं।
सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणी।।५०।।

गाथार्थ— मनुष्य तथा तिर्यञ्च जीवों में सभी संघयण पाये जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवों में मात्र अन्तिम सेवार्तसंघयन होता है। देव, नारक तथा एकेन्द्रिय जीवों में कोई संघयन नहीं होता है।

विवेचन—मनुष्य एवं तिर्यञ्च को उपर्युक्त छः संघयन में से कोई एक संघयण अवश्य होता है। विकलेन्द्रिय को मात्र सेवार्त (अन्तिम) संघयन होता है। देव, नारक तथा एकेन्द्रिय को कोई संघयन नहीं होता क्योंकि इन जीवों में हड्डियों का अभाव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्थान

समचउरंसा नग्गोह साइ खुज्जा य वामणा हुंडा।
पंचिंदियतिरयनरा सुरा समा सेसया हुंडा ।।५१।।

गाथार्थ— १. समचतुरस्र, २. न्यग्रोध, ३. सादि, ४. कुब्ज, ५. वामन तथा ६. हुण्डक— ये छः संस्थान हैं। ये छहों संस्थान पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों में पाये जाते हैं। देवताओं में मात्र समचतुरस्र संस्थान होता है। शेष विकलेन्द्रिय जीवों में हुण्डक संस्थान होता है।

विवेचन— शरीर की बाह्य संरचना अर्थात् आकार-प्रकार को संस्थान कहते हैं। इसके निम्न छः प्रकार हैं—

१. समचतुरस्र संस्थान— सम का अर्थ है समान। चतुः का अर्थ है चार। अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् (१) आसन और कपाल का अन्तर, (२) दोनों जानुओं का अन्तर, (३) वाम स्कन्ध से दक्षिण जानु का अन्तर तथा (४) दक्षिण स्कन्ध से वाम जानु का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं सामुद्रिक शास्त्रानुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव प्रमाणोपेत हों, उसे 'समचतुरस्र संस्थान' कहते हैं।

२. न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान— न्यग्रोध अर्थात् वटवृक्ष। परिमण्डल अर्थात् ऊपर का आकार। जैसे वट वृक्ष ऊपर के भाग में फैला रहता है और नीचे से संकुचित रहता है उसी प्रकार जिस संस्थान में नाभि के ऊपर का भाग विस्तृत अर्थात् शरीर शास्त्र में बताये हुए प्रमाण वाला हो और नीचे का भाग अपेक्षाकृत क्षीण अवयव वाला हो, उसे 'न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान' कहते हैं।

३. सादि संस्थान— यहाँ सादि शब्द का अर्थ नाभि से नीचे का भाग है। जिस संस्थान में नाभि से नीचे का भाग पूर्ण और ऊपर का भाग क्षीण (हीन) हो उसे 'सादि संस्थान' कहते हैं। सादि सेमल (शाल्मली) वृक्ष को कहते हैं। शाल्मली वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है वैसा ऊपर का भाग नहीं होता। उसी प्रकार सादि संस्थानवाले का शरीर भी नीचे से पुष्ट, पूर्ण तथा ऊपर से क्षीण होता है।

४. कुब्जक संस्थान— जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर, गर्दन, आदि अवयव ठीक हों पर छाती, पेंट, पीठ आदि टेढ़े हों उसे 'कुब्जक संस्थान' कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. वामन संस्थान— जिस शरीर में छाती, पेट, पीठ आदि अवयव पूर्ण हों परन्तु हाथ पैर आदि अवयव छोटे हों उसे 'वामन संस्थान' कहते हैं।

६. हुण्डक संस्थान— जिस शरीर के समस्त अवयव टेढ़े-मेढ़े हों अर्थात् एक भी अवयव शास्त्रोक्त प्रमाण के अनुसार न हो, उसे 'हुण्डक संस्थान' कहते हैं।

(जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश) (ठाणांग ६ सूत्र ४९५)

(कर्मग्रन्थ भाग १ पृ० ४०) (प्रवचनसारोद्धार-गाथा १२६८)

विशेष— समस्त गर्भज जीवों अर्थात् मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों के छः संस्थान होते हैं। देवों का समचतुरस्र संस्थान होता है तथा विकलेन्द्रिय जीवों एवं नारकी जीवों का हुण्डक संस्थान होता है।

एकेन्द्रिय जीवों का संस्थान इन छहों संस्थानों से भिन्न होता है, अतः उसका विवेचन अगली गाथा में किया गया है।

एकेन्द्रिय के संस्थान

मस्सूरए य थिवुगे सूइ पडागा अणेगसंठाणा ।
पुढविदगअगणिमारुयवणस्सईणं च संठाणा ।।५२।।

गाथार्थ— पृथ्वीकाय का संस्थान (आकार) मसूर की दाल के समान, अप्काय का बुदबुदे के समान, तेजस्काय का सूई के समान, वायुकाय का पताका के समान तथा वनस्पतिकाय अनेक संस्थान वाली होती है।

विवेचन— पृथ्वीकाय का आकार चन्द्र या मसूर की दालवत् और अप्काय का आकार बुदबुदे जैसा बताया गया है। तेजस्काय को (अग्नि ऊँची उठने पर नुकीली हो जाती है, अतः)सूई के आकार का बताया गया है। इसी प्रकार वायुकाय को पताका के आकार का एवं वनस्पतियों को अनेक प्रकार का होने से अनेक संस्थान वाला कहा गया है।

५. शरीर

ओरालिय वेउव्विय आहारय तेयए य कम्मयए ।
पंच मणुएसु चउरो वाऊ पंचिंदियतिरिक्खं ।।५३।।

वेउव्वियतेए कम्मए य सुरनारयाय तिसरीरा ।
सेसेगिंदियवियला ओरालियतेयकम्मइगा ।।५४।।

गाथार्थ—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् तथा कार्मण— ये पाँच शरीर हैं। इनमें से मनुष्यों में (विशिष्ट अवस्था में) पाँच शरीर तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं वायुकाय के (विशिष्ट अवस्था में) चार शरीर होते हैं।

वैक्रिय, तेजस् तथा कार्मण— ये तीन शरीर देव तथा नारक को होते हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय जीवों को औदारिक, तेजस् तथा कार्मण— ये तीन शरीर होते हैं।

विवेचन—जो जीर्ण-शीर्ण होता है अर्थात् उत्पत्ति समय से लेकर निरन्तर जर्जरित होता रहता है, उसे शरीर कहते हैं। संसार जीवों के शरीर की रचना शरीर नामकर्म के उदय से होती है, शरीर नामकर्म कारण है और शरीर कार्य है। औदारिक आदि वर्गनाएँ उनका उपादान कारण हैं और औदारिक शरीर नामकर्म आदि निमित्त कारण हैं उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. औदारिक शरीर—इसमें मूल शब्द उदार है। शास्त्रों में उदार के तीन अर्थ बताये गये हैं—

१. जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान है— जिस शरीर से तीर्थंकर, गणधर आदि पद प्राप्त हो अथवा जिस शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है अथवा जिससे संयम की आराधना की जा सकती है, उसे प्रधान या महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

२. उदार अर्थात् विशाल। वृद्धि के स्वभाव वाले इस औदारिक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन है, जबकि वैक्रिय शरीर की स्वाभाविक अवगाहना मात्र पाँच सौ धनुष है। औदारिक शरीर की यह उत्कृष्ट अवगाहना स्वयंभूरमण के मत्स्य तथा कमलनाल (प्रत्येकवनस्पति) की अपेक्षा से जानना चाहिये।

३. उदार का अर्थ है मांस, हड्डी, स्नायु आदि से निर्मित शरीर। इस शरीर के स्वामी मनुष्य एवं तिर्यञ्च होते हैं। अन्य शरीरों की अपेक्षा अल्प प्रदेश वाला होकर भी परिमाण में बड़ा होने से भी यह औदारिक शरीर कहलाता है।

२. वैक्रिय शरीर—विविध एवं विशिष्ट (विलक्षण) क्रिया करने वाले शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। प्राकृत के 'वेउव्विए' का संस्कृत में 'विकुर्वित' रूप भी बनता है। यह दो प्रकार का होता है— लब्धि-प्रत्ययिक तथा भव-प्रत्ययिक। तप आदि से प्राप्त होने वाला लब्धि-प्रत्ययिक तथा भव अर्थात् जन्म के निमित्त से प्राप्त होने वाला भवप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर कहलाता है। लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर मनुष्य एवं तिर्यञ्च को तथा भवजन्य वैक्रिय शरीर नारक तथा देव को होता है।

३. आहारक शरीर—चतुर्दशपूर्वविद् मुनियों के द्वारा संशय निवारणार्थ, आगम के अर्थग्रहणार्थ या तीर्थंकरों की ऋद्धि के दर्शनार्थ जो शरीर बनाया जाता है, आहारक शरीर कहलाता है। शुभ पुद्गल परमाणुओं से बना एक हाथ या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुण्ड हाथ वाला यह आहारक शरीर प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि बनाते हैं। यह शरीर अप्रतिघाती होता है।

४. तेजस्शरीर—यह शरीर कांति या तेज देने के कारण तेजस्, पदार्थों को जलाने वाला होने से दाहक तथा अन्नादि पचाने के कारण पाचक है। यह दो प्रकार का है— निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक। अनिःसरणात्मक तेजस् शरीर भुक्त अन्नपान का पाचक होकर शरीर में रहता है तथा औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में तेज, प्रभा, कान्ति का निमित्त होता है। निःसरणात्मक तेजस् सुभिक्ष, शान्ति आदि का कारण है एवं अशुभ तेजोलेश्या, नगरदाह (द्वारिका) आदि का कारण है। यह शरीर-तेजस् लब्धि से प्राप्त होता है।

५. कार्मण शरीर—अष्टविध कर्म समुदाय रूप कार्मण वर्गणाओं से बना हुआ औदारिक आदि शरीरों का कारणभूत तथा परभव में साथ जाने वाला शरीर कार्मण शरीर है।

औदारिक आदि पाँच शरीरों का यह क्रम विन्यास उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के कारण है। औदारिक स्वल्पपुद्गलों से निष्पन्न बादर शरीर है। क्रमशः अन्य शरीर उससे उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। कार्मण शरीर इतना सूक्ष्म है कि उसे देखा भी नहीं जा सकता है। जो शरीर जितने सूक्ष्म है उनमें सघनता क्रमशः अधिकाधिक है। तेजस् एवं कार्मण शरीर समस्त संसारी जीवों को प्राप्त है तथा इन दोनों का अनादिकाल से सम्बन्ध है। ये दोनों सूक्ष्म शरीर मुक्ति पर्यन्त रहते हैं।

विवेचन—मनुष्यों में वैक्रिय तथा आहारक लब्धिधारी मनुष्यों को पाँच शरीर होते हैं। पर एक समय में एक मुनि को चार शरीर होना ही सम्भव है। विशिष्ट प्रसंग पर शरीर को विकुर्वित कर छोटा-बड़ा करना 'विकुर्वीकरण' है। इस प्रकार की योग्यता वाला शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है। चौदह पूर्वधारी मुनियों द्वारा शंका निवारणार्थ आहारक पुतला बनाना-आहारक शरीर कहलाता है। तिर्यञ्च तथा वायुकाय में भी वैक्रिय शरीर की सम्भावना की अपेक्षा से चार शरीर का कथन किया गया है (आगे गाथा ५७ देखें)।

योग मार्गणा

सच्चे मीसे मोसे असच्चमोसे मणे य वाया य ।
ओरालियवेउव्विय आहारयमिस्सकम्मइए ।।५५।।

गाथार्थ—सत्य, मृषा, सत्यमृषा (मिश्र) तथा असत्यअमृषा ये चार मन के तथा ऐसे ही चार वचन के भेद हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक तथा इन तीनों के मिश्र अर्थात् औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र, आहारक मिश्र तथा कार्मण काययोग— ये १५ प्रकार के काययोग हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— योग का अर्थ— युज्यते इति योगः—योग अर्थात् जुड़ना। मन योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करके उन्हें मन रूप परिणमित कर मन को चिन्तन-मनन में जोड़ने वाला मनोयोग है। भाषा योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण कर बोलना वचनयोग है तथा काय योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण कर उनसे शरीर का निर्माण करना काय योग है। मनोयोग के चार प्रकार बताये जाते हैं—

१. सत्य मनोयोग— पदार्थ जैसा है वैसा चिन्तन करना सत्य मनोयोग है। यथा जीव है, जीव शरीर परिमाण है आदि-आदि।

२. असत्य मनोयोग— पदार्थ के अयथार्थ स्वरूप चिन्तन में लगा हुआ मन असत्य मनोयोग है। जैसे— जीव नहीं है, आत्मा शरीर परिमाण नहीं है आदि।

३. मिश्र मनोयोग— किसी मिश्र पदार्थ को एक साथ कहना। यथा मिले हुए मिश्री-नमक के डलों को मात्र मिश्री कहना। इसमें मिश्री को मिश्री कहना सत्य है पर नमक को भी मिश्री कह देना असत्य है। यह सत्यासत्य चिन्तन ही मिश्र मनोयोग है।

४. असत्य-अमृषा— जिन्हें सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता उन्हें असत्य-अमृषा कहा गया है— जैनाचार्यों ने आदेशात्मक भावों को इसी कोटि में रखा है। इसका विवेचन असत्यअमृषा वचनयोग में आगे करेंगे।

अब वचनयोग के चार प्रकार बताते हैं—

१. सत्यभाषा— पदार्थ जैसा है वैसा कहना सत्यभाषा है।

२. असत्यभाषा— पदार्थ जैसा है वैसा न कहना असत्य भाषा है।

३. मिश्रभाषा— जो पूर्णतः न सत्य है न पूर्णतः असत्य है यथा— अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा— यह मिश्रभाषा का उदाहरण है।

४. असत्य-अमृषाभाषा— असत्य-अमृषा के बारह प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के भाषापद २० में बताये गये है—

१. अज्ञापनीय -- आज्ञाकारी भाषा—यथा बिजली जला दो, उठो, बैठो, आदि।

२. याचनीय -- याचना करने या मांगने की भाषा—यथा यह दे दो।

३. आमन्त्रणी -- निमन्त्रण की भाषा—हमारे यहाँ पधारो।

४. पृच्छनीय -- पूछने की भाषा—क्या तुम अध्ययन करोगे?

५. उपदेशात्मक -- (प्रज्ञापनीय) झूठ नहीं बोलना चाहिए।

६. प्रत्याख्यानी -- किसी की मांग को अस्वीकार करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. इच्छानुकूलिका -- अपनी पसन्द को व्यक्त करना।

८. अनभिग्रहिता -- असहमति की भाषा।

९. अभिग्रहिता -- अनुमोदन या स्वीकृति की भाषा।

१०. सन्देहकारिणी -- अस्पष्ट भाषा, यह सैन्धव अच्छा है। सैन्धव का अर्थ नमक तथा घोड़ा दोनों होता है। इससे वक्ता का सैन्धव से क्या आशय है — यह स्पष्ट नहीं हो पाता है।

११. व्याकृता -- किसी नये तथ्य को उद्घाटित नहीं करते हैं, वे कथन जो पुनरावृत्ति रूप हैं।

१२. अव्याकृता -- जहाँ स्पष्टतः विधि-निषेध की स्थिति न बन पाये।

भाषा के यह १२ प्रकार न सत्य हैं न मृषा हैं अतः इन्हें असत्य-अमृषा भाषा कहा गया। असत्य-अमृषा मनोयोग में यह भाव अन्तरंग में रहते हैं। भाषा रूप परिणमित होने पर इन्हें वचनयोग में (असत्य-अमृषा) में लिया जाता है।

अब काय योग के ७ प्रकार बताये जाते हैं :—

१. औदारिक काययोग—औदारिककाय विषयक योग औदारिक काययोग है।

२. औदारिक मिश्र काययोग— औदारिक शरीर बनने से पूर्व अपर्याप्तावस्था में पाये जाने वाले कार्मण शरीर का संयोग औदारिक मिश्र काययोग कहलाता है।

३. वैक्रिय काययोग— वैक्रिय शरीर विषयक योग वैक्रिय काययोग है।

४. वैक्रियमिश्र काययोग—वैक्रिय शरीर की अपर्याप्तावस्था में पाया जाने वाला कार्मणशरीर का योग वैक्रियमिश्र काययोग कहलाता है।

५. आहारक काययोग— आहारक शरीरविषयक योग को आहारक काय योग कहते हैं।

६. आहारकमिश्र काययोग— आहारक शरीर की अपर्याप्तावस्था में औदारिक काय का संयोग आहारकमिश्र काययोग है।

७. कार्मण काययोग—अष्ट कर्मों का समूह कार्मण काययोग है। कार्मण काय विषयक योग विग्रहगति में तथा केवलीसमुद्घात में होता है।

नोटः— कार्मण तथा तेजस् शरीर सदा साथ रहते हैं अतः तेजस् काययोग का अलग से वर्णन नहीं किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वचनयोग एवं गुणस्थान

सच्चे असच्चमोसे सण्णी उ सजोगिकेवली जाव।
सण्णी जा छउमत्थो सेसं संखाइ अंतवउ।।५६।।

गाथार्थ— सत्य तथा असत्य-अमृषायोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली तक होते हैं। शेष अर्थात् असत्य और सत्यासत्य (मिश्र)— ये दो योग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से क्षीणमोह अर्थात् छद्मस्थावस्था तक हैं। शंख आदि द्वीन्द्रिय जीवों की भाषा में असत्य-अमृषा रूप अंतिम वचनयोग होता है।

विवेचन— एकेन्द्रिय में मन तथा वचन योग का अभाव है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में असत्य-अमृषा भाषा होती है। चौदहवें गुणस्थान में योग न होने से भाषा अर्थात् वचनयोग का प्रश्न ही नहीं उठता।

सत्य तथा असत्य-अमृषा वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली तक होती है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक शुद्धि बढ़ने पर भी सम्पूर्णतः ज्ञानावरणादि का क्षय न होने से सहसाकार की अपेक्षा से सत्यासत्य भाषा योग का कथन किया गया है। तेरहवें गुणस्थान में सत्य तथा असत्य-अमृषा ये दो भाषायोग ही सम्भव हैं।

किसके कितने शरीर काययोग होते हैं ?

सुरनारया विउव्वी नरतिरि ओरालिया सवेउव्वी।
आहारया पमत्ता सव्वेऽपज्जत्तया मीसा।।५७।।

गाथार्थ— देव तथा नारकी को वैक्रिय शरीर होता है। मनुष्य तथा तिर्यञ्च को औदारिक के साथ वैक्रिय शरीर भी होता है। चतुर्दशपूर्वधारी प्रमत्त साधु आहारक शरीर वाले होते हैं। अपर्याप्तावस्था में मिश्र शरीर होता है।

विवेचन— देव तथा नारक को जन्म से ही वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है। मनुष्य तथा तिर्यञ्च को तप आदि से आत्म विशुद्धि होने पर वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो जाती है अतः वे भी वैक्रिय शरीर बना सकते हैं। प्रमत्तसंयत में आहारक शरीर की सम्भावना से पाँच शरीर हो सकते हैं एवं अपर्याप्तावस्था में औदारिक, मिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र शरीर होता हैं।

कार्मण योग तथा गुणस्थान

मिच्छा सासण अविरय भवंतरे केवली समुहया य।
कम्मयओ काओगो न सम्ममिच्छो कुणइ कालं।।५८।।

गाथार्थ— मिथ्यादृष्टि, सासादन तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को भवान्तर में जाते समय विग्रहगति करते हुए कार्मण काययोग होता है। केवली को समुद्घात करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए भी कार्मण काययोग होता हैं। मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव कभी मरण को प्राप्त नहीं करता है।

विवेचन—जीव के शरीर छोड़ने तथा नया शरीर प्राप्त न होने तक विग्रह गति करते समय उसे कार्मण काययोग होता है। गाथा ५७ में छः काययोग का वर्णन किया, इस गाथा में सातवें कार्मण काययोग का वर्णन किया गया है कि वह कहाँ-कहाँ होता है।

केवली को समुद्घात के मात्र तीसरे, चौथे तथा पाँचवे समय में ही कार्मण काययोग होता है।

प्रश्न—केवली समुद्घात के किस समय में केवली को कौन-सा काययोग होता है?

उत्तर—केवली भगवन्त का शरीर औदारिक होने के कारण प्रथम एवं अन्तिम समय में औदारिक काययोग होता है। दूसरे, छठे तथा सातवें समय में औदारिक मिश्र काययोग होता है तथा तीसरे, चौथे व पाँचवे समय में कार्मण काययोग होता है।

मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव मरण को प्राप्त नहीं होता, अतः मिश्र दृष्टि गुणस्थान में जीव की विग्रहगति सम्भव नहीं होती है।

गाथा ५६,५७,५८, में योगों की स्थिति इस प्रकार है—

१. मिथ्यादृष्टि, सासादन तथा अविरतसम्यग्दृष्टि में तेरह योग—चार प्रकार का मनोयोग, चार प्रकार का वचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र तथा कार्मण काययोग— ये तेरह योग होते हैं।

२. मिश्रदृष्टि में दस योग—चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिककाययोग तथा वैक्रियकाययोग होते हैं।

३. देशविरति में ग्यारह योग—उपर्युक्त दस एवं वैक्रियमिश्रयोग होते हैं।

४. प्रमत्त संयत में तेरह योग—उपर्युक्त ग्यारह तथा आहारकद्विक योग होते हैं।

५. अप्रमत्त से क्षीणमोही में नौ योग—चार मनोयोग, चार वचनयोग तथा औदारिककाययोग होते हैं।

६. सयोगी केवली को सात योग—सत्य और असत्य-अमृषा रूप मनोयोग तथा वचनयोग— ये ४ एवं औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण (समुद्घात करते समय) योग होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. अयोगी में योग का अभाव— योगरहित होने के कारण एक भी योग नहीं होता है।

वेद तथा कषाय मार्गणा

वेद तथा कषाय में गुणस्थान

नेरइया य नपुंसा तिरिक्खमणुया तिवेयया हुंति।
देवा य इत्थिपुरिसा गेविज्जाई पुरिसवेया।।५९।।

अनियट्टन्त नपुंसा सन्नीपंचिंदिया य थीपुरिसा।
कोहो माणो माया नियट्टि लोभो सरागंतो।।६०।।

गाथार्थ— नारकों में मात्र नपुंसक वेद, तिर्यंच तथा मनुष्यों में तीनों वेद, वैमानिक देवों में स्त्री और पुरुष— यह दो वेद तथा ग्रैवेयक आदि देवों में मात्र पुरुषवेद होता हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में अनिवृत्तिबादरसम्पराय नामक गुणस्थान तक स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक— ये तीन वेद होते हैं। क्रोध, मान और माया— ये तीन कषाय भी अनिवृत्तिबादरसम्पराय तक होते हैं, किन्तु लोभ सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक रहता है।

स्त्रीवेद— जैसे पित्त से मधुर पदार्थ की रुचि होती है उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती हैं, उसी को स्त्री वेद कहते हैं।

पुरुषवेद— जैसे कफ से खट्टे पदार्थ की रुचि होती है वैसे ही जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, उसे पुरुष वेद कहते हैं।

नपुंसक वेद— जैसे पित्त और कफ के प्रभाव से मद्य के प्रति रुचि होती है उसी तरह जिस कर्म के उदय से नपुंसक को स्त्री-पुरुष दोनों साथ रमण करने की अभिलाषा होती है, उसे नपुंसक वेद कहते हैं।

(अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग,६, पृष्ठ,१४२७)

(बृहद्कल्प, उद्देशक ४) (कर्मग्रन्थ १/२२)।

विवेचन— वेद अर्थात् पुरुष को स्त्री से, स्त्री को पुरुष से तथा नपुंसक को दोनों (स्त्री-पुरुष) से भोग करने के जो भाव होते हैं, उसे वेद कहते हैं। वेद भी दो प्रकार के हैं — १. द्रव्यवेद अर्थात् शारीरिक संचरना तथा २. भाववेद अर्थात् काम वासना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यवेद शारीरिक संरचना को और भाववेद तत्सम्बन्धी कामवासना को कहते हैं। यह वासनाजन्य भाव कहाँ तक बने रहते हैं, उसका उत्तर जीवसमास की गाथा ६० में दिया गया है।

दसवें गुणस्थान में कामवासनाजन्य भावों का अभाव होता है क्योंकि वेद अर्थात् कामवासना का अन्त नवें गुणस्थान में ही हो जाता है, उसके पश्चात् मात्र द्रव्यलिंग अर्थात् शारीरिक संरचना रहती है परन्तु तद्जन्य भाव नहीं रहते हैं।

सूक्ष्मलोभ को छोड़कर अन्य कषाय भी अनिवृत्तिबादर सम्पराय नामक गुणस्थान तक ही होते हैं, अर्थात् तीनों वेद तथा तीनों कषाय नवें गुणस्थान तक ही रहते हैं उससे आगे नहीं। वेदत्रिक और कषायत्रिक का उदय नवें गुणस्थान में समाप्त हो जाता है। (कर्मग्रन्थ २/१८,१९)।

ज्ञान मार्गणा

आभिणिसुओहिमणकेवलं च नाणं तु होइ पंचविहं।
उग्गह ईह अवाय धारणाऽऽभिणिबोहियं चउहा।।६१।।

गाथार्थ— आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यव ज्ञान तथा केवलज्ञान— ये पाँच प्रकार के ज्ञान हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान भी चार प्रकार का हैं— १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा।

विवेचन

१. मतिज्ञान— अभि अर्थात् सम्मुख रहे पदार्थ का जो बोध कराये वह आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) है।

२. श्रुतज्ञान— सुनकर अथवा शास्त्र को पढ़कर जो ज्ञान हो वह श्रुतज्ञान है।

३. अवधिज्ञान— इन्द्रियों की सहायता के बिना एक निश्चित अवधि (सीमा-क्षेत्र) तक की भौतिक वस्तुओं का ज्ञान होना अवधिज्ञान है।

४. मन:पर्यवज्ञान— इन्द्रियों की सहायता के बिना संज्ञी जीव के मनोगत भावों को जान लेना मन:पर्यवज्ञान है।

५. केवलज्ञान— जो ज्ञान परिपूर्ण है, जिसमें त्रिकाल, त्रिलोक का बोध एक समय में हो जाता है तथा जो आत्मद्रव्य के पूर्णत: निर्मल होने पर होता है, वह ज्ञान केवलज्ञान है।

पंचहिवि इंदिएहिं मणसा अत्थोग्गहो मुणेयव्वो।
चक्खिंदियमणरहियं वंजणमीहाइयं छद्धा।।६२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ—अवग्रह पाँच इन्द्रियों तथा मन से होता है। व्यंजनावग्रह मन तथा चक्षु को छोड़कर मात्र चार इन्द्रियों से होता है। ईहा, अवाय और धारणा पाँच इन्द्रियों तथा मन से होने के कारण वे छह-छह प्रकार के हैं।

विवेचन

१. **अवग्रह**— दो प्रकार का होता है— (क) व्यंजनावग्रह तथा (ख) अर्थावग्रह।

(क) व्यंजनावग्रह— चार प्रकार का होता है। मन तथा चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से पदार्थ का संयोग होने पर जो अव्यक्त स्पर्शानुभूति होती है, वह व्यंजनावग्रह है।

(ख) अर्थावग्रह— व्यंजनावग्रह की अपेक्षा व्यक्त किन्तु ईहा, अवाय की अपेक्षा सूक्ष्मबोध अर्थावग्रह है। पाँच इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से होने वाले इस ज्ञान में बोध की अस्पष्टता रहती है। मात्र इतना भान होता है कि कुछ है परन्तु यह क्या है इसका स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाता है।

२. **ईहा**—आकाश में किसी वस्तु को उड़ता हुआ देखकर, यह विचार करना कि यह पतंग है या कोई पक्षी - ईहा है।

३. **अवाय**—यह पंतग ही है— ऐसा निर्णय लेना अवाय है।

४. **धारणा**—निर्णित पदार्थ को बुद्धि में धारण कर लेना धारणा है। जिससे कालान्तर में उसे देखने पर तुरन्त निर्णय दिया जा सके कि यह वही वस्तु है जिसे मैंने पूर्व में देखा था।

अंगपविट्ठियरसुय ओहि भवे पतिगुणं च विन्नेयं।
सुरनारएसु य भवे भवं पति सेसमियरेसुं।।६३।।

गाथार्थ— श्रुत के दो भेद हैं— अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। इस प्रकार अवधिज्ञान के भी भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय— ये दो भेद हैं। देवों तथा नारकों में भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा शेष अर्थात् मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

विवेचन— श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—

१. **अंगप्रविष्ट**—आचारांग आदि ग्यारह अंग तथा दृष्टिवाद को अंगप्रविष्ट कहा गया हैं।

२. **अंगबाह्य**—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक आदि अंगबाह्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवधिज्ञान के भी दो भेद हैं—

१. **भवप्रत्यय**—जन्म से पाया जाने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। यह देवों तथा नारकी को होता है।

२. **गुणप्रत्यय**—आत्मनिर्मलता, तप आदि से जिस अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है उसे गुणप्रत्यय कहा जाता है। यह मनुष्यों तथा तिर्यंचों को होता है।

अणुगामि अवट्ठिय हीयमाणमिइ तं भवे सपडिवक्खं ।
उज्जुमई विउलमई मणनाणे केवलं एक्कं ।।६४।।

गाथार्थ— अनुगामी, अवस्थित (अप्रतिपाती), हीयमान तथा इन तीनों के प्रतिपक्षी अर्थात् विपरीत-अननुगामी, अनवस्थित (प्रतिपाती) तथा वर्धमान ये छः प्रकार के अवधिज्ञान हैं। ऋजुमति तथा विपुलमति ये मनःपर्यवज्ञान के दो भेद हैं। केवलज्ञान अकेला होता है उसका कोई भेद नहीं है।

विवेचन— अवधिज्ञान के छह भेद हैं —

१. **अनुगामी अवधिज्ञान**—जो एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाने पर भी सदैव साथ रहे उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

२. **अननुगामी अवधिज्ञान**— जो क्षेत्रान्तर होने पर साथ न जाये वह अननुगामी अवधिज्ञान है।

३. **अवस्थित (अप्रतिपाती) अवधिज्ञान**—जो उत्पन्न होने के बाद जीवन पर्यन्त जाता नहीं है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है। ऐसा अवधिज्ञान देव तथा नारकी में होता है। मनुष्यों को भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान हो सकता है।

४. **अनवस्थित (प्रतिपाती) अवधिज्ञान**—जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् चला जाता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। यह मनुष्यों एवं तिर्यंचों में पाया जाता है।

५. **हीयमान अवधिज्ञान**—जो पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान निरन्तर घटने वाला हो वह हीयमान अवधिज्ञान है।

६. **वर्धमान अवधिज्ञान**—जो प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान निरन्तर बढ़ने वाला हो वह अवधिज्ञान वर्धमान कहलाता है।

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं—

१. **ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान**—जो मन के स्थूल क्रमबद्ध पर्यायों को और उनके विषय को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. विपुलमति मन:पर्ययज्ञान— जो मन के पर्यायों के विषय को विशेष रूप से, अधिक गहराई से जानता है वह विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है।

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति विशुद्धतर होता है, क्योंकि वह सूक्ष्मतर विषयों को भी स्पष्टतया जानता है। ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कभी नष्ट भी हो जाता है पर विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त बना रहता है।

अवधिज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान का अन्तर

१. शुद्ध— अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान अधिक शुद्ध है, क्योंकि अवधिज्ञान नरकादि में भी है परन्तु मन:पर्ययज्ञान मात्र मनुष्य को ही होता है।

२. क्षेत्र— अवधिज्ञान का क्षेत्र सम्पूर्णलोक तक हो सकता है जबकि मन:पर्ययज्ञान का क्षेत्र मात्र मानुषोत्तर पर्वत तक है। अत: क्षेत्र की अपेक्षा इसका क्षेत्र कम है।

३. स्वामी— अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं परन्तु मन:पर्यय के स्वामी मात्र संयमी साधु ही हो सकते हैं।

४. विषय— अवधिज्ञान का विषय रूपी-द्रव्य है परन्तु मन:पर्ययज्ञान का विषय तो उस रूपी द्रव्य का भी अनन्तवाँ भाग मात्र मनोद्रव्य है।

केवलज्ञान— अकेला होता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के तीसवें सूत्र में कहा है "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों और उनकी सभी पर्यायों में होती है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के मति एवं श्रुत ज्ञान को अज्ञान क्यों कहा गया है?

उत्तर— आत्म-अनात्मविवेक के अभाव में सारे ही ज्ञान अज्ञानवत् हैं जैसे शिक्षित, सुन्दर, सम्पन्न, सत्ता एवं सम्मान को प्राप्त पुत्र भी यदि माता-पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता, उनका विनय नहीं करता है तो वह सुपुत्र नहीं कहलाकर कुपुत्र ही कहलाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान रूप ही होता है।

ज्ञान एवं गुणस्थान

मइसुय मिच्छा साणा विभंग समणे य मीसए मीसं ।
सम्मच्छउमाभिणिसुओहि विरयमण केवल सनामे ।।६५।।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एवं सास्वादन गुणस्थान में मति तथा श्रुत अज्ञान रूप हैं। मिथ्यादृष्टि समनस्क प्राणी के अवधिज्ञान को भी विभंगज्ञान कहा जाता है। अत: प्रथम तीन ज्ञान अज्ञानरूप भी हो सकते हैं। मिश्र गुणस्थान में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञान भी मिश्रज्ञान होते हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति से लेकर छद्मस्थ अवस्था तक अर्थात् सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह तक मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं। किसी विरतमुनि को उक्त तीनों ज्ञानों के साथ मनःपर्ययज्ञान भी हो सकता है। सयोगी केवली एवं अयोगी केवली को स्वनामानुरूप केवलज्ञान होता है।

विवेचन— प्रथम दो गुणस्थानों में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान अज्ञानरूप होता है। समनस्क प्राणी के सास्वादन गुणस्थान की अवस्था में आंशिक सम्यग्दर्शन की उपस्थिति होती है फिर भी इस गुणस्थान में उसे अनंतानुबंधी कषाय के उदय से दूषित होने के कारण अज्ञानरूप माना है। यही कारण है कि इस गुणस्थान में मात्र मति, श्रुत एवं विभंग ये तीन अज्ञान ही स्वीकार किये गये हैं।

शेष गाथा का अर्थ स्पष्ट है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के कारण मात्र मति, श्रुत एवं अवधि ये तीन ज्ञान ही होते हैं अज्ञान नहीं। संयमी/सर्वविरत के अधिकतम चार ज्ञान एक साथ हो सकते हैं। केवली को तो मात्र केवलज्ञान होता है।

८. संयम मार्गणा

संयम एवं गुणस्थान

अजया अविरयसम्मा देसे विरया य हुंति सट्ठाणे ।
सामाइयछेयपरिहारसुहुमअहक्खाइणो विरया ।।६६।।

गाथार्थ— अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान तक सम्यक्चारित्र नहीं होता है। देशविरति चारित्र पाँचवें गुणस्थान में ही होता है। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यातचारित्र सर्वविरत को होते हैं।

विवेचन

१. मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र तथा अविरत सम्यग्दृष्टि वाले सभी जीव असंयत होते हैं।

२. संयतासंयत रूप चारित्र देशविरतिगुणस्थान में होता है।

३. सर्वविरत संयमी को पाँचों चारित्र अर्थात् सामायिक; छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात होते हैं।

नोट— पाँचों चारित्रों का विस्तृत विवेचन जानने हेतु आगे गाथा १४३ की व्याख्या देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामाइयछेया जा नियट्टि परिहारमप्पमत्तंता।
सुहुमा सुहुमसरागे उवसंताइं अहक्खाया ।।६७।।

गाथार्थ— सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र-प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान से अनिवृत्ति बादरसम्पराय नामक नवें गुणस्थान तक होते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है तथा यथाख्यातचारित्र उपशान्त मोह आदि अन्तिम चार गुणस्थानों में होता है।

विवेचन— सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र चार गुणस्थानों अर्थात् प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थानों में होता है। परिहार विशुद्धि अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्म संपराय चारित्र दसवें गुणस्थान में तथा यथाख्यातचारित्र उपशान्त नामक ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान तक रहता है।

नोट— प्रथम चार गुणस्थानों में संयम न होने से चारित्र का अभाव है। पाँचवें गुणस्थान में भी संयमासंयम होने से देशविरत चारित्र है। अतः पाँच चारित्रों का विकासक्रम छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

श्रमणों के प्रकार

समणा पुलाय बउसा कुसील निग्गंथ तह सिणाया य ।
आइतियं सकसाई वियराय छउमा य केवलिणो ।।६८

गाथार्थ— श्रमणों के पाँच प्रकार हैं— १. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रंथ तथा ५. स्नातक। इनमें पुलाक, बकुश और कुशील ये तीन सकषायी हैं। निर्ग्रंथ-वीतराग किन्तु छद्मस्थ होते हैं। स्नातक केवली होते हैं।

विवेचन— चारित्र का सद्भाव होने पर भी मोहनीय कर्म की विचित्रता के कारण श्रमणों के कई प्रकार हो जाते हैं। जैन परम्परा में श्रमणों के पाँच प्रकारों की चर्चा है—

१. पुलाक— जैसे धान काटने के बाद उसके पुले बाँध कर ढेर लगा देते हैं। उस ढेर में धान कम और भूसा एवं घास अधिक होता है ऐसे ही जिन श्रमणों में गुण कम एवं दुर्गुण अधिक हों उन्हें पुलाक कहा जाता है।

२. बकुश— जिस प्रकार छिलके सहित धान में धान और भूसा दोनों होते है, ऐसे ही जो श्रमण गुण-अवगुण दोनों के धारक होते हैं वे बकुश कहे जाते हैं। उनके दो भेद हैं— १. उपकरण बकुश एवं २. शरीर बकुश। ऐसे श्रमण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्र आदि उपकरणों में ममत्व रखने के कारण उपकरण बकुश तथा शरीर के प्रति ममत्व रखने के कारण शरीर बकुश कहलाते हैं।

३. कुशील—जो संयम पालन करते हुए भी इन्द्रियाधीन बनकर मूल गुणों या उत्तरगुणों की विराधना कर दोष लगा लेते हैं किन्तु पुनः पश्चात्ताप कर लेते हैं वे कुशील कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं— १. प्रतिसेवना कुशील तथा २. कषाय कुशील। आचार के नियमों का भंग करने वाले प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं। संज्वलन कषायों के उदय से क्रोधादि के आवेश में आ जाने वाले कषाय-कुशील होते हैं।

४. निर्ग्रंथ—जैसे तेज हवा चलने पर धान का भूसा उड़ जाने के बाद धान में मात्र कुछ कंकर शेष रह जाते हैं ऐसे ही चारित्र के बहुत कुछ शुद्ध हो जाने पर जिनमें अत्यल्प दोष रह जाते हैं, वे मुनि निर्ग्रंथ कहे जाते हैं। ये मुनि अपने मूलगुणों या उत्तरगुणों में कोई दोष नहीं लगाते हैं परन्तु इनमें किञ्चिद् लोभ अर्थात् अपने अस्तित्व का लोभ शेष रहता है। इनके भी दो प्रकार हैं १. उपशान्त कषायी एवं २. क्षीण कषायी। राख से ढके हुए अंगारे के समान जिनका कषाय पूर्णतः निर्मूल नहीं होता, वे उपशान्त कषायी हैं। पानी से बुझे हुए अंगारे के समान जिनके कषाय पूर्णतः समाप्त हो गये हैं वे क्षीणकषायी कहे जाते हैं।

५. स्नातक—जैसे कंकरों को निकालकर, धान को धोकर, साफ कर लिया जाता है ऐसे ही घाती कर्मरूपी मैल को धोकर साफ कर देने वाले मुनि स्नातक या केवली कहलाते हैं। ये केवली भी दो प्रकार के हैं— १. सयोगी केवली तथा २. अयोगी केवली। योग अर्थात् मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति शेष रहने पर सयोगी तथा योग का निरोध हो जाने पर अयोगी केवली कहा जाता है। इन पाँच प्रकारों के भी पाँच-पाँच प्रकार ठाणांग, स्थान ५ उद्देशक ३ सूत्र ४४५; भगवतीशतक २५, उद्देशक ६, सूत्र ७५१ के टिप्पण एवं पंचनिर्ग्रंथीप्रकरण गाथा ४१ में बताये गये हैं।

९. दर्शन मार्गणा

दर्शन एवं गुणस्थान

चउरिंदियाइ छउमे चक्खु अचक्खू य सव्व छउमत्थे।
सम्मे य ओहिदंसी केवलदंसी सनामे य।।६९।।

गाथार्थ— अचक्षुदर्शन सभी छद्मस्थ प्राणियों को होता है किन्तु चतुरेन्द्रिय से लेकर छद्मस्थ अवस्था तक के प्राणियों को चक्षुदर्शन भी होता है। सम्यग्दृष्टि में अवधि दर्शन होता है तथा केवली में केवलदर्शन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. चक्षुदर्शन—चक्षु अर्थात् आंखों के माध्यम से पदार्थ की अनुभूति करना।

२. अचक्षुदर्शन— चक्षु के बिना अन्य इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थ की अनुभूति करना।

३. अवधि दर्शन— आत्मा की निर्मलता से अथवा भवप्रत्यय से बिना इन्द्रियों की सहायता से निश्चित सीमा क्षेत्र तक के पदार्थों की अनुभूति करना।

४. केवल दर्शन— परिपूर्ण निर्मल आत्मा के द्वारा समग्र लोक के पदार्थों की त्रैकालिक अवस्थाओं का बोध होना।

१०. लेश्या मार्गणा

लेश्या एवं गुणस्थान

किण्हा नीला काऊ अविरयसम्मंत संजयंतऽपर ।
तेऊ पम्हा सण्णऽप्पमायसुक्का सजोगंता ।।७०।।

गाथार्थ—कृष्ण, नील एवं कापोत— ये तीन लेश्याएँ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती हैं। एक अन्य मत के अनुसार ये तीनों लेश्याएँ प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक भी होती हैं। तेजस् और पद्म ये दो लेश्याएँ समनस्क मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक हो सकती हैं। शुक्ल लेश्या मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगी केवली गुणस्थान तक हो सकती है।

विवेचन—शुक्ल लेश्या तो प्रथम से लेकर अन्तिम सयोगी केवली गुणस्थान तक हो सकती है। उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास में क्रमशः अशुभ लेश्याएँ छूटती जाती हैं। तीन अशुभ लेश्याएँ चौथे अथवा मतान्तर से छठे गुणस्थान तक ही होती है उसके आगे नहीं। तेजोलेश्या एवं पद्मलेश्या अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती है। अयोगी केवली तो लेश्या से रहित होते हैं।

लेश्या किसे कहते हैं यह आगे स्पष्ट किया जाता है—

लेश्या विवेचन

१. श्रीहरिभद्रसूरि ने आवश्यक टीका पृष्ठ ६४५/१ पर प्रमाण रूप से एक प्राचीन श्लोक दिया है जिसका अर्थ है— आत्मा का सहज स्वरूप स्फटिक के समान निर्मल है, उसके जो कृष्ण, नील आदि भिन्न-भिन्न परिणाम अनेक रंग वाले पुद्गल विशेष के प्रभाव से होते हैं उन्हें लेश्या कहते हैं।

२. पंचसंग्रह गाथा १४२ के अनुसार जिसके द्वारा जीव पुण्य और पाप से अपने आपको लिप्त करता है अर्थात् उनके आधीन होता है ऐसी कषाय अनुरंजित योग प्रवृत्ति को गणधरों ने लेश्या कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है वह लेश्या है।

४. उत्तराध्ययन की बृहद् वृत्ति में लेश्या का अर्थ आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।

५. यापनीय आचार्य शिवार्य ने भगवतीआराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के परिणामों (मनोभावों) को लेश्या माना है।

जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है— १. द्रव्य लेश्या और २. भाव लेश्या। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है और भावलेश्या मनोवृत्ति रूप है।

१. द्रव्यलेश्या— द्रव्यलेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से बनी वह संरचना है जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है, जिस प्रकार पित्त द्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रुद्धता आती है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल मात्रा में होता है उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है।

२. भावलेश्या— यह लेश्या आत्मा के अध्यवसाय या अन्त:करण की वृत्ति है। भाव-लेश्या मनोगत भाव है जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर तथा मन्दतम आदि अनेक भेद होने से भाव लेश्या अनेक प्रकार की है तथापि संक्षेप में ६ भेद बताकर जैन दर्शन में उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्त मनोभाव
१. कृष्णलेश्या –तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव	४. तेजोलेश्या – मन्द प्रशस्त मनोभाव
२. नीललेश्या –तीव्र अप्रशस्त मनोभाव	५. पद्मलेश्या – तीव्र प्रशस्त मनोभाव
३. कापोतलेश्या –मंद अप्रशस्त मनोभाव	६. शुक्ललेश्या – तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

दृष्टान्त— इन छ: भेदों को समझने के लिए शास्त्रों में दो दृष्टान्त दिये गये हैं। छ: पुरुष मार्ग में चले जा रहे थे। मार्ग में उन्हें भूख लगी और उसी समय उन्होंने एक जामुन का वृक्ष देखा। उसे देख एक व्यक्ति ने कहा कि वृक्ष के ऊपर चढ़ने की अपेक्षा हम इस वृक्ष के काट कर गिरा दें और फलों से अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लें। यह सुनकर दूसरे ने कहा— वृक्ष को काटने से क्या लाभ? केवल इसकी शाखाओं को काट देने से भी अपना काम बन जायेगा। तीसरे ने कहा— यह उचित नहीं है, हम मात्र छोटी-छोटी प्रशाखाओं या डालियों को तोड़कर भी अपनी क्षुधा शान्त कर सकते हैं। तब चौथे ने कहा— छोटी शाखा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी क्यों तोड़े? हम फलों का गुच्छा तोड़कर भी अपना काम चला सकते है तब पाँचवें ने कहा नहीं-नहीं गुच्छे से भी हमें क्या मतलब है? हमें मात्र पके हुए जामुन चाहिये अतः पके हुए जामुन तोड़कर हम अपना पेट भर लेंगे। तब ही उत्तम भावों में जीने वाला छठा व्यक्ति बोल उठा— हमें केवल पके हुए फल चाहिये। पके हुए जामुन के फल जमीन पर ही इतने गिरे हुए हैं कि उनको उठाकर खाने से भी हम सभी की क्षुधा शान्त हो जायेगी।

दूसरा दृष्टान्त—छः पुरुष धन लूटने के इरादे से जा रहे थे रास्ते में किसी गाँव को देखकर एक ने कहा— इस गाँव को तहस-नहस कर दो। पशु-पक्षी मनुष्य जो मिले सभी को मार कर धन ले लो, दूसरे कहा— पशु-पक्षी या अबोध बालकों को क्यों मारना-केवल स्त्री-पुरुषों को ही मारना। तीसरे ने कहा— स्त्रियों को नहीं मारना, मात्र पुरुषों को ही मारना। चौथे ने कहा— सब पुरुषों को भी नहीं मारना चाहिए मात्र शस्त्रधारी को मारना। पाँचवें ने कहा—शस्त्रधारी में भी मात्र प्रतिकार करने वाले को मारना। छठे ने कहा— हमें धन से प्रयोजन है अतः किसी को भी न मारते हुए किसी भी युक्ति से धन हरण कर लो। एक तो किसी का धन लेना फिर उसे मार भी देना यह उचित कार्य नहीं है। इन दो दृष्टान्तों से लेश्याओं के उत्तरोत्तर विकास की मनोभूमियों को स्पष्ट जाना जा सकता है। चित्तवृत्ति या मनोदशा की अशुभतम से लेकर शुभतम तक की अवस्थाओं को ही क्रमशः कृष्णं, नीलादि नाम दिये गये हैं।

कृष्णलेश्यावाला व्यक्ति— अतिरौद्र परिणामी, महाक्रोधी, महाईर्ष्यावाला, अत्यन्त पापी, निर्दयी और बात-बात में वैर विरोध खड़ा करने वाला तथा धर्मभावना से रहित होता है। ऐसा व्यक्ति मरकर नरक में जाता है।

नीललेश्यावाला व्यक्ति—आलसी, जड़बुद्धि, स्त्री लम्पट, परवञ्चक, डरपोक, अभिमानी, हठप्रिय होता है। यह मरकर प्रायः एकेन्द्रिय जीवों में जन्म लेता है।

कापोतलेश्यावाला व्यक्ति—शोक सन्ताप में निमग्न, महारोषी, स्वप्रशंसक, परनिन्दक, एवं लड़ने में मजबूत होता है तथा मरकर प्रायः निकृष्ट तिर्यञ्चगति में जाता है।

तेजोलेश्यावाला व्यक्ति— विद्वान्, दयालु, कार्याकार्य का विचारक, लाभालाभ का ज्ञाता तथा जीव मात्र के प्रति प्रेम वाला होता है, मरकर मनुष्यगति में जाता है।

पद्मलेश्यावाला व्यक्ति—क्षमाशील, सरलस्वभावी, दानी, अहिंसक, व्रतों का पालक, पवित्राशयी और धर्मपरायण होता है तथा मरकर देवगति में जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुक्ललेश्यावाला व्यक्ति— रागद्वेष रहित, हर्ष-शोक रहित, परोपकारी, परमात्म गुण विलासी होता है तथा मरकर मोक्ष में जाता है। (उपदेशप्रासाद, स्तम्भ १, व्याख्यान २२६ से उद्धृत)।

इन लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि का विचार निम्न प्रकार से मिलता है—

कृष्णलेश्या—कृष्ण लेश्या का पुद्‌गल-द्रव्य—वर्ण की अपेक्षा से भैंसे के तुल्य कृष्णवर्ण का, गंध की अपेक्षा से मृत कलेवर से भी अनन्तगुना दुर्गन्धयुक्त, रस की अपेक्षा से कड़वी तुम्बी, नीम से अनन्तगुना कटु तथा स्पर्श की अपेक्षा से अनन्तगुना खुरदरा होता है।

नीललेश्या—नीललेश्या का पुद्‌गल द्रव्य— वर्ण की अपेक्षा से वैडूर्य मणि के समान वर्णवाला, गन्ध की अपेक्षा से मृत कलेवर से कुछ कम दुर्गन्ध वाला, रस की अपेक्षा से त्रिफला, सौंठ एवं पीपलामूल से अनन्तगुना तीखा स्वादवाला तथा स्पर्श की अपेक्षा से जीभ के स्पर्श से अनन्तगुना खुरदरा होता है।

कापोतलेश्या—कापोत लेश्या से सम्बन्धित पुद्‌गल द्रव्य— वर्ण की अपेक्षा से कबूतर की गर्दन के जैसा रंग वाला, गन्ध की अपेक्षा से नील लेश्या की गन्ध से कुछ कम दुर्गन्ध वाला, रस की अपेक्षा से कच्ची केरी, आंवला, कोलु के स्वाद से अनन्तगुना खट्टा एवं कषैला तथा स्पर्श की अपेक्षा से भाजी के पत्तों के स्पर्श से अनन्तगुना कठोर होता है।

तेजोलेश्या—तेजोलेश्या से सम्बन्धित पुद्‌गल द्रव्य— वर्ण की अपेक्षा से हिंगलु, प्रवाल, सूर्यकिरण, तोते की चोंच एवं दीपक की ज्योति के समान, गन्ध की अपेक्षा से सुगन्धित इत्र के समान, रस की अपेक्षा से पके हुए आम, पके केले से अनन्तगुना मिष्ट रस वाला, स्पर्श की अपेक्षा से आकड़े की रुई, मक्खन, शिरीष के फूल से अनन्तगुना कोमल स्पर्शवाला होता है।

पद्मलेश्या— पद्मलेश्या का पुद्‌गल द्रव्य— वर्ण की अपेक्षा से चूरी हुई हल्दी, सन के फूल के समान, गन्ध की अपेक्षा से तेजोलेश्या की गन्ध से अधिक सुगन्ध, रस की अपेक्षा से द्राक्ष के रस से अनन्तगुना मीठे रस वाला तथा स्पर्श की अपेक्षा से तेजोलेश्या के स्पर्श से अधिक कोमल स्पर्श वाला होता है।

शुक्ललेश्या—शुक्ललेश्या से सम्बन्धित द्रव्य— वर्ण की अपेक्षा से शंख, कुन्द, दुग्ध, श्वेतपुष्प के समान रंग वाला, गन्ध की अपेक्षा से तेजोलेश्या की गन्ध से अधिक सुगन्धवाला, रस की अपेक्षा से खजूर, द्राक्ष, खीर, शक्कर के स्वाद से अनन्तगुना मीठे स्वादवाला तथा स्पर्श की अपेक्षा तेजोलेश्या के स्पर्श से अधिक कोमलतम जानना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथ्वीकाय आदि में लेश्या

पुढविदगहरिय भवणे वण जोइसिया असंखनर तिरिया ।
सेसेगिंदियवियला तियलेसा भावलेसाए ।।७१।।

गाथार्थ—पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय, भवनपति, व्यन्तर, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च तथा मनुष्य को कृष्ण, नील, कापोत तथा तेजस् ये चार लेश्याएँ हो सकती है। ज्योतिष्क देवों में तेजोलेश्या ही होती है। शेष एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय जीवों में कृष्ण, नील एवं कपोत ये तीन लेश्याएँ भावरूप में होती हैं।

विवेचन—प्रश्न यह उठता है कि गाथा के पूर्वार्द्ध भाग में चार लेश्याओं के नाम का उल्लेख न होने पर भी चार लेश्याएँ किस आधार पर ग्रहीत की गई हैं। इसका उत्तर यह है कि गाथा के पूर्वार्द्ध में चार लेश्याओं का उल्लेख न होने पर भी उत्तरार्द्ध में तीन लेश्याओं के उल्लेख को देखकर पूर्वार्द्ध में चार लेश्याओं का अध्याहार कर लिया गया है।

प्राचीन ग्रन्थों में तेजस्काय और वायुकाय में तीन लेश्याएँ बताई गयी हैं अत: पृथ्वीकाय, अप्काय आदि में चार लेश्याएँ मान लेनी चाहिये।

दूसरा प्रश्न यह है कि अग्निकाय एवं वायुकाय में मात्र द्रव्यलेश्या मानना या भावलेश्या मानना? ग्रन्थकार ने अन्त में भावलेश्या शब्द का उल्लेख करके द्रव्य एवं भाव दोनों लेश्याओं की ओर संकेत किया है। मात्र अपर्याप्तावस्था में पूर्वार्द्ध में कहे अनुसार पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में चौथी तेजस् द्रव्य लेश्या जानना, क्योंकि पृथ्वीकाय, अप्काय तथा वनस्पतिकाय में भवनपति व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्मादि प्रथम दो देवलोक के देव च्वय कर उत्पन्न हो सकते हैं। देवगति में उन्हें तेजस् लेश्या होती है अत: तीनों एकेन्द्रियों की अपर्याप्तावस्था में चौथी तेजस् लेश्या भी बताई गई है।

सामान्यतया तो संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य एवं तिर्यञ्च द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा से छहों लेश्या वाले होते हैं और संमूर्च्छिम मनुष्य तथा संमूर्च्छिम तिर्यञ्च कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यावाले होते हैं किन्तु अधिकतर मनुष्यों को कृष्णादि चार लेश्या होने के कारण गाथा में उपलक्षण से चार लेश्याओं का उल्लेख हुआ है।

सात नरकों में लेश्या का प्रतिपादन

काऊ काऊ तह काउनील नीला य नीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाईणं।।७२।।

गाथार्थ— कापोत, कापोत, कापोतनील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण तथा परम-कृष्ण लेश्याएँ क्रमश: रत्नप्रभादि सात नरकों में होती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन—प्रथम रत्नप्रभा नरक में कापोत लेश्या होती है दूसरी शर्कराप्रभा में क्लिष्टतर कापोत लेश्या होती है। तीसरी बालुकाप्रभा के ऊपरी भाग में क्लिष्टतम कापोत लेश्या तथा नीचे के भाग में नील लेश्या होती है। चौथी पंक प्रभा में नीलतर लेश्या होती है। धूमप्रभा (पांचवीं) नरक के ऊपरी प्रतर में नीलतम तथा नीचे के प्रतर में कृष्ण लेश्या होती है। छठी तमप्रभा में कृष्णतर तथा सातवीं तमप्रभा में कृष्णतम लेश्या होती है।

उक्त सातों नारकों में सातों द्रव्य-लेश्या जानना चाहिए। भाव लेश्या तो सातों नरक में छह ही हैं। क्योंकि सप्तम नरक में भी सम्यग्दर्शन का सद्भाव है तथा सम्यग्दर्शन के सद्भाव में तेजोलेश्यादि तीन शुभ लेश्याएँ भी पाई जाती हैं।

वैमानिकों में लेश्या निरूपण

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ।।७३।।

गाथार्थ—तेजोलेश्या, तेजोलेश्या, तेजोपद्म, पद्म, पद्म-शुक्ल, शुक्ल तथा परमशुक्ल लेश्या शक्रादि विमानवासियों में क्रमशः होती हैं।

विवेचन—शक्र अर्थात् सौधर्म देवलोक में तेजोलेश्या है। ईशान में कुछ विशुद्धतर तेजोलेश्या है। सनत्कुमार में कुछ देवों को तेजलेश्या तथा कुछ ऊपर वालों को पद्मलेश्या है। माहेन्द्र देवलोक में मात्र पद्मलेश्या है। ब्रह्मदेवलोक में कुछ को पद्म तथा कुछ को शुक्ल लेश्या है। लान्तक से अच्युत तक तथा नवग्रैवेयक में शुक्ललेश्या है। क्रमशः ऊपर के देवलोकों में शुक्ललेश्या विशुद्धतर होती जाती है। अनुत्तरविमान में परम शुक्ललेश्या होती है।

द्रव्य एवं भाव लेश्या

देवाण नारयाणं दव्वल्लेसा हवंति एयाउ ।
भवपरित्तीए उण नेरइयसुराण छल्लेसा ।।७४।।

गाथार्थ—देव तथा नारकी जीवों के सम्बन्ध में पूर्वगाथा में जो लेश्याएँ बताई गई हैं वे द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से हैं। परन्तु इन जीवों में भाव परिवर्तन होता रहता है अतः देवों तथा नारकी जीवों में छहों भाव लेश्याएँ सम्भव हैं।

विवेचन—पूर्व गाथाओं में देवों तथा नारकी जीवों की जिन लेश्याओं का कथन किया गया है वे द्रव्य लेश्याएँ हैं। भावलेश्या तो देवों तथा नारकी जीवों दोनों को ही छह-छह हो सकती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. भव्य मार्गणा

भव्य एवं गुणस्थान

मिच्छद्दिट्ठि अभव्वा भवसिद्धीया स सव्वठाणेसु ।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा ।।७५।।

गाथार्थ— अभव्य जीवों को मात्र एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। तद्भव में सिद्ध होने वाले जीवों को सभी गुणस्थान सम्भव है। सिद्ध जीव न भव्य होते हैं न अभव्य होते हैं— ऐसा जानना चाहिये।

विवेचन— अभव्य जीव कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते हैं अत: वे सदैव मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में ही रहते हैं। उसी भव में मोक्ष जाने वाले जीवों में मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान से लेकर अयोगीकेवली गुणस्थान तक सभी गुणस्थान सम्भव होते हैं। सिद्ध आत्माएँ न भव्य होती हैं न अभव्य, क्योंकि मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता के आधार पर ही जीव को भव्य या अभव्य कहा जाता है। मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् जीव न भव्य रहता है और न अभव्य। सिद्धि के बाद तो वह सिद्ध कहलाता है। अत: सिद्ध भव्य-अभव्य दोनों ही कोटियों से परे हैं।

१२. सम्यक्त्व मार्गणा

मइसुयनाणावरणं दंसणमोहं च तदुवघाईणि ।
तप्फड्डुगाइं दुविहाइं सव्वदेसोवघाईणि ।।७६।।

गाथार्थ— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा दर्शनमोहनीय ये तीनों सम्यग्दर्शन के उपघातक हैं। इनके स्पर्धक दो प्रकार के हैं— देशघाती तथा सर्वघाती।

प्रश्न— मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण क्रमश: मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान को आवरित करते हैं, फिर उन्हें सम्यग्दर्शन का घातक क्यों कहा गया?

उत्तर— सम्यग्दर्शन के होने पर ही मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान होते हैं तथा सम्यग्दर्शन के अभाव में ये दोनों ज्ञान अज्ञान रूप होते हैं। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान सम्यग्दर्शन के सहचारी होने से ऐसा कहा गया है, क्योंकि जो एक का घातक है वही दूसरे का भी घातक होता है। मूल में सम्यग्दर्शन का उपघातक तो दर्शनमोहनीय ही है। इन तीनों के कर्म परमाणुरूप स्कन्धों के रस-समूह को स्पर्धक कहा गया है। यह स्पर्धक दो प्रकार के होते हैं, देशघाती तथा सर्वघाती।

जो स्पर्धक स्वयं के ज्ञानादि गुण को सम्पूर्ण रूप से हनन करे, वे सर्वघाती तथा जो ज्ञानादि गुणों का आंशिक रूप से हनन करे, वे देशघाती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पर्धक में शुभ तथा अशुभ दो प्रकार का रस होता है। शुभ को गाय के दूध आदि की उपमा वाला तथा अशुभ को नीम के रस की उपमा वाला समझना चाहिये।

एक स्थानीय रस—जो दूध या गन्ने का रस उबला हुआ नहीं है उसकी मिठास एक स्थानीय रस कहा जाता हैं। उस रस में चुल्लू, अर्धचुल्लू, द्रोण आदि पानी डालते जाने से उसके मन्द, मन्दतर आदि कई भेद हो जाते हैं पर फिर भी वह दूध ही कहलाता है। ऐसे ही एकस्थानीय रस में तरतमता होने पर भी वह एकस्थानीय रस रहता है।

द्विस्थानीय रस—उस रस को उबालकर आधा कर देने पर उसे द्विस्थानीय रस कहा जाता है। उसमें भी पानी, चुल्लू, अर्धचुल्लू आदि डाले जाने पर उसके भी कई भेद बनते हैं पर फिर भी उसे द्विस्थानीय रस ही कहा जाता है।

त्रि व चतुःस्थानीय रस—ऐसे ही उसको उबालने पर तीसरा या चौथा भाग शेष रहे उसमें भी बूँद, चुल्लू आदि पानी डालते जाने पर तरतमता आयेगी, उसे त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय रस कहा जायेगा।

इसमें एकस्थानीय रस को शुभ, द्विस्थानीय को शुभतर, त्रिस्थानीय रस को शुभतम तथा चतुर्थस्थानीय रस को अतिशुभतम कहा जायेगा। यहाँ शुभ रस की विचारणा की, ठीक इसके विपरीत स्वभाव वाला अशुभ रस भी इसी प्रकार जान लेना चाहिये।

यहाँ चतु:स्थानीय तथा त्रिस्थानीय सभी अशुभरस स्वयं के स्वाभाविक गुण को सम्पूर्ण रूप से हनन करने वाले होने से सर्वघाती हैं। द्विस्थानीय तो कुछ देशघाती तथा कुछ सर्वघाती हैं। एकस्थानीय तो मात्र देशघाती ही है।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्म से सम्बन्धित स्पर्धक दो प्रकार के हैं देशघाती तथा सर्वघाती।

देशघाती तथा सर्वघाती स्पर्धक क्या करते हैं इसका वर्णन आगे गाथा में किया गया है—

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण

सव्वेसु सव्वघाइसु हएसु देसोवघाइयाणं च ।
भागेहि मुच्चमाणो समए समए अणंतेहिं ।।७७।।

गाथार्थ—सभी सर्वघाती स्पर्धक (कर्मवर्गणा रूपी पुद्‌गल के स्कन्धों) का क्षय करते हुए तथा देशघाती स्पर्धकों के अनन्तभाग को प्रति समय छोड़ते हुए जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— कितने ही चतुःस्थानीय तथा त्रिस्थानीय सर्वघाती स्पर्धक तथा कितने ही द्विस्थानीय सर्वघाती स्पर्धकों के विशुद्ध अध्यवसाय के बल से सम्पूर्ण रूप से उच्छेद होने पर और देशघाती कर्म प्रकृतियों के कितने ही स्पर्धकों के अनन्त भाग का प्रत्येक समय में त्याग करते हुए देशघाती स्पर्धकों के रस का भी जब अनन्तवां भाग बाकी रहे तब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है अन्य दूसरी प्रकार से नहीं। अभी तक सम्यग्दर्शन प्राप्ति का कारण बताया, अब तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन को बताते हैं।

सम्यग्दर्शन के तीन प्रकार

खणमुइण्णं सेसयमुवसंतं भण्णए खओवसमो ।
उदयविघाय उवसमो खओ य दंसणतिगाघाओ ।।७८।।

गाथार्थ— दर्शनमोहनीय कर्म की उदय में आयी हुई कर्म प्रकृतियों को क्षय कर देना और उदय में आने वाली कर्म प्रकृतियों को उपशमित कर देना क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है। दर्शनमोहनीय के उदय को कुछ समय तक रोक देना औपशमिक सम्यग्दर्शन है तथा दर्शनमोहनीय त्रिक का पूर्णतः क्षय कर देना क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

विवेचन— उदय में आये हुए दर्शन मोहनीय का क्षय करना तथा जो सत्ता में हैं उन्हें अपना फल देने से रोके रखना क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है। दर्शन मोहनीय के उदय को कुछ समय के लिए रोकना औपशमिक सम्यग्दर्शन है। उदय में आये हुए तथा सत्ता में रहे हुए दर्शनमोहत्रिक (मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह तथा सम्यक्त्वमोह) को क्षय कर देना क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न— क्षायोपशमिक तथा औपशमिक सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है?

उत्तर— क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में सम्यक्त्वमोहनीय का विपाकोदय तथा मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन में इन दोनों में से किसी का भी उदय नहीं होता है।

प्रश्न— विपाकोदय और प्रदेशोदय में क्या अन्तर है?

उत्तर— विपाकोदय में जीव कर्म के फल का अनुभव करता है— जैसे बिना बेहोश किये ऑपरेशन करने पर चीर-फाड़ की वेदना का अनुभव होता है।

जबकि प्रदेशोदय में जीव कर्मफल का उदय होने पर उसका सुखदुःखात्मक अनुभव नहीं करता है। यथा— मूर्च्छावस्था में किया गया ऑपरेशन। यहाँ चीर-फाड़ होने के कारण पीड़ा की घटना घटित होती है परन्तु बेहोशी के कारण व्यक्ति को उसका अनुभव नहीं होता। जो कर्म बिना सुख-दुःख का संवेदन कराये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं उनका प्रदेशोदय मानना चाहिये। जैसे— ईर्यापथिक कर्म।

प्रश्न—मूलगाथा में सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु दर्शनमोहत्रिक का ही घात कहा है, दर्शनमोहत्रिक एवं कषायचतुष्क का घात नहीं, ऐसा क्यों? क्योंकि अन्यत्र तो सम्यग्दर्शन घाती सप्त अर्थात् दर्शनमोहत्रिक एवं अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के घात को क्षायिक सम्यग्दर्शन का कारण कहा है?

उत्तर—सत्य यह है कि दर्शनत्रिक मुख्यत: सम्यग्दर्शन का अवरोधक है अत: उसके क्षय से ही क्षायिक सम्यक्त्व का प्रकटीकरण होता है। दर्शनमोहत्रिक का क्षय उसका सीधा कारण है और अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का क्षय परोक्ष कारण है क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क के क्षय होने पर ही दर्शनत्रिक का क्षय होता है। अत: दर्शनमोहत्रिक या दर्शन अवरोधक सप्तक में कोई विरोध नहीं है। एक का क्षय उसका प्रत्यक्ष कारण है और दूसरे का क्षय परोक्ष कारण है अत: अपेक्षा भेद से ऐसा कहा जाता है।

सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसे निर्हेतुक नहीं मान सकते क्योंकि जो वस्तु निर्हेतुक हो, उसे सर्वकाल में एवं सर्वत्र एक रूप होना चाहिये अथवा उसका अभाव होना चाहिये। सम्यक्त्व के परिणाम न तो सब जीवों में समान होते हैं और न उनका पूर्णत: अभाव होता है इसलिए वह सहेतुक है।

सहेतुक मान लेने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका नियत हेतु क्या है? प्रवचनश्रवण, प्रतिमापूजन आदि बाह्य निमित्त तो सम्यक्त्व के नियत कारण हो ही नहीं सकते, क्योंकि इन बाह्य निमित्तों के होते हुए भी अभव्यों की तरह ही अनेक भव्यों को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्व के प्रकट होने में नियत कारण जीव का भव्यत्व नामक स्वभाव विशेष है जब इस पारिणामिक भव्यत्व स्वभाव का परिपाक होता है तभी सम्यक्त्व लाभ होता है। भव्यत्व परिणाम साध्य रोग के समान है, कोई साध्य रोग स्वयमेव शान्त हो जाता है, किसी साध्य रोग को शान्त करने में वैद्य आदि की आवश्यकता पड़ती है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है जो बहुत दिनों के बाद मिटता है। भव्यत्व भी ऐसा ही स्वभाव है, अनेक जीवों का भव्यत्व बाह्य निमित्त के बिना भी परिपाक को प्राप्त करता है किन्तु ऐसे भी जीव हैं जिनके भव्यत्व स्वभाव का परिपाक होने में शास्त्र श्रवणादि बाह्य निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है। ये बाह्य निमित्त सहकारी कारण मात्र हैं। इसी से व्यवहार में वे सम्यक्त्व के कारण माने गये हैं परन्तु निश्चयदृष्टि से तो भव्यत्व के स्वभाव के परिपाक को ही सम्यक्त्व का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अव्यभिचारी (नियत) कारण मानना चाहिये। इसमें शास्त्रश्रवण, प्रतिमापूजन आदि बाह्य निमित्त कभी कारण रूप बनते हैं और कभी नहीं भी बनते हैं, यह अधिकारी भेद पर अवलम्बित है। इसका स्पष्टीकरण उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" (तत्त्वार्थ १/३) नामक सूत्र से किया है। यही बात पंचसंग्रह (१/८ की टीका) में आचार्य मलयगिरि ने भी कही है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन का प्रगटीकरण उसकी घातक कर्मप्रकृतियों का स्वाभाविक रूप से क्षय, क्षयोपशम या उपशम हो जाने पर भी होता है अथवा शास्त्रश्रवण आदि अथवा बाह्य निमित्तों के कारण भी होता है, किन्तु वह सदैव ही सहेतुक होता है निर्हेतुक नहीं।

सम्यग्दर्शन तथा गुणस्थान

उवसमवेयग खइया अविरयसम्माइ सम्मदिट्ठीसु।
उवसंतमप्पमत्ता तह सिद्धंता जहाकमसो ।।७९।।

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि में उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक) तथा क्षायिक इन तीन में से एक सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अप्रमत्त गुणस्थान तक है। उपशम सम्यग्दर्शन ग्यारहवें गुणस्थान तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धावस्था तक यथाक्रम पाया जाता है।

विवेचन—इन तीनों में से कोई एक सम्यग्दर्शन सभी सम्यक्त्वी जीवों में पाया जाता है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन— उपशम श्रेणी में आरोहण करने वाले जीवों में ग्यारहवें गुणस्थान तक हो सकता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—अप्रमत्त संयत नामक सप्तम गुणस्थान तक ही पाया जाता है. क्योंकि उसके बाद आठवें गुणस्थान से जीव की विकास यात्रा दो श्रेणियों में विभाजित हो जाती है— १. औपशमिक और २. क्षायिक। अतः क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान के पश्चात् नहीं रहता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—यह प्रगट होने के पश्चात् विनष्ट नहीं होता है, अतः वह चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक ही नहीं अपितु सिद्धावस्था में भी रहता है।

प्रश्न—क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्धावस्था तक समान रूप से होता है, ऐसा क्यों कहा जाता है?

उत्तर—शक्कर चखने पर सदैव मीठी ही होगी, यह बात अलग है कि उसकी मात्रा कम-ज्यादा हो। परन्तु उसकी मिठास में अन्तर नहीं होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभिन्न गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन की मात्रा में अन्तर हो सकता है परन्तु गुणवत्ता में अन्तर नहीं होता है। अतः क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों से लेकर सिद्धावस्था तक समान कहा गया है।

वेमाणिया य मणुया रयणाए असंखवासतिरिया य।
तिविहा सम्मद्दिट्ठी वेयगउवसामगा सेसा॥८०॥

गाथार्थ— वैमानिक देव, मनुष्य, रत्नप्रभा नारकी के नारक तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च, इन सभी में तीनों प्रकार के सम्यक्त्व हो सकते हैं। शेष सभी जीवों को या तो क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

विवेचन-वैमानिकों में तीन प्रकार का सम्यक्त्व कैसे होता है ?

वैमानिक देवों में अनादि काल से मिथ्यादृष्टि रहा हुआ कोई जीव जब प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो अन्तरकरणकाल (गाथा के अन्त में स्पष्टीकरण किया गया है) के काल में उसको प्रथम अन्तर्मुहूर्त में मात्र औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही शुद्ध सम्यक्त्व के पुञ्ज प्रदेशों को संवेदन करने पर उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इसी प्रकार यदि कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला मनुष्य या तिर्यञ्च मरकर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है तो उसे भी पारभविक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

जब कोई मनुष्य वैमानिक देव का आयुष्य बाँधने के पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो वह आयुष्य का बंध हो जाने के कारण आगे की श्रेणी आरोहण नहीं करता है अर्थात् उसका मोक्ष सम्बन्धी विकास क्रम रुक जाता है क्योंकि अग्रिम गुणस्थानों में श्रेणी आरोहण करने पर तो निश्चय मोक्ष होगा। ऐसा मनुष्य मरकर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। अतः वैमानिक देवों को पारभविक क्षायिक सम्यक्त्व भी हो सकता है। वैमानिक देव के तद्भविक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ मात्र मनुष्य भव में ही होता है।

मनुष्यों में तीन प्रकार का सम्यग्दर्शन संभव है

संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों को तीनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शन तद्भविक हो सकते हैं किन्तु जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त देव मनुष्य जन्म ग्रहण करता है तो उसे पारभविक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त देव जब मनुष्य बनता है तो उसे पारभविक क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों को औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वैमानिक देवों के समान ही जानना चाहिये। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन वाला मनुष्य या तिर्यञ्च मरकर वैमानिक देवों में उत्पन्न हो सकता है परन्तु जिन जीवों ने क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में ही आयु का बन्ध कर लिया हो तो ऐसे जीव यदि असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य बनें तो वे मरते समय सम्यक्त्व का वमन करके ही उत्पन्न होते हैं। इन जीवों को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है, यह कर्मग्रन्थकारों का मत है। जबकि आगमिक मत यह है कि बद्धायुष वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव इनमें उत्पन्न होते हैं। इन जीवों को पारभविक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो वैमानिक देवों के समान ही जानना चाहिये।

नरक में तीनों सम्यग्दर्शन

रत्नप्रभा नारकी के जीवों को औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन वैमानिक देवों की तरह होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों की तरह जानना चाहिये।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों का सम्यग्दर्शन

असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों में तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्व असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों की तरह जानना चाहिये।

प्रश्न—क्षायिक सम्यग्दर्शन से युक्त वासुदेव आदि की उत्पत्ति तीसरी नरक तक बताई गई है किन्तु यहाँ तो शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा में क्षायिक सम्यक्त्व का निषेध किया गया है ऐसा क्यों है?

उत्तर— यह प्रश्न उचित है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व के धारक जीव अधिकांशतया तो प्रथम नरक तक ही जा सकते हैं उसके आगे तो पूर्व में आयुष्य का बंध कर लेने वाले क्वचित् जीव ही जाते हैं अतः सामान्य की अपेक्षा से ऐसा कहा गया होगा, विशेष तत्त्व तो केवलीगम्य है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को तो तद्भविक या पारभविक किसी भी अपेक्षा से तीनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है, वे सदैव ही मिथ्यादृष्टि होते हैं।

अब आगे "अन्तरकरण" का स्पष्टीकरण किया जाता है—

अन्तरकरण

जिस प्रकार वेग से प्रवाहित होने वाली सरिता की धारा में पर्वत से गिरा कोई पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते गोल, चिकना एवं चमकदार हो जाता है उसी प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल परावर्तन काल प्रवाह में अनेक कष्टों या दुःखों को सहता हुआ जीव चरमावर्त में पहुँच जाता है। इस समय उसके अध्यवसाय शुद्ध हो जाते हैं। इन शुद्धवसायों में से ग्रन्थि-स्थान तक पहुँचाने वाले अध्यवसाय को **यथाप्रवृत्तिकरण** कहते हैं। जीव कें विशेष पुरुषार्थ के बिना ही अपने आप प्रवर्तमान होने वाला यह यथाप्रवृत्तिकरण जीव को अनन्त बार हो सकता है। परन्तु जो जीव ग्रन्थिभेद करने वाला होता है, उसके अध्यवसाय अपूर्व होते हैं। इस अपूर्व अध्यवसाय के कारण ही इस करण को **अपूर्वकरण** कहा जाताहै। अपूर्वकरण की कालावधि केवल अन्तर्मुहूर्त होती है। ग्रन्थिभेद के पश्चात् जीव को **अनिवृत्तिकरण** नामक अध्यवसाय होता है। यह सभी ग्रन्थिभेद करने वालों को समान होता है। ग्रन्थिभेद के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही जीव को **सम्यग्दर्शन** की उपलब्धि होती है किन्तु उसकी प्राप्ति हेतु अनिवृत्तिकरण की अवस्था में जीव को **अन्तरकरण** की विशिष्ट प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं। ग्रन्थिभेद करने के उपरान्त मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की जो स्थिति होती है उसमें प्रथम अन्तर्मुहूर्त को छोड़कर द्वितीय अन्तर्मुहूर्त में शेष रहे हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गलों को अनिवृत्तिकरण अध्यवसाय द्वारा ऊपर-नीचे खिसकाकर मध्य में अन्तर्मुहूर्त जितना स्थान मिथ्यात्व के दलिकों से विहीन (शून्य स्थान या पोलाई) बनाते हैं। इस दलिकविहीन शून्य स्थान बनाने को अन्तरकरण कहा जाता है। उक्त अन्तरकरण के प्रयत्न से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म-स्थिति दो भागों में विभाजित हो जाती है। अन्तरकरण के प्रारम्भ समय से नीचे की स्थिति तथा अन्तिम समय की ऊपर की स्थिति।

उपशम सम्यक्त्व के अनुभव द्वारा जब अन्तरकरण की अवधि पूर्ण होने लगती है तब कम से कम एक तथा अधिक से अधिक छः आवलिका जितना समय शेष रहने पर किसी संयोगवश अनन्तानुबन्धी का उदय हो जाता है। तब वह अधिकाधिक छः आवलिका तक सासादन गुणस्थान का अनुभव, स्पर्श करता है। सौभाग्यवश जिन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता वे उपशम सम्यक्त्व के अनुभवकाल में मिथ्यात्व की स्थिति में रहे कर्मदलिकों में से कितने ही दलिकों को शुद्ध अध्यवसाय द्वारा धोकर स्वच्छ बना लेते हैं तथा कितने ही को अर्ध स्वच्छ। फिर भी कितने ही दलिक पूर्ववत् मलिन बने रहते हैं। इस तरह मिथ्यात्व पुद्गलों के तीन भाग में विभाजित करने की प्रक्रिया को त्रिपुंजीकरण कहते हैं। यह इस प्रकार है—

१. अति स्वच्छ पुद्गलों को सम्यक्त्व मोहनीय,

२. अर्ध स्वच्छ पुद्गलों को मिश्र मोहनीय,

३. अशुद्ध, अस्वच्छ पुद्गलों को मिथ्यात्व मोहनीय कहा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होते ही इन तीनों में से कोई भी स्थिति भवितव्यता वश उदित होती है।

अन्तरकरण करने हेतु आत्मा ग्रन्थि भेद करने के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र भावी अन्तरकरण की अवधि में स्थित मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के दलिकों को ऊपर एवं नीचे स्थित दलिक-पुंज में मिला देता है परिणामस्वरूप अन्तर्मुहूर्त जितनी अत्यल्पावधि में ही दलिक विरहित अन्तराल निर्मित हो जाता है। इसे ही अन्तरकरण प्रक्रिया कहते है। यह क्रिया अनिवृत्तिकरण के शेष काल में की जाती है। अन्तरकरण का प्रथम समय आ पहुँचने पर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के किसी भी दलिक के उदय न होने से ऊपर निर्दिष्ट अन्यावस्था में रहा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सर्वथा अनुदित/उपशमित हो जाने के कारण उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय जीव का आनन्द अपूर्व एवं अवर्णनीय होता है।

— जैनतत्त्वज्ञान चित्रावलीप्रकाश, पृष्ठ ३८-३९

१३. संज्ञी मार्गणा

संज्ञीद्वार एवं गुणस्थान

असण्णि अमणपंचिंदियंत सण्णी उ समण छउमत्था।
नोसण्णिनो असण्णी केवलनाणी उ विण्णेआ।।८१।।

गाथार्थ—असंज्ञी (विवेकरहित) जीवों में मन रहित पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव समाहित हैं। संज्ञी (विवेकयुक्त) जीवों में मनसहित सभी छद्मस्थ जीव समाहित हैं। केवलज्ञानी न तो संज्ञी होते हैं और न असंज्ञी होते हैं, क्योंकि वहाँ विचार-विकल्प का अभाव है।

विवेचन— यहाँ संज्ञी (विचारसहित) एवं असंज्ञी (विचाररहित) जीवों में विभेदक रेखा खींची गई है।

असंज्ञी वे जीव हैं जिन्हें मन नहीं है, इन्हें सम्मूर्च्छिम भी कहा जाता है। ये असंज्ञी जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं। माता-पिता के संयोग के बिना स्वतः जन्म लेने वाले जीव असंज्ञी कहे जाते हैं। ये जीव पानी, मिट्टी, गन्दगी आदि में स्वतः ही उत्पन्न होते हैं।

संज्ञी जीव का जन्म गर्भ या उपपात से होता है। इनमें गर्भजपंचेन्द्रियतिर्यञ्च, गर्भजमनुष्य, नारक तथा देव आते हैं।

मनोलब्धि अर्थात् चिन्तन या विचार सामर्थ्य से रहित जीव असंज्ञी कहे गये हैं। असंज्ञी जीवों को अपर्याप्तावस्था में कभी-कभी सास्वादन नामक दूसरा गुणस्थान हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संज्ञी जीवों को प्रथम से लेकर बारहवाँ गुणस्थान तक हो सकता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली न तो संज्ञी होते हैं और न असंज्ञी।

प्रश्न—केवली न संज्ञी हैं न असंज्ञी हैं ऐसा क्यों कहा जाता है?

उत्तर—केवली में मन का प्रवृत्ति-पूर्वक भूत-भविष्य का चिन्तन नहीं होता। वे केवलज्ञान के प्रकाश में अतीत एवं अनागत सभी विषयों को जानते हैं अतः उनमें मन के विकल्प, स्मरण, चिन्ता आदि नहीं होते, अतः वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते। दूसरी ओर मनोलब्धि सम्पन्न होने के कारण उन्हें असंज्ञी भी नहीं कहा जा सकता अतः केवली न संज्ञी हैं और न असंज्ञी। वे इन दोनों से अतीत होते हैं।

संज्ञा का तात्पर्य आभोग अर्थात् मानसिकक्रिया विशेष से है। इसके ज्ञान और अनुभव ये दो भेद हैं—

(क) ज्ञानसंज्ञा—इसके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच प्रकार हैं।

(ख) अनुभवसंज्ञा—इसके सोलह भेद इस प्रकार हैं— (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओघ, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) शोक और (१६) जुगुप्सा।

आचाराङ्ग निर्युक्ति-गाथा ३८, ३९ में तो अनुभव संज्ञा के ये १६ भेद किये गये हैं। लेकिन भगवतीसूत्र के शतक ७ के उद्देशक ८ में तथा प्रज्ञापना पद ८ में इनमें से प्रथम १० भेद ही निर्दिष्ट हैं।

ये सब संज्ञाएँ जीव में न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में ज्ञान चेतना का विकास क्रमशः अधिकाधिक है। उनके इस विकास के तर-तम के भाव को समझाने के लिए शास्त्र में इसके स्थूल रीति से चार विभाग किये गये हैं—

१. ओघसंज्ञा—पहले विभाग में ज्ञान का विकास अत्यल्प है। यहाँ ज्ञान विकास इतना अल्प होता है कि जीव मूर्च्छित अवस्था में रहते हैं और इनमें संवेदन मात्र होता है। इस अव्यक्ततर चैतसिक विकास को ओघसंज्ञा कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव ओघसंज्ञा वाले होते हैं।

२. हेतुवादोपदेशिक संज्ञा—दूसरे विभाग में ज्ञान का विकास इतना होता है कि जीव भूतकाल का (सुदीर्घभूतकाल का नहीं) स्मरण कर सकता है जिससे इष्ट में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट में निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक ज्ञान को हेतुवादोपदेशिक संज्ञा कहा जाता है। यह संज्ञा विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय को होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. दीर्घकालोपदेशिक संज्ञा—तीसरे विभाग में सुदीर्घभूत काल में अनुभव किये हुए विषयों के स्मरण के द्वारा वर्तमान काल के कर्तव्यों का निश्चय किया जाता है। मन की सहायता से होने वाले इस ज्ञान को दीर्घकालोपदेशिक संज्ञा कहा जाता है। यह समस्त समनस्क संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में पाई जाती है।

४. दृष्टिवादोपदेशिक संज्ञा—चौथे विभाग में विशिष्ट श्रुतज्ञान द्वारा व्यक्ति में हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक प्रकट हो जाता है। यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य जीवों में सम्भव नहीं होता है। इस विशुद्ध ज्ञान को दृष्टिवादोपदेशिक संज्ञा कहते हैं।

१४. आहारक मार्गणा

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा।।८२।।

गाथार्थ— विग्रहगति कर रहे जीव, केवलीसमुद्घात कर रहे केवली, अयोगीकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं। शेष सभी जीव आहारक होते हैं।

विवेचन— अनाहारक जीवों के दो प्रकार होते हैं छद्मस्थ और वीतराग। वीतराग में जो अशरीरी हैं वे सदा अनाहारक ही हैं परन्तु जो शरीरधारी हैं वे केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे तथा पाँचवें समय में अनाहारक होते हैं। अयोगी केवली भी अनाहारक होते हैं।

छद्मस्थ जीव अनाहारक तभी होते हैं जब वे विग्रहगति कर रहे होते हैं। तत्त्वार्थकार ने लिखा है—

"विग्रहगति च संसारिण: प्राक् चतुर्भ्य: (तत्त्वार्थ २/२९)

"एकं द्वौ वानाहारक: (तत्त्वार्थ २/३१)

एक विग्रह (मोड़) वाली गति जिसकी काल मर्यादा दो समय की है उसके दोनों समय में जीव आहारक होता है। दो विग्रह अर्थात् मोड़ वाली गति जिसका काल तीन समय का है और तीन विग्रह वाली गति जिसका काल चार समय है इनमें भी प्रथम एवं अन्तिम समय में तो जीव आहारक होता है परन्तु बीच के समय में अनाहारक अवस्था पायी जाती है। दो विग्रह वाली गति में मध्य के एक समय तक और तीन विग्रह वाली गति में प्रथम तथा अन्तिम समय को छोड़कर बीच के दो समय पर्यन्त जीव अनाहारक स्थिति में रहता है। टीका में व्यवहार नय के अनुसार पाँच समय के परिणाम वाली चतुर्विग्रह वाली गति के मतान्तर को लेकर जीव को तीन समय तक भी अनाहारक बतलाया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौदह जीव समास (गुणस्थान) में चौदह मार्गणाएँ

१. गति—देव, नारकी में प्रथम चार, तिर्यञ्च में पाँच तथा मनुष्य में चौदह गुणस्थान हैं एवं अपर्याप्त (लब्धि) जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि नामक एक गुणस्थान होता है।

२. इन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय जीवों तक मात्र एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तथा पंचेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं।

३. काया—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक मिथ्यात्व गुणस्थान तथा त्रसकाय में चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं।

४. योग—तीन योगों में तेरह गुणस्थान होते हैं और इसके बाद अयोगी केवली गुणस्थान में योग का अभाव है।

५. वेद— तीनों वेदों में मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबांदर तक नौ गुणस्थान होते हैं तथा अवेदियों में अनिवृत्ति से लेकर अयोगीकेवली तक छः गुणस्थान होते हैं।

६. कषाय—प्रथम से दसवें गुणस्थान तक कषाय रहते हैं। ग्यारह से चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव अकषायी होते हैं।

७. ज्ञान-अज्ञान—मति एवं श्रुत अज्ञान तथा विभंगज्ञान में मिथ्यादृष्टि व सास्वादनसम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान होते हैं। मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक (नौ) गुणस्थान हैं। मनः पर्यवज्ञान में प्रमत्त संयत से क्षीणकषाय तक (सात) गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान में सयोगी-केवली एवं अयोगी केवली ये दो गुणस्थान होते हैं।

८. संयम—प्रमत्त संयत से अयोग केवली गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं। सामायिक संयत और छेदोपस्थापनीय संयत जीव प्रमत्त संयत से लेकर अनिवृत्तिबादरगुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि चरित्र वाले संयत जीव प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में होते हैं। सूक्ष्मसंपराय चरित्र वाले संयत जीव एकमात्र सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में होते हैं। यथाख्यात चरित्र वाले संयत जीव उपशान्त कषाय गुणस्थान से लेकर अयोगीकेवली गुणस्थान तक होते हैं। संयतासंयत जीव मात्र देशविरत गुणस्थान में होते हैं। असंयत जीव प्रारम्भ के चार गुणस्थान में होते हैं।

९. दर्शन—चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान होते हैं। अवधिदर्शन में असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान होते हैं। केवल दर्शन में सयोगी और अयोगी ये दो गुणस्थान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. लेश्या— कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान होते हैं। पीत और पद्म लेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयम तक सात गुणस्थान होते हैं। शुक्ललेश्या में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं किन्तु अयोगी केवली जीव लेश्या रहित होते हैं।

११. भव्य—भव्यों में चौदह गुणस्थान होते हैं किन्तु अभव्य जीवों में मात्र प्रथम गुणस्थान होता है।

१२. सम्यक्त्व—क्षायिक सम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगी केवली तक ग्यारह गुणस्थान हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थान हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तकषाय तक आठ गुणस्थान हैं। सम्यगमिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि अपने-अपने गुणस्थान में होते हैं।

१३. संज्ञा—संज्ञियों में क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान होते हैं। असंज्ञियों में एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। संज्ञा-असंज्ञा से रहित जीव सयोग केवली और अयोग केवली इन दो गुणस्थानों में होते हैं।

१४. आहार—आहारकों में मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगीकेवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं। विग्रहगति को प्राप्त अनाहारकों में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि तथा असंयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। समुद्घातगत सयोगकेवली और अयोगकेवली अनाहारक होते हैं। सिद्ध भगवान गुणस्थानातीत हैं।

(तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका १/८)।

उपयोग

नाणं पंचविहं पिय अण्णाणतिगं च सव्व सागारं ।
चउदंसणमणगारं सव्वे तल्लक्खणा जीवा ।।८३।।

गाथार्थ—ज्ञान के पाँच प्रकार तथा अज्ञान के तीन प्रकार हैं। ये सभी साकार (सविकल्प) उपयोग हैं। चारों ही दर्शन अनाकार (निर्विकल्प) उपयोग हैं। ये जीव के उपयोग रूप लक्षण हैं।

विवेचन—किसी पदार्थ का संवेदन और ज्ञान होना-उपयोग है। दूसरे शब्दों में जीव के द्वारा किसी अर्थ (वस्तु) का बोध उपयोग है। यह उपयोग दो प्रकार का है— १. साकार और २. अनाकार। उसमें ग्रहण करने योग्य अर्थ से सम्बन्धित साकार अर्थात सविकल्प जो उपयोग है वह ज्ञान है तथा ग्राह्य अर्थ सम्बन्धित अनाकार अर्थात् निर्विकल्प उपयोग है, वह दर्शन है। सांकारोपयोग अर्थात् ज्ञान के आठ प्रकार तथा अनाकार अर्थात् दर्शन के चार प्रकार हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क. साकारोपयोग (ज्ञान) के भेद— १. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधि-ज्ञान, ४. मन:पर्यवज्ञान, ५. केवलज्ञान, ६. मति-अज्ञान, ७. श्रुत-अज्ञान तथा ८. विभंगज्ञान।

ख. अनाकारोपयोग (दर्शन) के भेद— १. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन।

प्रश्न— साकार और अनाकार उपयोग में क्या अन्तर है?

उत्तर— जो बोधवस्तु को विशेष रूप से जानने वाले हैं वे साकारोपयोग हैं। जैसे— यह आम का पेड़ है।

जो वस्तु के सामान्य रूप को जानने वाला है वह अनाकारोपयोग है। जैसे— यह कुछ है।

प्रश्न—उपयोग को सामान्य-विशेषात्मक कहा गया है यह तो समझ में आ गया है, परन्तु दर्शनोपयोग को अनाकार कहा गया यह स्पष्ट नहीं हुआ।

उत्तर— प्रत्येक उपयोग अन्ततः साकार अर्थात् सविकल्प होता है, किन्तु अपनी उत्तर अवस्था की अपेक्षा से पूर्व-पूर्व अवस्थाओं में वह अनाकार अर्थात् निर्विकल्प कहा जाता है। प्रत्येक विशेष ज्ञान में भी जो सामान्य का ग्रहण है उसकी अपेक्षा से ज्ञान के पूर्व की अवस्था को दर्शन कहा जाता है। अतः दर्शन अनाकार अर्थात् निर्विकल्प होता है।

उपसंहार

एवं जीवसमासा बहुभेया वन्निया समासेणं ।
एवमिह भावरहिया अजीवदव्वा उ विन्नेया।।८४।।

गाथार्थ—इस प्रकार मैंने बहुत भेद वाले जीवसमासों का संक्षेप में वर्णन किया। अब इसी प्रकार भाव रहित अर्थात् चेतना रहित अजीव द्रव्यों को भी जानना चाहिये।

विवेचन—इस प्रकार यहाँ जीवों के मिथ्यादृष्टि, सास्वादन आदि गुणस्थानों की अपेक्षा से तथा गति, इन्द्रियादि मार्गणाओं की अपेक्षा से विवेचन किया गया है।

अब जीव का वर्णन करने के पश्चात् आगे अजीव का वर्णन करेंगे।

अजीव

तेण उण धम्माधम्मा आगास अरूविणो तहा कालो ।
खंधा देस पएसा अणुत्तिऽवि य पोग्गला रूवी ।।८५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गइठाणवगाहूणलक्खणाणि कमसो य वत्तणगुणो य।
रूवरसगंधफासाइ कारणं कम्मबंधस्स ।।८६।।

—सत्प्ररूपणाद्वारं १।

गाथार्थ— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल— ये सभी अरूपी अजीव द्रव्य हैं। पुद्गल—स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु के रूप में रूपी द्रव्य है।

उपर्युक्त चारों द्रव्य क्रम. से गति, स्थिति, अवगाहन तथा परिवर्तन लक्षण वाले हैं। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणवाला कर्मबन्धन का कारणभूत पुद्गल द्रव्य है।

विवेचन— पूर्वगाथाओं में जीव द्रव्य का विभिन्न दृष्टियों से विवेचन किया गया था। अब अजीव द्रव्य की सामान्य जानकारी दी जाती है। अजीव द्रव्य—अरूपी तथा रूपी ऐसे दो प्रकार का है। इनमें भी अरूपी द्रव्य चार प्रकार का है— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल।

जीव तथा पुद्गल के गति में सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार उनको स्थिर रहने में सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय है। पदार्थों को अवकाश देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है तथा पदार्थों के परिवर्तन में सहायक द्रव्य काल है।

रूप चक्षुइन्द्रिय का, गन्ध घ्राणेन्द्रिय का, रस जिह्वेन्द्रिय का तथा स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय का विषय है। इन इन्द्रिय विषयों का निमित्त पाकर ही जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बंध करता है।

कारण की उपस्थिति में ही प्रायः कार्य की निष्पत्ति सम्भव है। अतः कहा गया है कि यह पुद्गल द्रव्य कर्मबन्धन का कारण है। यद्यपि कर्मबन्धन में यह निमित्त मात्र है उपादान कारण तो आत्मा के रागादि भाव हैं। कार्य निष्पत्ति में सहायक होने से इन्हें निमित्त कारण कहा जाता है। यद्यपि ये निमित्त ज्ञानी के लिए बन्धन का कारण नहीं होते हैं। ज्ञानी तो इन बन्धन के कारणों को ही मोक्ष का कारण बना लेते हैं।

प्रथम सत्प्ररूपणाद्वार समाप्त

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिमाण-द्वार

१. द्रव्य (परिमाण)

दव्वे खेत्ते काले भावे य चउव्विहं पमाणं तु ।
दव्वपएसविभागं पएसमेगाइयमणंतं ।।८७।।

गाथार्थ—द्रव्य क्षेत्र, काल तथा भाव— ये चार प्रकार के परिमाण हैं। इसमें द्रव्य परिमाण के प्रदेशपरिमाण (अविभाज्य परिमाण) तथा विभागपरिमाण (विभाज्य परिमाण)— ये दो भेद हैं। द्रव्य का प्रदेश परिमाण (अर्थात् प्रदेशों की संख्या के आधार पर एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश तक जानना चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ में परिमाण के अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग हुआ है अत: प्रमाण शब्द के विभिन्न अर्थ जान लेना अपेक्षित है।

प्रमाण शब्द का अर्थ—बोलचाल की भाषा में प्रमाण शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। शब्दकोश में प्रमाण के निम्न अर्थ दिये गये हैं यथा— यथार्थज्ञान, मान, माप, प्रमाप, परिमाण, संख्या आदि।

प्रमाण शब्द "प्र" तथा "माण" इन दो शब्दों से निष्पन्न है। जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से पदार्थ को जाना जाय या मापा जाये वह प्रमाण है।

इसमें द्रव्यप्रमाण (परिमाण) के दो भेद हैं— (१) प्रदेश और (२) विभाग। द्रव्य का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश प्रदेश कहा जाता है। पदार्थ से अलग हुआ यह प्रदेश ही परमाणु कहा जाता है। कोई भी द्रव्य/पदार्थ एक प्रदेशी से लेकर अनन्त प्रदेशी हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से प्रमाण का विवेचन गाथा संख्या ८७ से १४० तक किया है।

अनुयोगद्वारसूत्र में भी प्रमाण का विस्तार से वर्णन किया गया है। स्थानाङ्ग सूत्र स्थान ४ में "चउव्विहे पमाणे पन्नते" कहकर चार प्रमाणों का विवरण दिया गया है।

प्रस्तुत गाथाओं में प्रमाण शब्द का प्रयोग मुख्यत: माप-तौल सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं के विवेचन के सन्दर्भ में हुआ है। अत: इस सन्दर्भ में हमने प्रमाण शब्द का अनुवाद परिमाण या प्रमाप ही किया है। क्योंकि हिन्दी भाषा में इस अर्थ में यही शब्द अधिक प्रचलित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माणुम्माणपमाणं पडिमाणं गणियमेवयमेव य विभागं।

पत्थ (एत्थ) कुडावाइ धन्ने चउभागविवड्ढियं च रसे।।८८।।

गाथार्थ—प्रमाप के १. मान, २. उन्मान, ३. अवमान, ४. प्रतिमान तथा ५. गणिम— ये पाँच विभाग बतलाये गये हैं। उसमें प्रस्थ (अंजुलि), कुड़व (अन्न मापने का माप विशेष) आदि मान प्रमाप है। ये चार-चार गुण वृद्धि वाले होते हैं। जैसे चार प्रस्थक का एक कुड़व आदि। ये धान्य और तरल पदार्थों के मापने के काम में आते हैं।

विवेचन— गाथा ८७ में द्रव्य प्रमाप के दो भेद किये गये हैं (१) प्रदेश तथा (२) विभाग। प्रदेश की चर्चा पूर्व गाथा में की गई है, अब इस गाथा में विभाग नामक प्रमाप की चर्चा की जा रही है।

वह विभाग निष्पन्न द्रव्य प्रमाप निम्न पांच प्रकार का है—

१. मान— धान्य या तरल पदार्थ मापने के पात्र विशेष।

२. उन्मान— ठोस धातुएँ आदि तोलने के बटखरे।

३. अवमान— भूमि आदि मापने के साधन दण्ड आदि।

४. गणिम— एक, दो, तीन, चार आदि की गणना करके दी जाने वाली वस्तुएँ।

५. प्रतिमान— जिससे सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य वस्तुओं का वजन किया जाय।

(१) मान प्रमाप- मान प्रमाप भी दो प्रकार का है, धान्य सम्बन्धी तथा तरलपदार्थ सम्बन्धी।

(अ) धान्य सम्बन्धी प्रमाप—अशति अर्थात् एक मुट्ठि, दो अशति की एक प्रसृति (पसलिया अञ्जलि), दो प्रसृति की एक सेतिका। चार सेतिका का एक कुड़व। चार कुड़व का एक प्रस्थ। चार प्रस्थ का एक-आढ़क। चार आढ़क का एक द्रोण। साठ आढ़क का एक जघन्य कुम्भ। अस्सी आढ़त का एक मध्यम कुम्भ तथा सौ आढ़क का एक उत्कृष्ट कुम्भ। आठ सौ आढ़क का एक बाह होता है।

धान्य के प्रमाप की यह पद्धति प्राचीन काल के मगध देश में प्रचलित थी।

(ब) रस अर्थात् तरल पदार्थ सम्बन्धी प्रमाप—रस सम्बन्धी प्रमाप धान्य सम्बन्धी प्रमाप से चतुर्भाग अधिक और अभ्यन्तर शिखा युक्त होता है। धान्य को मापने हेतु उसे पात्र में भर कर उसकी बाह्य शिखा बनायी जा सकती है, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरल पदार्थ में शिखा बन पाना संभव न होने से उनके माप में धान्य के माप से चौथाई भाग अधिक मापना चाहिये।

रस सम्बन्धी प्रमाप में चारपल की एक चतुर्षष्ठिभागिका, आठ पल की एक द्वित्रिंशिभागिक, सोलह पल की एक षोडश भागिका, बत्तीस पल की एक अष्टभागिका, चौसठ पल की एक चतुर्भागिका, एक सौ अट्ठाईस पल की एक अर्धमानी, दो सौ छप्पन पल की एक मानी होती है। मान सम्बन्धी प्रमाप के स्वरूप को बताने के बाद उन्मान सम्बन्धी प्रमाप का स्वरूप बताते हैं।

कंसाइयमुम्माणं अवमाणं चेव होइ दंडाई ।
पडिमाणं धरिमेसु य भणियं एक्काइयं गणिमं ।।८९।।

गाथार्थ—कांसे आदि अल्पमूल्य की वस्तुओं आदि को तौलने के उन्मान प्रमाप, कपड़े, भूमि आदि को मापने के दण्ड आदि अवमान प्रमाप, स्वर्णादि तौलने का प्रतिमान प्रमाप तथा संख्या आदि से मापा जाने वाला गणिम प्रमाप है।

विवेचन—मान प्रमाप की चर्चा कर चुके हैं, अब शेष चारों प्रमाप की चर्चा की जाती है।

(२) उन्मान प्रमाप—अब उन्मान प्रमाप का स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तु तौलकर दी जाती है और जिसके तौलने के साधन तराजू, बटखरे आदि होते हैं उसे उन्मान प्रमाप कहते हैं। उसका प्रमाप निम्न प्रकार का है- १. अर्धकर्ष, २. कर्ष, ३. अर्धपल, ४. पल, ५. अर्धतुला, ६. तुला, ७. अर्धभार और ८. भार। इससे अल्प मूल्य की धातुओं एवं अन्य वस्तुओं के परिमाप को जाना जाता है। अर्धकर्ष तोलने का सबसे कम भार का बटखरा है। सम्भवतः कर्ष तोले के समान कोई माप रहा होगा। छटांक, सेर, मन बनाने का यही आधार है। अर्धकर्ष, कर्ष आदि प्राचीन मागध मान थे।

दंडधणूजुगनालिय अक्खो मुसलं च होइ चउहत्थं ।
दसनालियं च रज्जुं वियाण अवमाणसण्णाए ।।९०।।

गाथार्थ— दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष और मूसल ये सभी चार हाथ परिमाण होते हैं। दस नालिका अर्थात् चालीस हाथ की एक रज्जू होती है। ये सभी अवमान कहलाते हैं।

विवेचन—

(३) अवमान प्रमाप—वास्तु (घर), भूमि आदि को हाथ के द्वारा, खेत को दण्ड द्वारा, मार्ग को धनुष द्वारा और खाई, कुंआ आदि को नालिका द्वारा नापा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिलोयपण्णत्ति (१/१०२-१०६) में भी क्षेत्र नापने के प्रमाणों का कथन किया गया है किन्तु वहाँ एक "कष्कु" नाम अधिक है तथा उसका परिमाण दो हाथ बतलाया गया है। वहां क्रम इस प्रकार है— छह अंगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ति (बालिश्त), दो वितस्ति का एक हाथ, दो हाथ का एक किष्कु, दो किष्कु का एक.दण्ड। दण्ड, युग, धनुष, नालिका, अक्ष, और मुसल— ये सभी चार हाथ परिमाण हैं। दो हजार धनुष का एक कोस तथा चार कोस का एक योजन होता है।

(४) गणिम प्रमाप— जिससे गणना (गिनती) की जाये, वह गणिम एक, दस, सौ, हजार, दसहजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, आदि। जैन परम्परा में गणनीय संख्या १९४ अंक अर्थात् एक पर १९३ शून्य परिमाण है, जिसे गाथा ११३-११४-११५ में स्पष्ट किया गया है।

(५) प्रतिमान— जिसके द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं को तौला जाता है उसे प्रतिमान प्रमाण कहते हैं। १. गुञ्जा (रत्ती) २. काकणी, ३. निष्पाव, ४. कर्ममाषक, ५. मण्डलक और ६. सुवर्ण। पाँच गुञ्जाओं अर्थात् रत्तियों का तथा चार काकणियों का या तीन निष्पाव का एक कर्ममाषक होता है। १२ कर्ममाषक या ४८ काकणियों का एक मण्डलक होता है। १६ कर्ममाषक या ६४ काकणियों का एक स्वर्ण मोहर होता है।

इसमें गुञ्जा प्रथम तोल है। गुञ्जा एक लता का फल है जो मूँग जितना, अण्डाकार आधा लाल तथा आधा काले रंग का होता है।

द्रव्य प्रमाप समाप्त हुआ। अब क्षेत्र प्रमाप का वर्णन करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. क्षेत्र परिमाण

खेत्तपमाणं दुविहं विभाग ओगाहणाए निप्फन्नं।

एगपएसोगाढाइ होइ ओगाहणमणेगं।।९१।।

भावार्थ—क्षेत्र प्रमाप दो प्रकार का है १. विभाग निष्पन्न तथा २. प्रदेशावगाहन निष्पन्न। एक प्रदेशावगाह, दो प्रदेश अवगाह आदि अनेक प्रकार के अवगाहन से क्षेत्र प्रमाप होता है।

विवेचन—विभाग तथा अवगाहन में अवगाहन का विषय संक्षिप्त होने से उसका वर्णन पहले किया जाता है।

(१) प्रदेशावगाहन निष्पन्न—अनुयोगद्वार सूत्र ३३१ में यह प्रश्न किया गया है—

हे भगवन् प्रदेश निष्पन्न क्षेत्र प्रमाप का क्या स्वरूप है? हे आयुष्मन्! एक प्रदेशावगाह, दो प्रदेशावगाह यावत् संख्यात प्रदेशावगाह, असंख्यात प्रदेशावगाह क्षेत्ररूप प्रमाप को प्रदेशअवगाहन निष्पन्न क्षेत्र प्रमाप कहते हैं।

(२) विभाग निष्पन्न प्रमाप—

अंगुल विहत्थि रयणी कुच्छी धणु गाउयं च सेढी य।

पयरं लोगमलोगो खेत्तपमाणस्स पविभागा।।९२।।

तिविहं च अंगुलं पुण उस्सेहगुल पमाण आयं च।

एक्केक्कं पुण तिविहं सूई पयरंगुल घणं च।।९३।।

गाथार्थ—अंगुल, वितस्ति, हाथ, कुक्षी, धनुष, गाउ, श्रेणी, प्रवर लोक, अलोक— ये सभी विभाग निष्पन्न क्षेत्र प्रमाप के विभाग होते हैं।।९२।।

उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल तथा आत्मांगुल यह अंगुल के तीन प्रमाप हैं। फिर प्रत्येक के तीन-तीन भेद करना— सूच्यंगुल, प्रतरांगुल तथा घनांगुल।

विवेचन—विभाग निष्पन्न परिमाप की आद्य इकाई अंगुल है, इसके तीन प्रकार हैं—

(१) उत्सेधांगुल—उत्सेध अर्थात् बढ़ना। जो अनन्त सूक्ष्म परमाणु त्रसरेणु, रथरेणु, इत्यादि के क्रम से बढता है अथवा जो नरकादि चतुर्गति के जीवों के शरीर की ऊंचाई का निर्धारण करने के लिए उपयोगी बनता है, वह उत्सेधांगुल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। उत्सेधांगुल की आद्य इकाई परमाणु है। परमाणु, त्रसरेणु आदि उत्सेधांगुल नहीं है, परन्तु इनसे निष्पन्न होने वाला अंगुल उत्सेधांगुल है। अगली गाथा में उत्सेधांगुल के स्वरूप की चर्चा की गई है।

उत्सेधांगुल का स्वरूप

सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का।
ते परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ।।९४।।

गाथार्थ—सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके उस परमाणु को सिद्धों ने उत्सेधांगुल का प्रथम प्रमाप कहा है।

परमाणु के प्रकार

परमाणू सो दुविहो सुहुमो तह वावहारिंओ चेव।
सुहुमो य अप्पएसो ववहारनएणऽणंतओ खंदो।।९५।।

गाथार्थ— परमाणु दो प्रकार के होते हैं— सूक्ष्म तथा व्यावहारिक। सूक्ष्म परमाणु अप्रदेशी होता है, जबकि व्यावहारिक परमाणु अनन्त प्रदेश वाला स्कन्ध रूप होता है।(विज्ञान का परमाणु जैनदृष्टि से व्यवहार परमाणु है। क्योंकि इसका विखण्डन सम्भव है, यह अनन्त प्रदेश वाला है। किन्तु जैनआगमों में उस व्यवहार परमाणु को भी अछेद्य और अभेद्य कहा गया है।)

विवेचन—अनुयोगद्वार सूत्र ३४३ में पदार्थ की व्याख्या की गई है। उसमें पदार्थ के ६ भेद बताये हैं १. स्थूल-स्थूल (ठोस पदार्थ) २. स्थूल (तरल पदार्थ) ३. स्थूल-सूक्ष्म (दृश्यमान प्रकाश आदि) ४. सूक्ष्म-स्थूल (मात्र अनुभूतिगम्य वायु या वाष्प आदि)। ५. सूक्ष्म (कार्मण वर्गणा आदि) ६. सूक्ष्म-सूक्ष्म (अन्तिम, निरंश पुद्गल परमाणु) ।

व्यवहार परमाणु की परिभाषा

परमाणू य अणंता सहिया उस्सण्हसण्हिया एक्का ।
साऽणंतगुणा संती ससण्हिया सोऽणु ववहारी।।९६।।

गाथार्थ—अनन्त परमाणुओं के एकत्रित होने पर एक उत्श्लक्षण-श्लक्ष्णिका का होती है। उन अनन्त उत्श्लक्षण-श्लक्ष्णिकाओं के मिलने पर एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है। उसे ही व्यवहारिक परमाणु कहा जाता है।

प्रश्न— क्या यह व्यवहार परमाणु छेदा-भेदा जा सकता है।

उत्तर— यह व्यवहार परमाणु भी छेदा भेदा नहीं जा सकता, क्योंकि यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार परमाणु उपर्युक्त गाथा ९५ के विवेचन में अनुयोगद्वार में बताये गये ६ भेदों में से ५वां भेद- सूक्ष्म कार्मणवर्गणा रूप है।

प्रश्न—क्या व्यवहार परमाणु को पुष्करसंवर्तकमहामेघ गीला कर सकता है? नहीं।

प्रश्न— क्या उसे अग्नि जला सकती है? नहीं।

स्कन्ध विवेचन

खंधोऽणंतपएसो अत्थेगइओ जयम्मि छिज्जेज्जा।

भिज्जेज्ज व एवइओ (एगयरो) नो छिज्जे नो य भिज्जेज्जा।।९७।।

गाथार्थ—अनन्त प्रदेशों से निर्मित स्कन्ध में से कितने ही स्कन्ध जगत में छेदे जा सकते हैं भेदे जा सकते हैं और कितने स्कन्ध न छेदे जा सकते हैं और न भेदे जा सकते हैं।

विवेचन—स्कन्ध स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं, अतः कोई स्थूल स्कन्ध भाले, तलवार आदि से छेदा भेदा जा सकता है तथा कोई सूक्ष्म स्कन्ध भाले, तलवार आदि से भी छेदा भेदा नहीं जा सकता।

परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च बालस्स।

लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो।।९८।।

गाथार्थ—परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लीख, जूँ, जव, यह क्रम से एक दूसरे से आठ गुणा बड़े हैं।

विवेचन—यहां परमाणु के बाद ऊर्ध्वरेणु शब्द लेना क्योंकि आगम में अनेक जगह परमाणु, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु इस प्रकार देखने में आया है। ये क्रमशः एक दूसरे से आठ गुणा बड़े हैं। यहां परमाणु से तात्पर्य व्यावहारिक परमाणु अर्थात् श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका से है।

ऊर्ध्वरेणु : आठ व्यवहारिक परमाणु मिलने पर एक ऊर्ध्वरेणु बनती है। जो खिड़की आदि में सूर्य के प्रकाश में इधर-उधर उड़ती दिखाई देती है।

त्रस रेणु : पूर्वदिशा की वायु से प्रेरित हो उड़े वह त्रस रेणु है।

रथरेणु : चलते रथ के चक्र के कारण उड़ने वाली धूल रथरेणु है।

बालाग्र : आठ रथरेणु से देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्य का एक बालाग्र होता है। उन आठ बालाग्र से हरिवर्ष, रम्यक्क्षेत्र के मनुष्य का एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बालाग्र होता है। ऐसे आठ बालाग्र से भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। बालाग्र से तात्पर्य है बाल का अग्रभाग।

लीख : भरत ऐरावत के मनुष्य के आठ बालाग्र परिमाण एक लीख होती है।

जूँ : आठ लीख परिमाण एक जूँ होती है।

जव : आठ जूँ परिमाण एक जव (जौ— धान्यविशेष) होता है।

अट्ठेव य जवमज्झाणि अंगुलं छच्च अंगुला पाओ।
पाया य दो विहत्थी दो य विहत्थी भवे हत्थो।।९९।।

गाथार्थ— आठ जव से एक अंगुल बनता है। छः अंगुल से एक पाद बनता है। दो पाद से एक वितस्ति (बेंत) तथा दो वितस्ति से एक हाथ बनता है।

विवेचन— आठ जव का एक अंगुल होता है। यह अंगुल उत्सेधांगुल कहलाता है। ऐसे छः अंगुलों से एक पाद बनता है। पुनः दो पाद की एक बालिश्त और दो बालिश्त का एक हाथ होता है।

चउहत्थं पुण धणुयं दुन्नि सहस्साइं गाउयं तेसिं।
चत्तारि गाउया पुण जोयणमेगं मुणेयव्वं।।२००।।
उस्सेहंगुलमंगं हवइ पमाणंगुलं दुपंचसयं।
ओसप्पिणीए पढमस्स अंगुलं चक्कवट्टिस्स।।१०१।।

गाथार्थ— चार हाथ का एक धनुष होता है। दो हजार हाथ का एक गाऊ (कोस) होता है। पुनः चार गाऊ (कोस) का एक योजन जानना चाहिये।।१००।।

एक उत्सेधांगुल को हजार से गुणा करने पर एक प्रमाणांगुल बनता है। यह प्रमाणांगुल अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती की अंगुली के परिमाप वाला जानना चाहिए।।१०१।।

विवेचन

प्रमाणांगुल— उत्सेधांगुल को हजार से गुणित करने पर एक प्रमाणांगुल बनता है। यह भरतचक्रवर्ती की अंगुली के परिमाप का होता है।

योजन— छः प्रमाणांगुल से भरतचक्रवर्ती का मध्यतलरूप भाग (पाद) होता है। दो पाद की एक वितस्ति (बेंत) होती है। दो वितस्ति का एक हाथ होता है। चार हाथ का एक धनुष होता है। हजार धनुष का एक गाऊ तथा चार गाऊ का एक योजन होता है। यह योजन प्रमाणांगुल से बना हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा क्रमांक ९८, ९९, १०० में उत्सेधांगुल से निष्पन्न योजन की चर्चा की गई है तथा गाथा १०१ के विवेचन में प्रमाणांगुल से निष्पन्न योजन की चर्चा की गई है। आगे गाथा क्रमांक १०३ में आत्मांगुल की चर्चा की जा रही है।

तेणंगुलेणं जं जोयणं तु एत्तो असंखगुणयारो (०एहिं)।

सेढी पयरं लोगो लोगा णंतो अलोगो य ।।१०२।।

गाथार्थ— उस (प्रमाणांगुल) से बने योजन को असंख्यात से गुणा करने पर एक श्रेणी होती है। उसको असंख्यात से गुणा करने पर एक प्रतर होती है तथा एक प्रतर को असंख्यात से गुणा करने पर लोक का परिमाण बनता है और लोक को अनन्त से गुणा करने पर अलोक का परिमाण बनता है।

आत्मांगुल

जे जम्मि जुगे पुरिसा अट्ठसयंगुलसमूसिया हुंति ।

तेसिं सयमंगुलं जं तयं तु आयंगुलं होई।।१०३।।

गाथार्थ— जो पुरुष जिस युग में स्वयं की अंगुली से एक सौ आठ अंगुल ऊंचा होता है उस पुरुष की स्वयं की अंगुली को आत्मांगुल कहते हैं।

विवेचन— आत्मांगुल अर्थात् स्वयं की अंगुली। जिस काल में जो मनुष्य होते हैं उस काल की अपेक्षा उनके अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं। उत्तम या प्रमाणोपेत पुरुष अपनी अंगुली से १०८ अंगुल परिमाण, मध्यम पुरुष १०४ अंगुल परिमाण तथा अधम पुरुष ९६ अंगुल परिमाण वाले होते हैं।

गाथा ९३ में उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल तथा आत्मांगुल— ये अंगुल के तीन तीन भेद बताये हैं। उत्सेधांगुल, प्रमाणंगुल तथा आत्मांगुल का स्पष्टीकरण पूर्व गाथाओं में किया जा चुका है, अब यहाँ इन तीनों के तीन-तीन भेदों की विवेचना करते हैं।

उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल तथा आत्मांगुल के तीन-तीन भेद हैं— १. सूच्यंगुल, २. प्रतरांगुल तथा ३. घनांगुल है।

१. सूच्यंगुल— एक अंगुल लम्बी, एक प्रदेश चौड़ी आकाश प्रदेश की श्रेणि को सूच्यंगुल कहते हैं।

२. प्रतरांगुल— सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर प्रतरांगुल निष्पन्न होता है।

३. घनांगुल— सूच्यंगुल से गुणित प्रतरांगुल को घनांगुल कहा जाता है। अर्थात् सूच्यंगुल एवं प्रतरांगुल को परस्पर गुणित करने पर घनांगुल बनता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूच्यंगुल में मात्र लम्बाई होती है, प्रतरांगुल में लम्बाई और चौड़ाई होती है तथा घनांगुल में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई— इन तीनों का ग्रहण होता है।

सूच्यंगुल— सिद्धान्ततः सूच्यंगुल में असंख्य प्रदेश होते हैं लेकिन वे एक सीधी रेखा में होते हैं उनमें चौड़ाई और मोटाई नहीं होती मात्र लम्बाई होती है। इसमें प्रदेश इसप्रकार स्थापित होते हैं कि इसका आकार सूई (सूचिका) के समान बने ।

प्रतरांगुल— वर्ग को प्रतर कहते हैं। किसी भी राशि को दो बार लिख कर गुणित करने पर जो संख्या बने वह वर्ग है। वर्गाकार या आयताकार अंगुल को प्रतरांगुल कहते हैं अर्थात् जो एक अंगुल लम्बा और एक अंगुल चौड़ा हो वह प्रतरांगुल है। इसमे लम्बाई और चौड़ाई दोनों होती है।

घनांगुल— घनांगुल में मोटाई, लम्बाई तथा चौड़ाई होती है। वर्गाकार में उसी संख्या को उसी संख्या से दो बार गुणित किया जाता है, जबकि घनाकार उसी संख्या को उसी संख्या से तीन बार गुणित किया जाता है। घनांगुल एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा और एक अंगुल मोटा होता है।

प्रमापों की उपयोगिता

देहस्स ऊसएण उ गिहसयणाई य आयमाणेणं।
दीवुदहिभवणवासा खेत्तपमाणं पमाणेणं।।१०४।। प्रमाणद्वारं २

गाथार्थ— उत्सेधांगुल से देह आदि को, आत्मांगुल से घर, विस्तर आदि को तथा क्षेत्रप्रमाण प्रमाणांगुल से द्वीप, समुद्र, भवनवास आदि को मापा जाता है।

इति क्षेत्र परिमाण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. काल परिमाण

कालेत्ति य एगाविहो कालविभागो य होई णेगविहो ।

समयावलियाईओ अणंतकालेत्ति णायव्वो।।१०५।।

गाथार्थ— स्वरूपतः काल एक ही प्रकार का है, किन्तु काल का विभाग करने पर वह अनेक प्रकार का होता है। समय, आवलिका आदि के भेद से काल के अनन्त भेद जानना चाहिये।

विवेचन— काल का मूलतः कोई भेद नहीं है, परन्तु लोक व्यवहार की अपेक्षा से काल के अनेक भेद किये जाते हैं। जैसे समय, आवलिका, घड़ी, प्रहर, दिन, मास, वर्ष आदि अथवा भूतकाल, भविष्यकाल, वर्तमानकाल आदि।

कालो परम निरुद्धो अविभागी तं तु जाण समओत्ति ।

तेऽसंखा आवलिया ता संखेज्जा य ऊसासो।।१०६।।

गाथार्थ— काल के अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य भाग को 'समय' कहते हैं। असंख्यात समय की एक आवलिका तथा संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास होता है।

विवेचन— जैन दर्शन में काल की सर्वाधिक सूक्ष्म इकाई "समय" है। समय को समझाने के लिए उदाहरण दिया है कि कमल के चिपके हुए पत्तों का जब भेदन करते हैं, तो एक पत्ते से दूसरे पत्ते तक सूई जाने में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। एक बार आंख की पलक झपकने में असंख्य समय निकल जाते हैं। ऐसे असंख्य समय की एक आवलिका तथा संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास होता है। वह श्वासोच्छ्वास भी कैसा होता है— यह आगे गाथा में बताया गया है।

हट्ठऽणगल्लुस्सासो एसो पाणुत्ति सन्निओ एक्को।

पाणू य संत्त थोवो थोवा सत्तेव लवमाहू ।।१०७।।

गाथार्थ— एक अनुद्विग्न स्वस्थ युवा मनुष्य के एक उच्छवास तथा निश्वास के काल को 'प्राण' कहते हैं। ऐसे सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लंव होता है।

टिप्पणी— उद्विग्न, अस्वस्थ तथा वृद्ध व्यक्ति का श्वांस अस्वाभाविक होगा अतः स्पष्टता के लिए यहाँ इन विशेषणों का ग्रहण किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अट्ठत्तीसं तु लवा अद्धूलवो चेव नालिया होइ ।
दो नालिया मुहुत्तो तसि मुहुत्ता अहोरत्तो ।।१०८।।
तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाणि तेसत्तरी य उस्सासा ।
एक्केक्कस्सेवइया हुंति मुहुत्तस्स उस्सासा ।।१०९।।

गाथार्थ— साढ़े अड़तीस लव की एक नाड़िका (नालिका) होती है। दो नालिका अर्थात् ७७ लव का एक मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनट होते हैं तथा तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है।।१०८।। प्रकारान्तर से तीन हजार सात सौ तिहत्तर (७×७×७७=३७७३) उच्छ्वास का एक मुहूर्त होता है।।१०९।।

पन्नरस अहोरत्ता पक्खो , पक्खा य दो भवे मासो।
दो मासा उउसन्ना तिन्नि य रियवो अयणमेगं।।११०।।
दो अयणाइं वरिसं तं दसगुणवड्ढियं भवे कमसो ।
दस य सयं च सहस्सं दस य सहस्सा सयसहस्सं।।१११।।
वास सयसहस्सं पुण चुलसीइगुणं हवेज्ज पुव्वंगं।
पुव्वंगसयसहस्सं चुलसीइगुणंभवे पुव्वं।।११२।।

गाथार्थ— पन्द्रह दिन रात का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है और तीन ऋतुओं का एक अयन होता है।

दो अयन का एक वर्ष होता है। इसमें क्रमशः दस-दस से गुणा करने पर दस, सौ, हजार, दस हजार और लाख संख्या होती है। इस लाख को चौरासी से गुणित करने पर(अर्थात् चौरासी लाख वर्षों का)एक पूर्वांग होगा। इस पूर्वांग को फिर चौरासी लाख से गुणित करने पर एक पूर्व होता है।

विवेचन— पन्द्रह दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का एक वर्ष। फिर एक को क्रम से दस-दस से गुणित करते जाने पर क्रमशः दस, सौ, हजार, दस हजार और एकलाख की संख्या होगी। इस लाख को चौरासी से गुणित करने पर चौरासी लाख वर्ष होंगे इसको फिर चौरासी लाख से गुणित करने पर (८४००००००×८४००००००) जो संख्या बनेगी उसे "पूर्व" कहा गया है।

पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु होंति कोडिलक्खाओ ।
छप्पन्नं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं।।११३।।
पुव्वंगं पुव्वंपि य नउयंगं चेव होइ नउयं च ।
नलिणंगं नलिणंपि य महनलिणंगं महानलिणं।।११४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पउमं कमलं कुमुयं तुडियमडडमवव हूहुयं चेव ।
अउयंग अउय पउयं तह सीसपहेलिया चेव।।११५।।

गाथार्थ— एक पूर्व का परिमाण सत्तरखरब छप्पनअरब (७०,५६,०००००००००) जानना चाहिये। ११३।

इस प्रकार पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन होते हैं। ११४।

पुनः आगे पद्म, कमल, कुमुद, त्रुटित, अटट, अवव, हूहुक अयुतांग, अयुत, प्रयुत्त शीर्ष प्रहलिका आदि संख्याएं होती हैं। ११५।

विवेचन—एक पूर्व में ७०५६०००००००००० वर्ष होते हैं। उन्हें पुनः ८४ से गुणा करने पर एक नयुतांग होता है। फिर क्रमशः ८४-८४ से गुणा करते जाने पर एक नयुत, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, कमलांग, कमल, कुमुदांग, कुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, अट्टांग, अट्ट, अववांग अवव, हुहूआंग, हूहुक, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत शीर्षप्रहेलिकांग तथा शीर्षप्रहेलिका बनती है। इस शीर्षप्रहेलिका का संख्या परिमाण १९४ अंक है अर्थात् ७५८२, ६३२५, ३०७, ३०१०, २४११, ५७९७, ३५६९, ९७५६, ९६४०, ६२१८, ९६६८, ४८०८, ०१८३, २९६ इन ५४ अंकों पर १४० बिन्दी लगाने से (शून्य लगाने से) १९४ अंक रूप शीर्षप्रहेलिका बनती है।

मूल गाथाओं में इन सभी नामों को स्पष्ट नहीं किया गया है उसे स्वमति से स्पष्ट कर लेना चाहिये।

पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि कुल मिलाकर २८ हैं। इन्हें परस्पर गुणा करने पर एक शीर्षप्रहेलिका बनी है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के छठे शतक के सातवें उद्देशक में तथा अनुयोगद्वार सूत्र ३६७ में भी यह गणना बतायी गई है, परन्तु वहाँ गणना का क्रम इस प्रकार है—

अट्टांग, अट्ट, अववांग, अवव, हूहुकांग, हुहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका।

गणना क्रम में अन्तर होने पर भी शीर्ष प्रहेलिका तक वही गणना बनती है। अतः नाम के क्रम में अन्तर होने पर भी संख्या में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है।

इस प्रकार गणित विषयक जितना काल हैं उसकी गिनती करायी गई, इससे आगे की संख्या को उपमा (पल्योपम, सागरोपमादि) से बतायेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं एसो कालो वासच्छेएणं संखमुवयाइ।

तेण परमसंखेज्जो कालो उवमाए नायव्वो।।११६।।

गाथार्थ— इस प्रकार वर्षों की गणना से यह काल संख्या बनती है, इसे संख्यात काल कहा गया है। इसके बाद के काल को असंख्यात कहा जाता है उस असंख्यात काल को उपमाओं से जानना चाहिये।

विवेचन— अभी तक काल की वर्षों की संख्या में गिनती सम्भव थी। इसके बाद काल में संख्या का व्यवहार न होने के कारण उसे असंख्य कहा गया है। उस असंख्य काल को अब उपमाओं के माध्यम से समझाया जावेगा।

पलिओवमं च तिविहं उब्धारऽद्धं च खेत्तपलियं च।

एक्केक्कं पुण दुविहं वायर सुहुमं च नायव्वं।।११७।।

गाथार्थ— उद्धार, अद्धा तथा क्षेत्र—ये तीन प्रकार के पल्योपम हैं। इनके प्रत्येक के स्थूल तथा सूक्ष्म ऐसे दो-दो भेद जानना चाहिये।

पल्योपम निरूपण

जं जोयणविच्छिण्णं तं तिउणं परिरएण सविसेसं।

तं चेव य उव्विद्धं पल्लं पलिओवमं नाम।।११८।।

एगाहियवेहियतेहियाण उक्कोस सत्तरत्ताणं ।

सम्मट्ठं संनिचियं भरियं वालग्गकोडीणं।।११९।।

गाथार्थ— एक योजन विस्तार वाला अर्थात् एक योजन लम्बा तथा उतना ही चौड़ा एवं तीनयोजन से कुछ अधिक परिधि (घेरे) वाला तथा एक योजन गहरा गोलाकार कुंआ पल्य कहा जाता है। उस कुँए को एक दिन, दो दिन, तीन दिन या अधिक में अधिक सात दिन के बालक के बालाग्रों से अच्छी तरह से दबा-दबा कर भरना।

विवेचन— एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा (ऊंचा) तीन योजन से अधिक परिधिवाला एक पल्य हो, उस पल्य में एक दिन के, दो दिन के, तीन दिन के तथा अधिक से अधिक सात दिन के बालकों के बालाग्र किनारे तक इस प्रकार ठसाठस अत्यन्त दबा-दबाकर भरे गये हों कि उनपर चक्रवर्ती की सेना भी निकलजाये पर वे दबे नहीं। वे इतने सघन हो कि उन बालाग्रों को न अग्नि जला सके, न हवा उड़ा सके। वे बालाग्र उड़े नहीं, ध्वस्त न हों, दुर्गंधित न हों। इसके पश्चात् उस पल्य में से एक-एक बालाग्र को क्रमशः प्रति समय निकाला जाय, जब तक कि वह पल्य पूरी तरह से खाली या निर्लेप हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

— उतने काल को एक उद्धारपल्योपम कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं— (१) स्थूल (बादर) उद्धार पल्योपम (२) सूक्ष्म उद्धारपल्योपम। बादर उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारपल्योपम में अन्तर यह है कि जहाँ बादर उद्धार पल्योपम में प्रति समय एक बालाग्र निकाला जाता है, वहां सूक्ष्म उद्धारपल्योपम में उन बालाग्रों के असंख्य खण्ड करके भरा जाता है और फिर प्रति समय एक-एक खण्ड निकाला जाता है।

(अ) बादर उद्धार पल्योपम

तत्तो समए समए एक्केक्के अवहियम्मि जो कालो।

संखेज्जा खलु समया वायर- उद्धारपल्लंमि।।१२०।।

गाथार्थ—उस खड्डे में से एक — एक समय में एक-एक बालाग्र निकालने पर जब वह खड्डा खाली हो जाये - वह बादर उद्धार पल्योपम है। उसमें संख्यात समय होते हैं।

विवेचन—इतने अधिक बाल निकलने में भी जो संख्या होगी उसे संख्यात ही कहेंगे, असंख्यात नहीं; क्योंकि निश्चय से तो बाल संख्यात है अत: संख्यात समय में वे निकल जायेगें। यहाँ बालों को खण्डित, टुकड़े नहीं करने के कारण बादर (स्थूल) शब्द का प्रयोग किया गया है।

(आ) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम

एक्केक्कमओ लोमं कट्टुमसंखेज्जखंडमद्दिस्सं ।

समछेयाणंतपएसियाण पल्लं भरेज्जाहि।।१२१।।

तत्तो समए समए एक्केक्के अवहियम्मि जो कालो।

संखेज्जवासकोडी सुहुमे उद्धारपल्लम्मि।।१२२।।

गाथार्थ—क्रम से एक-एक बाल के असंख्य अदृश्य खण्ड करें, वे टुकड़े परस्पर समान हों, अनन्त प्रदेशी हों, उनसे उस पल्य को भरें फिर उस पल्य में से एकसमय में एक-एक बालाग्र का खण्ड निकालने में जो अवधि लगे उसे सूक्ष्म उद्धारपल्योपम काल कहते हैं। यह सूक्ष्म उद्धारपल्योपम भी संख्यात करोड़ वर्षों का ही होता है। १२१/१२२।

उद्धार सागरोपम

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।

तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाणं ।।१२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— इन पल्योपम की इस समयावधि को दस कोटा कोटी (दस करोड़×दसकरोड़) से गुणा करने पर एक सागरोपम का परिमाण बनता है।

विवेचन— बादर उद्धारपल्योपम के काल को तथा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम के काल को दस कोटा-कोटी से गुणा करने से जो काल बनता है उसे क्रमशः बादर उद्धारसागरोपम तथा सूक्ष्म उद्धारसागरोपम कहते हैं। उस पल्य (कूप) का परिमाण सागर के समान अतिविस्तृत होने को कारण उसे सागरोपम कहा जाता है।

सूक्ष्म उद्धार सागरोपम की उपयोगिता

जावइओ उद्धारो अड्डाइज्जाण सागराण भवे।

तावइया खलु लोए हवंति दीवा समुद्दा य।।१२४।।

गाथार्थ— ढाई उद्धारसागरोपम में 'समय' की जितनी संख्या होती है, उतने ही लोक में द्वीप एवं समुद्र होते हैं।

विवेचन— उपरोक्त गाथा में जो सागरोपम के समय का परिमाण बताया गया है, उससे भी ढाई गुणा अधिक तिर्यक् लोक के द्वीप-समुद्रों की संख्या है। इस प्रकार सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से लोक के द्वीपों एवं समुद्रों की संख्या की परिगणना भी की जाती है। यह उद्धार पल्योपम और उद्धार सागरोपम की चर्चा पूर्ण हुई आगे अद्धा अर्थात् काल पल्योपम और सागरोपम की चर्चा करेंगे।

बादर अद्धा पल्योपम

वाससए वाससए एक्केक्के वायरे अवहियम्मि।

वायरअद्धापल्ले संखेज्जा वासकोडीओ ।।१२५।।

गाथार्थ— सौ-सौ वर्ष की अवधि में एक-एक बाल निकालने में जो समय लगे उसे बादर (स्थूल) अद्धा (काल) पल्योपम कहते हैं। यह (बादर अद्धापल्योपम) संख्यात क्रोड वर्षों का ही होता है।

सूक्ष्म अद्धा पल्योपम

वाससए वाससए एक्केक्के अवहियम्मि सुहुमम्मि ।

सुहुमे अद्धापल्ले हवंति वासा असंखेज्जा ।।१२६।।

गाथार्थ— सौ-सौ वर्ष में एक-एक सूक्ष्म बालाग्र के खण्डों को निकालने में जो अवधि लगती है उसे सूक्ष्म अद्धा (काल) पल्योपम कहते हैं। यह (सूक्ष्म अद्धापल्योपम)) असंख्यात क्रोड़ वर्षों का होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अद्धा सागरोपम

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया ।
तं सागरोवमस्स उ परिमाणं हवइ एक्कस्स ।।१२७।।

गाथार्थ—उपर्युक्त पल्योपम को दस कोटा कोटि से गुणा करने पर उद्धार सागरोपम होता है।

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल एवं पुद्गल परावर्तन

दस सागरोवमाणं पुन्नाओ हुंति कोडि- कोडीओ।
ओसप्पिणीपमाणं तं चेवुस्सप्पिणीएवि ।।१२८।।
उस्सप्पिणी अणंता पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणंतातीयऽद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ।।१२९।।

गाथार्थ—ऐसे दस कोडा कोडी सागरोपम सम्पूर्ण होने पर एक अवसर्पिणी होती है, और इतने ही परिमाण वाली एक उत्सर्पिणी होती है।

ऐसी अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी व्यतीत होने पर एक पुद्गलपरावर्तन काल होता है। ऐसे पुद्गल परावर्तन काल अतीत में अनन्त हो गये तथा अनागत में भी अनन्त होंगे।

विवेचन—उत्सर्पिणी-उत् अर्थात् उत्थान, उन्नति काल। जिसमें प्रत्येक पदार्थ का विकास हो वह उत्सर्पिणी काल है यथा- आयु, लम्बाई, पसली, आदि-आदि।

जिसमें इसके विपरीत स्थिति घटित होती है, वह अवसर्पिणी काल है। वर्तमान में हम अवसर्पिणी के पंचम आरे में जीवन यापन कर रहे हैं।

सुहुमेण य अद्धासागरस्स माणेण सव्वजीवाणं।
कम्मठिई कायठिई भावठिई यावि नायव्वा ।।१३०।।

गाथार्थ— सूक्ष्म अद्धा सागरोपम के परिमाण से समस्त जीवों की कर्म स्थिति, कायस्थिति तथा भवस्थिति जाननी चाहिये।

विवेचन

कर्म स्थिति—नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की कर्म स्थिति क्या है? यह जानना कर्म स्थिति है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय की तीस कोटा-कोटी सागरोपम. नाम गोत्र की बीस कोटा कोटी सागरोपम, आयु कर्म की तैतीस सागरोपम तथा मोहनीय की सत्तर कोटा-कोटी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काय स्थिति— कोई जीव बार-बार एक ही काय में—यथा पृथ्वीकाय पृथ्वीकाय में, त्रसकाय-त्रसकाय में जन्म ले तो वह कायस्थिति कहलाती है। एकेन्द्रिय जीव असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक स्वकाय में रहते हैं। वनस्पतिक जीव भी अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक स्वकाय स्थिति रह सकते हैं। त्रसकाय की उत्कृष्टतः दो सागरकी, अन्य मान्यता के अनुसार संख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक स्वकाय स्थिति है। मनुष्य तथा तिर्यंच की अधिकतम सात-आठ भव तक की स्वकाय स्थिति है। देव तथा नारक अपनी काय में पुनः जन्म नहीं लेते हैं।

भव स्थिति— भवस्थिति अर्थात् वर्तमान भव की पर्याय की काल स्थिति जैसे देव तथा नारक एक ही भव करते हैं फिर भव बदल जाता है। नारकी पुनः नारकी नहीं बनते, देव पुनः देव नहीं बनते। इनकी उत्कृष्ट भव स्थिति तैतीस सागरोपम है। इसी प्रकार तिर्यंच तथा मनुष्य की भवस्थिति अधिकतम तीन पल्योपम की होती है।

इस प्रकार कर्मस्थिति, कायस्थिति तथा भवस्थिति को सूक्ष्म अद्धासागरोपम तथा पल्योपम परिमाण से जानना चाहिये।

क्षेत्र पल्योपम

बायरसुहुमागासे खेत्तपएसाण समयमवहारे।
बायर सुहुमं खेत्तं उस्सप्पिणीओ असंखेज्जा ।।१३१।।

गाथार्थ— स्थूल अर्थात् बालाग्रों तथा सूक्ष्म अर्थात् बालाग्रों के खण्डों से भरे हुए क्षेत्र के प्रदेशों में से प्रति समय एकएक आकाश प्रदेश का अपहार करने से क्रमशः स्थूल (बादर) तथा सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम होता है। इसका परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल जितना है।

विवेचन—

१. बादर अथवा व्यवहार क्षेत्र पल्योपम— पूर्व कथित पल्य के जो आकाश प्रदेश हैं, उन प्रदेशों में से समय-समय पर एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण किया जाय, निकाला जाये। जितने काल में वह पल्य खाली यावत् विशुद्ध हो जाय वह एक बादर (व्यवहार) क्षेत्र पल्योपम है।

पूर्व में जो व्यवहारिक उद्धार पल्योपम और अद्धापल्योपम का स्वरूप बताया है उन्हीं के समान बालाग्र कोटियों से पल्य को भरने की प्रक्रिया यहां भी ग्रहण की गई है किन्तु उसमें तथा इसमें अन्तर यह है कि पूर्व के दोनों पल्यों में समय की मुख्यता है तथा यहाँ क्षेत्र की मुख्यता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. **सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम**— इसमें बालाग्रों के असंख्यात ऐसे खण्ड किये जायें जो दृष्टि के विषयभूत पदार्थ की अपेक्षा असंख्यात भाग सूक्ष्म परिमाण वाले हो एवं सूक्ष्मपनक जीव की शरीरावगाहना से असंख्यात गुणा सूक्ष्म हों। उन बालाग्रों से जो आकाश प्रदेश स्पृष्ट हो और स्पृष्ट न हो- यहां दोनों प्रकार के प्रदेशों को ग्रहण करना, उनमें से प्रतिसमय एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण किया जाय तो जितने काल में वह पल्य सर्वथा रहित हो जाय उसे सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहते हैं।

क्षेत्र सागरोपम

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाणं ।।१३२।।

गाथार्थ—इस प्रकार के बादर (स्थूल) एवं सूक्ष्म पल्योपम को दस कोटा कोटि (दस×करोड़×दस करोड़) से गुणित करने पर एक बादर तथा सूक्ष्म सागरोपम का परिमाण होता है।

विवेचन— तीनों पल्योपमों तथा तीनों सागरोपमों का विवेचन हम गाथा ११७ के विवेचन में कर आये हैं।

उद्धार—उद्धार का अर्थ प्रतिसमय से है। प्रति समय बालाग्र या बालखण्ड निकालने पर खाली होने में लगने वाला समय बादर या सूक्ष्म उद्धार पल्योपम है।

अद्धा—प्रत्येक १०० वर्ष में बालाग्र या बालखण्ड निकालने पर खाली होने में लगने वाला समय बादर या सूक्ष्म अद्धा पल्योपम है।

क्षेत्र— पूर्वोक्त कुँए में भरे हुए बालग्रों या बालाग्र खण्डों से स्पर्शित या अस्पर्शित जो भी आकाश प्रदेश हो उनमें से प्रतिसमय एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण करने पर खाली होने में जो काल लगे वह बादर या सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम है।

सभी पल्योपमों को दस कोटा-कोटी से गुणा करने पर सागरोपम बनता है।

यद्यपि बादर क्षेत्र पल्योपम तथा बादर क्षेत्र सागरोपम व्यवहार में उपयोगी नहीं होता, फिर भी क्रमिक वर्णन के कारण इसका कथन किया गया है। अब उपयोग में आने वाले सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम एवं सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम का कथन करते हैं —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम की उपयोगिता

एएण खेत्तसागरउवमाणेणं हवेज्ज नायव्वं ।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं च परीमाणं ।।१३३।।

गाथार्थ— इस सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से पृथ्वीकाय, अप्काय तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय जीवों का परिमाण जान सकते हैं।

विवेचन— उपर्युक्त सभी जीवों की संख्या को सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से जान सकते हैं।

(१) उद्धारपल्योपम— गाथा ११८ तथा ११९ में पल्योपम का वर्णन किया है। उसमें बताये गये पल्य कुएँ को सात दिन तक के बालक के बालाग्रों से ठसाठस भरना। "द्रव्यलोक प्रकाश" में कहा गया है कि वे केशाग्र इतनी सघनता से भरे जाये कि चक्रवर्ती की सेना भी उस पर से निकल जाय तो भी वे दबे नहीं। उनमें से प्रत्येक बाल को एक-एक समय में निकालने में जितने समय में वह कुंआ खाली हो उसे बादर या व्यवहार उद्धारपल्योपम कहते हैं।

इसी तरह के उक्त बालाग्र के असंख्यात, अदृश्य ऐसे खण्ड किये जाये जो विशुद्ध नेत्र वाले छद्मस्थ पुरुष के दृष्टिगोचर होने वाले सूक्ष्म पनक (काई) के शरीर से असंख्यात गुणा सूक्ष्म हो। ऐसे सूक्ष्म बालाग्रों के खण्डों से भरा कुंआ प्रतिसमय एक-एक बालाग्र-खण्ड निकालने पर जब खाली हो तो उसे **सूक्ष्म उद्धार पल्योपम** कहते हैं। इसमें संख्यात वर्ष कोटि परिमित काल लगता है।

(२) अद्धापल्योपम— उपर्युक्त प्रकार से भरा हुआ कुंआ, उसमें से हर १०० वर्ष बाद एक बालाग्र निकाला जाय और जितने समय में वह खाली हो जाय तो वह **बादर या व्यवहार अद्धा पल्योपम** कहलाता है।

उसी कुंए से सूक्ष्म बालाग्र खण्डों को जब १००-१०० वर्ष में निकाला जाय-और जब वह खाली हो जाये तो उसे **सूक्ष्म अद्धा पल्योपम** कहते हैं। यह असंख्यात वर्ष कोटि परिमाण वाला होता है। जबकि बादर अद्धा पल्योपम अनेक संख्यात वर्ष कोटि परिमाण वाला होता है।

(३) क्षेत्रपल्योपम— उपर्युक्त रीति से भरे बालाग्रों को जितने आकाश प्रदेश स्पर्शित या अस्पर्शित किये हुए हैं। उन स्पर्शित या अस्पर्शित आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक समय एक आकाश प्रदेश को निकालने में जितना समय लगे वह **बादर या व्यवहार क्षेत्रपल्योपम** है। इसमें असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी जितना काल होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कुंआ सूक्ष्म बालाग्र खण्डों से ठसाठस भरा हो। उन बालाग्र-खण्डों को छुए हुए एवं नहीं छुए हुए सभी आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक आकाश प्रदेश को प्रतिसमय निकालने में जितना काल लगे वह **सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम** है। इसमें भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण काल है, किन्तु इसका काल व्यवहार क्षेत्र पल्योपम के काल से असंख्यात गुणा बड़ा है।

भगवन्—क्या उस पल्य में ऐसे भी आकाश-प्रदेश है जो बालाग्र खण्डों से अस्पर्शित हो?

हाँ आयुष्मन्! उस पल्य के ऐसे भी आकाश-प्रदेश है जो बालाग्र खण्डों से अस्पर्शित रह जाते है।

इस विषय में कोई दृष्टान्त है? हाँ। जैसे कोई कोठा कुष्माण्ड के फलों से भरा हो उसमें बिजौरा फल डालें जाये तो वे समा जायेंगे। फिर बिल्व डालेंगे तो वे भी समा जायेंगे। ऐसे ही क्रमश: आंवला, बेर, चना, मूंग, सरसों एवं गंगा की बालू डालने पर तो वह भी समा जायेगी। इस दृष्टान्त से उस पल्य के ऐसे आकाश प्रदेश भी है जो अस्पृष्ट रहते है। स्पृष्ट से भी अस्पृष्ट आकाश प्रदेश असंख्य गुणा अधिक है। (अनुयोगद्वार सूत्र ३९७)।

दीवार में कील, जमीन में वृक्ष की जड़, मिट्टी में पानी आदि का प्रवेश पा जाना- अवकाश या खाली प्रदेश का प्रतीक है। पल्योपम की तरह सागरोपम के भी तीन भेद हैं और इन तीनों के दो दो प्रकार हैं—

(१) उद्धार सागरोपम—दस कोटा कोटि बादर उद्धार पल्योपम का एक बादर उद्धार सागरोपम होता है।

दस कोडा कोडि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम या २५ कोटा कोटि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में जितने समय होते हैं उतने ही लोक में द्वीप और समुद्र होते हैं।

(२) अद्धा सागरोपम—दस कोटा कोटि बादर अद्धा पल्योपम का एक बादर अद्धा सागरोपम होता है।

दस कोडा कोडि सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम होता है।

जीवों की कर्म स्थिति, कायस्थिति और भवस्थिति तथा आरों (काल चक्र) का परिमाण सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और अद्धा सागरोपम से नापा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) क्षेत्र सागरोपम—दस कोटा कोटि बादर या व्यवहार क्षेत्र पल्योपम का एक बादर या व्यवहार सागरोपम होता है।

दस कोटा कोटि सूक्ष्म क्षेत्र पंल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है।

इस प्रकार उद्धार, अद्धा तथा क्षेत्र तीन प्रकार के काल की चर्चा पूर्ण हुई।

कालपरिमाण-द्वार सम्पूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. भाव-परिमाण

भाव परिमाण के प्रकार

गुणनोगुणनिप्फन्नं गुणनिप्फन्नं तु वन्नमाईयं ।

नोगुणनिप्फन्नं पुण संखाणं नों य संखाणं ।।१३४।।

गाथार्थ—परिमाण के गुण निष्पन्न तथा नोगुण निष्पन्न ये दो प्रकार हैं। उसमें भी गुण निष्पन्न का वर्ण, गंध, रस आदि की दृष्टि से तथा नोगुण निष्पन्न का संख्या और नोसंख्या की दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

विवेचन—"भवन: भाव:"— यह भाव शब्द की व्युत्पत्ति है। भवन: अर्थात् होना, जिससे विद्यमान पदार्थों के वर्णादि परिणामों अथवा ज्ञानादि परिणामों का भली भांति बोध हो वह भाव कहलाता है।

गुण परिमाण—भाव परिमाण के गुण निष्पन्न तथा नोगुण निष्पन्न ये दो भेद होते हैं। गुण परिमाण भी दो प्रकार के हैं— जीव गुण परिमाण और अजीव गुण परिमाण। जीव गुण परिणमन तीन प्रकार का है, (१) ज्ञान, (२) दर्शन और (३) चारित्र। अजीव का गुण परिणमन ५ प्रकार का है— (१) वर्ण, (२) गंध, (३) रस, (४) स्पर्श और (५) संस्थान।

ये गुण परिणमन के नाम निर्देशित किये। अब नोगुण परिणमन रूप संख्या परिणमन तथा नोसंख्या परिणमन की चर्चा अग्रिम गाथाओं में करेंगे—

संखाणं पुण दुविहं सुयसंखाणं च गणणसंखाणं।

अक्खरपयमाईयं कालियमुक्कालियं च सुयं ।।१३५।।

गाथार्थ—पुन: संख्या के भी दो प्रकार हैं— श्रुत संख्या तथा गणित संख्या। उसमें श्रुत संख्या भी दो प्रकार की हैं— कालिक और उत्कालिक। कालिक श्रुत संख्या के भी अक्षर, पद आदि अनेक भेद है। श्रुत के पुन: दो भेद हैं— कालिक एवं उत्कालिक। कालिक में आचारांग आदि ग्रंथ और उत्कालिक में दशवैकालिक आवश्यक प्रज्ञापना जीवाभिगम आदि ग्रन्थ आते हैं। पुन: कालिक एवं उत्कालिक की श्रुत संख्या अनेक प्रकार की है यथा (१) पर्याय, (२) अक्षर, (३) संघात, (४) पद, (५) पाद, (६) गाथा, (७) श्लोक, (८) बेढ, (९) वेष्टक, (१०) अनुयोगद्वार, (११) उद्देशक, (१२) अध्ययन, (१३) श्रुतस्कन्ध, (१४) अंग आदि। इसप्रकार यहाँ श्रुत संख्या का वर्णन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब गणितीय संख्या के विषय में चर्चा करेंगे—

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतयं चेव गणणसंखाणं।

संखेज्जं पुण तिविहं जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ।।१३६।।

गाथार्थ—गणितीय संख्या-संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त ऐसी तीन प्रकार की है। पुनः संख्यात संख्या भी जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है।

तिविहमसंखेज्जं पुण परित्त- जुत्तं असंख्यासंखं।

एक्केक्कं पुण तिविहं जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ।।१३७।।

गाथार्थ—इसी प्रकार असंख्यात संख्या भी तीन प्रकार की है— परीत असंख्यात, युक्तअसंख्यात तथा असंख्यात-असंख्यात। इन तीनों के भी पुनः तीन-तीन प्रकार हैं— जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट। इस तरह से असंख्यात के निम्न नौ भेद हैं— १. जघन्य परीत-असंख्यात, २. मध्यम परीत-असंख्यात, ३. उत्कृष्ट परीत-असंख्यात, ४. जघन्य युक्त-असंख्यात, ५. मध्यम युक्त-असंख्यात, ६. उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात, ७. जघन्य असंख्यात-असंख्यात, ८. मध्यम असंख्यात-असंख्यात और ९. उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात ।

तिविहमणंतंपि तह, परित्त जुत्तं अणंतयाणंतं ।

एक्केक्कं पिय तिविहं जहण्णयं मज्झिमुक्कोसं ।।१३८।।

गाथार्थ— अनंत भी तीन प्रकार कीं संख्या वाला है— परीत-अनंत, युक्त-अनंत तथा अनंतानंत। इनमें से प्रत्येक के भी तीन-तीन भेद होते हैं। जघन्य-मध्यम तथा उत्कृष्ट। इस प्रकार अनन्त के भी नौ भेद होते है।

प्रस्तुत गाथा में अनन्त के नौ भेद बताये गये हैं, परन्तु व्याख्या करने पर प्रथम दो अर्थात् परीत-अनन्तऔर युक्त-अनन्त के तो तीन-तीन भेद स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है किन्तु तीसरे अनतानंत के जघन्य एवं मध्यम दो भेद ही मानना चाहिये, क्योंकि उत्कृष्ट अनंतानंत ऐसी कोई वस्तु होना संभव नहीं है अतः उसको स्वीकार न करने से अनंत के आठ प्रकार ही माननंा चाहिये।

संख्यात का स्वरूप

जंबुद्दीवो सरिसवपुण्णो ससलागपडि (मह) सलागाहिं।

जावइअं पडिपूरे तावइअं होइ संखेज्जं ।।१३९।।

गाथार्थ—जम्बु द्वीप के समान आकार वाले १. अनवस्थित, २. शलाका, ३. प्रतिशलाका, तथा ४. महाशलाका—ऐसे चार प्याले हों, जब वे प्याले सरसों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से पूर्ण रूप से भर जाय तब उन सरसों के दानों की संख्या उत्कृष्टसंख्यात होती है।

संख्यात निरूपण— जम्बूद्वीप जैसे आकार के चार पल्यों के नाम क्रमशः १. अनवस्थित, २. शलाका, ३. प्रतिशलाका और ४. महाशलाका है। चारों पल्य गहराई में एक हजार योजन परिमाण समझने चाहिये। इन्हें शिखा पर्यन्त सरसों से पूर्ण भरने का विधान है।

शास्त्र में सत् और असत् दो प्रकार की कल्पना होती है जो कार्य में परिणत की जा सके वह सत्कल्पना तथा जो कार्य में परिणत न की जा सके वह असत्कल्पना। पल्यों का विचार असत्कल्पना है। इसका प्रयोजन उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप समझाना मात्र है।

शास्त्र में पल्य चार कहे गये है जिनके नाम ऊपर बता दिये हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई जम्बूद्वीप के बराबर एक-एक लाख योजन की है। गहराई एक हजार योजन की है। ऊंचाई पद्मवर वेदिका परिमाण अर्थात् साढे आठ योजन कही गई है। पल्य की गहराई तथा ऊँचाई मेरु की समतल भूमि से समझना चाहिये। सारांश यह है कि ये कल्पित पल्य तल से शिखा तक १००८$\frac{१}{२}$ योजन होते हैं।

अनवस्थित पल्य अनेक बनते है। इनकी लम्बाई-चौड़ाई एक सी नहीं हैं। यही कारण है कि इन्हें अनवस्थित कहा जाता है, पहले अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजन की है और आगे के सब अनवस्थित पल्यों की लम्बाई-चौड़ाई उससे अधिकाधिक है। जैसे जम्बूद्वीप परिमाण मूलानवस्थित पल्य को सरसों से भर देना और जम्बूद्वीप से लेकर आगे के प्रत्येक द्वीप-समुद्र में एक-एक सरसों डालते जाना। इस प्रकार डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में मूलानवस्थित पल्य खाली हो जाय- जम्बूद्वीप (मूलानवस्थित) से उसी द्वीप या उस समुद्र तक की लम्बाई-चौड़ाई वाला नया पल्य बना लिया जाय, यह पहला उत्तरानवस्थित पल्य है।

इस पल्य को पूर्ण रूप से सरसों से भरना और इन सरसों में से एक-एक सरसों को आगे के प्रत्येक द्वीप में तथा समुद्र में डालते जाना। डालते-डालते जहां सरसों के दाने समाप्त हो जाय, उस द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा चौड़ा पल्य फिर से बना लेना यह दूसरा उत्तरानवस्थित पल्य है।

इस प्रकार क्रमशः **अनवस्थित** पल्य बनाते जाना- यह पल्य कब तक बनाना?— इसके उत्तर में बताया गया कि प्रत्येक अनवस्थित के खाली होने पर एक-एक सर्षप **शलाका** पल्य में डालते जाना। इससे यह ज्ञात होगा कि कितने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनवस्थित पल्य बने और खाली हुए। इस शलाका पल्य के भर जाने पर एक-एक सर्षप प्रतिशलाका में डाला जाता है। **प्रतिशलाका** के सर्षप की संख्या से ज्ञात होता है कि कितनी बार शलाका पल्य भरा और खाली हुआ। प्रतिशलाका पल्य के एक-एक बार भर जाने और खाली हो जाने पर एक-एक सर्षप **महाशलाका** पल्य में डाल दिया जाता है। जिससे कितनी बार प्रतिशलाका पल्य भरा गया व खाली किया गया है, यह ज्ञात हो जाता है।

इसमें जब शलाका पल्य भर जाता है तो मूलस्थान से अन्तिम सर्षप वाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थित पल्य बनाकर उसे सर्षप से भर देना चाहिये। इससे अब तक में अनवस्थित पल्य और शलाका पल्य सर्षपों से भर गये इन दो में से शलाका पल्य के एक-एक सर्षप को उक्त विधि के अनुसार आगे के द्वीप समुद्र में डालते जाना चाहिये। एक-एक सर्षप निकालने से जब शलाका पल्य बिल्कुल खाली हो जाय तथा उसके खाली हो जाने का सूचक एक सर्षप प्रतिशलाका पल्य में डालना चाहिये। अब तक अनवस्थित पल्य सर्षप से भरा पड़ा है और शलाका पल्य खाली हो चुका है और प्रतिशलाका में एक सर्षप पड़ा है ।

इसके पश्चात् अनवस्थित पल्य के एक-एक सर्षप को आगे के द्वीप समुद्र में डालते जाना चाहिये और उसके खाली होने पर एक सर्षप शलाका पल्य में डालना। पुनः मूल स्थान से जहां तक अन्तिम सर्षप डाला वहां तक नया अनवस्थित पल्य बनाना तथा उक्त विधि से खाली करते जाना चाहिये तथा प्रत्येक अनवस्थित पल्य के खाली हो जाने पर एक-एक सर्षप शलाका पल्य में डालते जाना चाहिये। ऐसा करते-करते जब शलाका पल्य भर जाये तब जिस स्थान पर अन्तिम सर्षप डाला है वहाँ से मूलस्थान तक का विस्तीर्ण नया अनवस्थित पल्य बनाकर उसे भी सर्षपों से भर देना चाहिये। अब तक अनवस्थित और शलाका पल्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाका में एक सर्षप है।

शलाका पल्य को पूर्व विधि के अनुसार फिर से खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकने पर एक सर्षप प्रतिशलाका में रखना चाहिये। अब अनवस्थित पल्य भरा है तथा शलाका पल्य खाली है तथा प्रतिशलाका पल्य में दो सर्षप पड़े हुए हैं।

आगे फिर इसी विधि से अनवस्थित पल्य को खाली करना और एक-एक सर्षप शलाका पल्य में डालना चाहिये इस प्रकार शलाका पल्य को बार-बार भर कर उक्त विधि के अनुसार खाली करते जाना और एक-एक सर्षप प्रतिशलाका पल्य में डालते जाना चाहिये। ऐसे करते हुए जब वह प्रतिशलाका पल्य भर जाये तब अनवस्थित पल्य द्वारा शलाका को भरना और अनवस्थित को भी भर कर रखना। अब तक अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका ये तीनों पल्य भर गये। अब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिशलाका के एक-एक सर्षप को आगे के द्वीप, समुद्र में डालते जाना। उसके खाली होने पर एक सर्षप जो प्रतिशलाका के खाली होने का सूचक है उसको महाशलाका में डालना। अब अनवस्थित तथा शलाका पल्य भरे हैं। प्रतिशलाका खाली है और महाशलाका में एक सर्षप पड़ा है।

इसके बाद शलाका पल्य को खाली कर एक सर्षप प्रतिशलाका में डालना। अनवस्थित को खाली कर शलाका में एक सर्षप डालना। इस प्रकार नया-नया अनवस्थित पल्य बना कर उसे सर्षप से भरकर तथा उक्त विधि के अनुसार उसे खालीकर एक-एक सर्षप द्वारा शलाका पल्य को भरना चाहिये। हर एक शलाका पल्य के खाली हो चुकने पर एक-एक सर्षप प्रतिशलाका में डालना चाहिये। प्रतिशलाका भर जाने के बाद अनवस्थित द्वारा शलाका भर लेना और अन्त में अनवस्थित भी भर देना चाहिये। इस प्रकार अब तक में तीन पल्य भर गये हैं और चौथे में एक सर्षय है। फिर प्रतिशलाका को उक्त रीति से खाली करना और महाशलाका पल्य में एक सर्षप डालना चाहिये। अब तक पहले के दो पल्य पूर्ण हैं प्रतिशलाका खाली है और महाशलाका में दो सर्षप हैं इस तरह प्रतिशलाका से महाशलाका को भर देना चाहिये।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्य के खाली हो जाने के समय डाले गये एक-एक सर्षप से क्रमशः दूसरा, तीसरा और चौथा पल्य जब भर जाय तब अनवस्थित पल्य जो कि मूल स्थान से अन्तिम सर्षप वाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा और चौड़ा बनाया जाता है उसको भी सर्षपों से भर देना चाहिये। इस क्रम से चारों पल्य सर्षपों से ठसाठस भरे जाते हैं। (कर्मग्रन्थ४/७३-७७) जितने द्वीप समुद्रों में एक-एक सर्षप डालने से पहले तीन पल्य खाली हो गये हैं उन सब द्वीप-समुद्र की संख्या और परिपूर्ण चार पल्यों के सर्षपों की संख्या— इन दोनों की संख्या मिलाने से जो संख्या हो उससे एक कम संख्या उत्कृष्ट संख्यात हैं। यह मत कर्मग्रन्थिकों का है। अनुयोगद्वार की मलधारी वृत्ति में संकेत है— "यदा तु चत्वारोऽपि परिपूर्णा भवन्ति तदोत्कृष्टं संख्येक रूपाधिकम् भवति" जब चारों पल्य भर जाते हैं उसमें बनी संख्यात संख्या में से एक कम करने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है। (अनुयोगद्वार मलधारी वृत्ति पृष्ठ २३७)।

इस प्रकार गाथा १३६ में बताये गये संख्यात को अब जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट रूप से बताते है—

(१) जघन्य संख्यात— दो की संख्या जघन्य संख्यात है। क्योंकि जिसमें भेद पार्थक्य प्रतीत हो उसे संख्या कहते हैं। भेद की प्रतीति कम से कम दो में होने से उसे जघन्य संख्या कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) मध्यम संख्यात—दो से ऊपर और उत्कृष्ट-संख्यात से पूर्व तक की अन्तरालवर्ती सब संख्यायें मध्यम-संख्यात हैं। समझने के लिये यह कल्पना करें कि १०० की संख्या उत्कृष्ट है और दो की संख्या जघन्य है, तो ३ से लेकर ९९ तक की संख्या मध्यम संख्यात हैं।

(३) उत्कृष्ट संख्यात—दो से लेकर दहाई, सैकड़ा, हजार, लाख, करोड़ शीर्ष प्रहेलिका आदि राशियाँ जो संख्या बताने में सक्षम हैं, उसके बाद की संख्या गिनती से न बता पाने के कारण उस संख्या को उपमा से बता पाना ही शक्य है। इसलिए उपमा का आधार लेकर ही संख्यात के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

शास्त्र में सत्-असत् दो कल्पना होती है। कार्य में परिणत होने वाली को सत् तथा न होने वाली को असत् कहते हैं। यहाँ असत् कल्पना से ऊपरोक्त चार पल्यों यथा अनवस्थित, शलाकादि के आधार पर उत्कृष्ट अनवस्थित संख्यात का स्वरूप बताया गया है।

अब असंख्यात का निरूपण किया जाता है।

असंख्यात निरूपण—गाथा १३७ में तीन प्रकार के असंख्यात बताये गये हैं— १. परीत-असंख्यात २. युक्त-असंख्यात तथा ३. असंख्यात-असंख्यात। इन तीनों के भी तीन-तीन प्रकार हैं, जिनका उल्लेख किया गया है।

१. परीतअसंख्यातनिरूपण—पूर्वचर्चित उत्कृष्ट संख्यात में एक का प्रक्षेप करने से जघन्य परीतअसंख्यात होता है।

(२) उसके बाद जब तक उत्कृष्ट-परीत-असंख्यात न बने तब तक की मध्य की सारी ही संख्या मध्य परीत-असंख्यात हैं।

(३) उत्कृष्ट परीत-असंख्यात बनाने की विधि या उत्कृष्ट परीत-असंख्यात परिमाण का जघन्य परीत-असंख्यात राशि को जघन्य परीत-असंख्यात राशि से परस्पर अभ्यास गुणित करके उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीत-असंख्यात का परिमाण होता है।

जिस संख्या का अभ्यास गुणित करना है, उसे उसी संख्या से उतनी ही बार गुणित करना होता है उदाहरण के लिए उसे ५ मान लें, इस ५ को ५ से ५ बार गुणा करने पर (५×५×५×५×५=३१२५) जो संख्या बनेगी इसमें से एक कम करने पर (३१२४) उत्कृष्ट परीत-असंख्यातबनता है। यदि उसमें से एक कम न किया जाय तो वह जघन्ययुक्तअसंख्यात रूप मानी जायेगी।

२. युक्तअसंख्यात निरूपण—(१) जघन्य परीत-असंख्यातका जघन्य परीतअसंख्यात से अभ्यास करने पर प्राप्त संख्या जघन्ययुक्तअसंख्यात है— जैसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊपर बता आये हैं। पुनः उत्कृष्ट परीत-असंख्यातमें एक जोड़ने से जघन्य युक्त-असंख्यात संख्या बनती है। आवलिका भी इसी परिमाण वाली जानना चाहिये।

(२) जघन्ययुक्तअसंख्यात से आगे जहाँ तक उत्कृष्टयुक्तअसंख्यात प्राप्त न हो तत्परिमाण संख्या को मध्यमयुक्तअसंख्यात कहते हैं।

(३) जघन्ययुक्त असंख्यात राशि को आवलिका (जघन्ययुक्तअसंख्यात) से गुणा करने से प्राप्त संख्या में से एक कम करने से उत्कृष्टयुक्तअसंख्यात होता है अथवा जघन्यअसंख्यात असंख्यात राशि में से एक कम करने से उत्कृष्ट युक्तअसंख्यात होता है।

३. असंख्यात-असंख्यात निरूपण— (१) ऊपर जघन्य असंख्यात-असंख्यात का निरूपण किया अर्थात् जघन्य युक्तअसंख्यात को जघन्य युक्त असंख्यात से गुणित की गई राशि अथवा उत्कृष्ट युक्तअसंख्यात में एक प्रक्षेप करने से उपलब्ध राशि, जघन्य असंख्यात-असंख्यात होता है।

(२) तत्पश्चात् उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात प्राप्त होने से पूर्व तक की संख्या मध्यम असंख्यात-असंख्यात है।

(३) जघन्य असंख्यात-असंख्यात को जघन्य असंख्यात असंख्यात से गुणित कर एक कम करने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात है।

कुछ आचार्य उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात की इस प्रकार से प्ररूपणा करते हैं— जघन्य असंख्यात-असंख्यात का तीन बार वर्ग करके नीचे लिखी दस असंख्यातों की राशियां उसमें मिलाना— १. लोकाकाश के प्रदेश २. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ३. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४. एक जीव के प्रदेश, ५. सूक्ष्म एवं बादर अनन्तकाय, ६. प्रत्येकशरीर, ७. ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के स्थितिबंध के अध्यवसाय, ८. अनुभाग विशेष, ९. योगच्छेद प्रविभाग और १०. दोनों अर्थात् उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी कालों के समय। (त्रिलोकसार, गाथा ४२ से ४६)

उक्त दसों के प्रक्षेप के बाद पुनः इस समस्त राशि का तीन बार वर्ग प्राप्त करके प्राप्त संख्या में से एक न्यून करने से उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात का प्रमाण होता है।

नौ प्रकार के असंख्यात का वर्णन किया, अब अनन्त के भेदों का निरूपण करते हैं—

अनन्त निरूपण— गाथा १३८ में तीन प्रकार के अनन्त बताये गये हैं। (१) परीत-अनन्त, (२) युक्तअनन्त, (३) अनन्त-अनन्त—ये तीनों भी तीन-तीन प्रकार के हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. परीतानन्त निरूपण—(१) जघन्य परीतानन्त— जघन्य-असंख्यात राशि को उसी जघन्य असंख्यात-असंख्यात राशि से परस्पर अभ्यास रूप में गुणित करने पर प्राप्त परिपूर्ण जघन्य परीतानन्त का परिमाण है अथवा उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात में एक (रूप) का प्रक्षेपण करने से भी जघन्य परीतानन्त का प्रमाण होता है।

(२) मध्यम परीतानन्त— उत्कृष्ट परीतानन्त के प्राप्त न होने के पूर्व की राशि मध्यम परीतानन्त होती है।

(३) उत्कृष्ट परीतानन्त— जघन्य परीतानन्त को जघन्य परीतानन्त से परस्पर अभ्यास रूप गुणित करके उसमें से एक कम करने से उत्कृष्ट परीतानन्त की संख्या बनती है।

२. युक्तानन्त निरूपण—(१) जघन्य परीतानन्त राशि का उसी राशि से अभ्यास करने पर प्रतिपूर्ण संख्या जघन्य युक्तानन्त है अथवा उत्कृष्ट परीतानन्त में एक राशि (अंक) प्रक्षिप्त करने से एक जघन्य युक्तानन्त होता है। अभव्य जीव भी जघन्य युक्तानन्त जितने होते हैं। (२) उसके पश्चात् मध्यम युक्तानन्त राशि है और वह राशि उत्कृष्ट युक्तानन्त के पूर्व तक है। (३) जघन्य युक्तानन्त राशि के साथ अभव सिद्धिक (अभव्य) राशि का परस्पर अभ्यास रूप गुणाकार करके प्राप्त संख्या में से एक न्यून करने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट युक्तानन्त है अथवा एक न्यून जघन्य अनन्तानन्त उत्कृष्ट युक्तानन्त है।

३. अनन्त-अनन्त निरूपणं—(१) जघन्य युक्तानन्त के साथ अभवसिद्धिक जीवों (जघन्य युक्तानन्त) को परस्पर 'अभ्यास' रूप से गुणित करने पर प्राप्त पूर्ण संख्या जघन्य अनन्त-अनन्त का परिमाण है अथवा उत्कृष्ट युक्तानन्त में एक प्रक्षेप करने से जघन्य अनन्त-अनन्त होता हैं।

(२) तत्पश्चात् (जघन्य अनन्त-अनन्त के बाद) सभी स्थान मध्यम अनन्त-अनन्त होते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त राशि में कोई परिमाण सम्भव नहीं हैं।

यह कथन सैद्धान्तिक आचार्यों का हैं। किन्तु कुछ आचार्यों ने उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त राशि का भी निरूपण किया हैं। उनका मत है कि जघन्य अनन्त-अनन्त का तीन बार वर्ग करके फिर उसमें निम्नलिखित छह अनन्तों का प्रक्षेपण करना चाहिये— १. सिद्धजीवों की राशि, २. निगोद के जीवों की राशि, ३. वनस्पति कायिक जीवों की राशि, ४. तीनों कालों के समयों की राशि, ५. सर्वपुद्गल द्रव्यों की राशि, तथा ६. लोकाकाश तथा अलोकाकाश के प्रदेशों की राशि। (६ क्षेपक टीका तथा त्रिलोकसार की गाथा ४९ में वर्णित)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनको मिलाकर फिर सर्वराशि का तीन बार वर्ग करके उस राशि में केवलद्विक (केवलदर्शन, केवलज्ञान) की अनन्त पर्यायों का प्रक्षेपण करने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्त राशि का परिमाण होता है।

गणन संख्या का संक्षिप्त प्रारूप इस प्रकार है।

(१) त्रिविध संख्यात

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट

(२) नवविध असंख्यात

परीत-असंख्यात	युक्त-असंख्यात	असंख्यात-असंख्यात
१. जघन्य परीत-असंख्यात	४. जघन्य युक्त-असंख्यात	७. जघन्य असंख्यात-असंख्यात
२. मध्यम परीत-असंख्यात	५. मध्यम युक्त-असंख्यात	८. मध्यम असंख्यात-असंख्यात
३. उत्कृष्ट परीत-असंख्यात	६. उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात	९. उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात

(३) अष्टविध अनन्त

परीत-अनन्त	युक्त-अनन्त	अनन्त-अनन्त
१. जघन्य परीत-अनन्त	जघन्य युक्त-अनन्त	जघन्य अनन्त-अनन्त
२. मध्यम परीत-अनन्त	मध्यम युक्त-अनन्त	मध्यम अनन्त-अनन्त
३. उत्कृष्ट परीत-अनन्त	उत्कृष्ट युक्त-अनन्त	

गाथा १३४ के अनुसार गुण तथा नोगुण के दो प्रकारों में से गुण निष्पन्न वर्ण आदि की चर्चा की तथा नोगुण निष्पन्न संख्या में श्रुत तथा गणित संख्या की चर्चा हुई अब नो संख्या की चर्चा करते हैं।

नोसंखाणं नाणं दंसण चरणं नयप्पमाणं च ।

पंच चउ पंच पंच य जहाणुपुव्वीए नायव्वा ।।१४०।।

गाथार्थ—नोसंख्या के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा नयप्रमाण ये चार भेद हैं। इनके यथाक्रम से पांच, चार, पांच तथा पांच भेद जानना चाहिए।

ज्ञान-प्रमाण

पच्चक्खं च परोक्खं नाणपमाणं समासओ दुविहं।

पच्चक्मोहिमणकेवलं च पारोक्ख मइसुत्ते ।।१४१।।

गाथार्थ—ज्ञान-प्रमाण संक्षेप से प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का है प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन प्रकार तथा परोक्ष के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दो प्रकार हैं।

विवेचन—ज्ञान प्रमाण संक्षेप से प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के हैं।

प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय निरपेक्ष। इन्द्रिय के बिना आत्मा की निर्मलता से होने वाला साक्षात् पदार्थों का ज्ञान। ज्ञान-अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ऐसा तीन प्रकार का है। इन्द्रिय निरपेक्ष होने के कारण आगम में इसे नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा गया है।

जो ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष हैं, वे परोक्ष हैं। ऐसे ज्ञान दो हैं— मति एवं श्रुत। इनका वर्णन अगली गाथा में किया गया है—

इंदियपच्चक्खंपि य अणुमाणं उवमयं च मइनाणं ।

केवलिभासियअत्थाण आगमो होइ सुयनाणं ।।१४२।।

गाथार्थ—मतिज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष और इन्द्रिय परोक्ष दोनों हैं। इन्द्रिय परोक्ष के दो भेद हैं— अनुमान और उपमान। केवली भाषित अर्थों को बताने वाले आगमों को श्रुतज्ञान कहते हैं।

विवेचन—इन्द्रियों के बिना होने वाले ज्ञान अर्थात् नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकार पूर्व गाथा में बताये गये हैं। इस गाथा में इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पांच प्रकार बताये गए हैं- १. श्रोतेन्द्रिय प्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, ४. जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष, ५. स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष शब्द में प्रति+अक्ष ऐसे दो शब्द हैं। अक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— "अक्ष्णोति ज्ञानात्मना व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा" अर्थात् "अक्ष" जीव या आत्मा को कहते हैं क्योंकि जीव ज्ञानरूप से समस्त पदार्थों को व्याप्त करता है, जानता है। जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से उत्पन्न हो, जिसमें इन्द्रियादि किसी माध्यम की अपेक्षा न हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस दृष्टि से तो अवधि, मन:पर्यय और केवल— ये तीनों ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं। किन्तु अक्ष का एक अर्थ इन्द्रिय भी होता है अत: लोक व्यवहार में इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। यहां इसी लोक व्यवहार के आधार पर इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है।

इन्द्रिय परोक्ष के अनुमान और उपमान दो भेद हैं—

१. अनुमान प्रमाण—अनुमान तीन प्रकार का हैं, १. पूर्ववत् २. शेषवत् ३. दृष्ट साधर्म्यवत् । अनु अर्थात् पश्चात् और मान अर्थात् ज्ञान। साधन के ग्रहण (दर्शन) और सम्बन्ध के स्मरण के पश्चात् होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं तात्पर्य यह है कि साधन (हेतु) से जिस साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यह अनुमान प्रत्यक्षज्ञान की तरह प्रमाण है। (विस्तार हेतु अनुयोगद्वार, सूत्र ४४० देखें)।

२. उपमान प्रमाण—दो प्रकार का है, १. साधर्म्योपनीत, २. वैधर्म्योपनीत। सादृश्यता के आधार पर वस्तु को जानना यथा-गवय गाय जैसा होता है, उपमान प्रमाण है। (विस्तार हेतु अनुयोगद्वार, सूत्र ४५८ देखें)।

ऊपर मतिज्ञान की चर्चा की गई हैं अब श्रुतज्ञान के विषय में बताते हैं-

प्रश्न- श्रुतज्ञान क्या है?

उत्तर- केवली भाषित अर्थों का प्रतिपादन करने वाले आगमों को श्रुतज्ञान कहा गया है।

प्रश्न- भगवन्! आगम प्रमाण का स्वरूप क्या है?

उत्तर- आयुष्मन्! आगम दो प्रकार का हैं, १. लौकिक, २. लोकोत्तर।

१. लौकिक आगम—जिसे असर्वज्ञ व्यक्तियों ने अपनी स्वच्छन्द बुद्धि और मति से रचा हो, किन्तु लोक में आगमतुल्य मान्य हो, उसे लौकिक आगम कहते हैं, जैसे रामायण, महाभारत आदि। (अनुयोगद्वार, सूत्र ४६७)

२. लोकोत्तर आगम—केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक, वर्तमान, अतीत और अनागत के ज्ञाता सर्वज्ञ के वचनों पर आधारित आचारांग आदि गणिपिटक लोकोत्तर आगम हैं।

अन्य अपेक्षा से लोकोत्तर आगम तीन प्रकार का कहा गया हैं—

१. सूत्रागम, २. अर्थागम और ३. तदुभय अथवा

१. आत्मागम, २. अनन्तरागम, ३. परम्परागम।

यह ज्ञान प्रमाण की चर्चा हुई अब अग्रिम गाथाओं में दर्शन, चारित्रादि की चर्चा करेंगे—

चक्खुदंसणमाई दंसण चरणं च सामइय- माई।
नैगमसंगहववहारुज्जुसुए चेव सद्द नया ।।१४३।।

गाथार्थ—चक्षुदर्शन आदि दर्शन के, सामायिक आदि चारित्र के तथा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये नय के भेद हैं।

विवेचन—दर्शन चार प्रकार का है- (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन तथा (४) केवल दर्शन। सभी प्रकार का दर्शन आत्मा का गुण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. चक्षुदर्शन : घट, पट आदि द्रव्यों को देखता है।

२. अचक्षुदर्शन : घटादि पदार्थों में चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के साथ संश्लेष, संयोग आदि का अनुभव करता है।

३. अवधिदर्शन : सभी रूपी द्रव्यों का अनुभव करता है किन्तु उनकी सभी पर्यायों की अनुभूति नहीं कर पाता है।

४. केवल दर्शन : सभी द्रव्यों तथा उनकी सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

चारित्रगुण— चारित्रगुण पांच प्रकार का है, १. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र तथा ५. यथाख्यात चारित्र।

इनमें सामायिक आदि पाँचों चारित्रों के दो-दो भेद हैं-

१. सामायिक चारित्र के	१. इत्वरिक और	२. यथाकथित।
२. छेदोपस्थापनीय चारित्र के	१. सातिचार और	२. निरतिचार।
३. परिहारविशुद्धि चारित्र के	१. निर्विश्यमानक और	२. निर्विष्टकायिक।
४. सूक्ष्मसम्पराय चारित्र के	१. संक्लिश्यमानक और	२. विशुद्धयमानक।
५. यथाख्यात चारित्र के	१. प्रतिपाती और	२. अप्रतिपाती अथवा
	१. छाद्मस्थिक और	२. कैवलिक

१. सामायिक चारित्र— "सम्" उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक "अय" धातु से स्वार्थ में "इक" प्रत्यय लगाने से सामायिक शब्द निष्पन्न होता है। सम् अर्थात् समत्व या एकत्व और "आय" अर्थात् आगमन। जिसमें परद्रव्यों से निरपेक्ष समत्व रूपी उपयोग में आत्मा की प्रवृत्ति होती है वह सामायिक है, अथवा 'सम्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मध्यस्थभाव, उसकी 'आय' अर्थात् प्राप्ति है। समभाव की प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं, अथवा सम का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। अतः इनकी आय अर्थात् लाभ को भी सामायिक कहते हैं। सर्वसावद्य कार्यों से निवृत्ति (विरति) भी सामायिक है क्योंकि महाव्रतों को स्वीकार करने के पूर्व सभी सावद्य कार्य योगों से निवृत्ति रूप सामायिक चारित्र ग्रहण किया जाता है।

इसके दो भेद हैं— इत्वरिक व यावत्कथित।

१. इत्वरिक-अल्पकालीन एवं २. यावत्कालिक-आजीवनपर्यन्त। इत्वरिक सामायिक चारित्र गृहस्थ ग्रहण करते हैं। यावत्कथित सामायिक चारित्र भरत, ऐरावत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रों के मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु और महाविदेह के सभी तीर्थंकरों के साधु ग्रहण करते हैं क्योंकि उनकी उपस्थापना नहीं होती अर्थात् उन्हें महाव्रतों में पुनः स्थापित करने रूप दूसरी बार दीक्षा नहीं दी जाती है।

२. **छेदोपस्थापनीय चारित्र**—जिस चारित्र में पूर्व दीक्षा पर्याय का छेद कर के पुनः महाव्रतों की उपस्थापना की जाती है- वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह दो प्रकार है- सातिचार व निरतिचार।

१. महाव्रतों में से किसी का विघात करने वाले साधु को पुनः महाव्रत में स्थापित करना सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

२. नवदीक्षित को बड़ी दीक्षा देने रूप चारित्र निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह चारित्र भरत-ऐरावत क्षेत्र में प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के समय में होता है।

३. **परिहार विशुद्धि चारित्र**— तपविशेष की साधना से जिस चारित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं- निर्विश्यमानक २. निर्विष्टकायिक।

१. जिस चारित्र में साधक प्रविष्ट होकर तपविधि के अनुसार तपश्चरण कर रहे हों उसे निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। २. जिसमें तपविधि के अनुसार तप कर चुके हों उसे निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। निर्विश्यमानक तपाराधना करते हैं और निर्विष्टकायिक उनकी सेवा करते हैं—

नौ साधु मिलकर इस परिहार तप की आराधना करते हैं उनमें से चार साधक निर्विश्वमानक तप का आचरण करने वाले होते हैं तथा शेष रहे पांच में से चार उनके अनुपारिहारिक अर्थात् वैयावच्च करने वाले होते हैं एक साधु कल्पस्थित वाचनाचार्य होता है।

निर्विश्यमान साधक ग्रीष्म में जघन्य चतुर्थ भक्त (एक उपवास), मध्य षष्ठभक्त (दो उपवास), उत्कृष्ट अष्टभक्त (तीन उपवास) करते हैं। शीतकाल में दो, तीन, चार तथा वर्षा काल में तीन, चार, पांच उपवास करते हैं। यह क्रम छह मास तक चलता है। पारणे के दिन अभिग्रह सहित आयम्बिलव्रत (मात्र एक समय उबले धान का भोजन) करते हैं। भिक्षा में पांच वस्तुओं का ग्रहण और दो का अभिग्रह होता है। कल्पस्थित परिचारक पद ग्रहण करने वाले या वैयावृत्य करने वाले सदा आयम्बिल ही करते हैं।

इस प्रकार छह माह तक तप करने वाले साधक बाद में वैयावृत्य करने वाले बनते हैं। ये भी पूर्व तपस्वियों की तरह तपाराधना करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे छह मास के बाद तीसरे छह मास में वाचनाचार्य तप करते हैं। शेष आठ में से सात अनुचारी व एक वाचनाचार्य बनते हैं।

यह १८ मास की परिहारविशुद्धि तपाराधना है। कल्प समाप्त होने पर साधक या तो जिनकल्प को अंगीकार कर लेते हैं या अपने गच्छ में पुनः लौट आते हैं या पुनः वैसी ही तपस्या प्रारम्भ कर देते हैं।

इस परिहार विशुद्धि तप के आराधक इसे तीर्थंकर भगवान् के सान्निध्य में अथवा जिसने इस कल्प को तीर्थंकर से स्वीकार किया हो उसके पास ही अंगीकार करते हैं अन्य के पास नहीं। यह चारित्र जिन्होंने छेदोपस्थापनीय चारित्र अंगीकार किया है, उन्हीं को होता है। परिहार विशुद्धि चारित्र का अधिकारी बनने के लिए जघन्यायु उनतीस (२९) वर्ष तथा जघन्य दीक्षा पर्याय बीस (२०) वर्ष आवश्यक है। इस संयम का उत्कृष्ट काल कुछ कम (२९ वर्ष कम) पूर्व कोटि वर्ष तक माना गया है।

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होता है। इस चारित्र के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा एवं विहार और अन्य समय में ध्यान, कायोत्सर्गादि करते हैं।

इस चारित्र को धारण करने वाले दो प्रकार के होते हैं —

१. इत्वरिक- जो कल्प की समाप्ति के बाद पुनः उसी गच्छ में आ जाते हैं।

२. यावत्कथित- जो कल्प समाप्त होते ही बिना व्यवधान के जिनकल्प स्वीकार कर लेते हैं।

४. सूक्ष्म सम्पराय चारित्र— जिसके कारण जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है उसे सम्पराय कहते हैं। संसार परिभ्रमण के मुख्य कारण क्रोधादि कषाय हैं। जिस चारित्र में सूक्ष्म अर्थात् संज्वलन लोभ रूप कषाय (सम्पराय) का उदय ही शेष रह जाता है, ऐसा चारित्र सूक्ष्म संपराय चारित्र कहलाता है।

यह दसवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।

यह चारित्र संक्लिश्यमान और विशुद्ध्यमान के भेद से दो प्रकार का होता है। (१) क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाले का चारित्र विशुद्ध्यमानक होता है जबकि (२) ग्यारहवें पर चढ़कर वहाँ से गिरकर जब साधक पुनः दसवें पर आता है, तो वह संक्लिश्य मानक कहलाता है क्योंकि गिरने में संक्लेश ही कारण बनता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. यथाख्यात चारित्र—यह शब्द प्राकृत में "अहक्खाय" रूप में है। इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार जानना चाहिये। अह+आ+अक्खाय। यहाँ अह-अथ शब्द यथातथ्य अर्थ में और आ-आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अक्खाय क्रिया पद है। जिसकी संधि होने से अहाक्खाय शब्द बनता है फिर "ह्रस्वः संयोगे" इस सूत्र से 'अहक्खाय' पद बन जाता है इसका अर्थ यह हुआ कि यथार्थ रूप से जो चारित्र पूर्णतः कषाय रहित हो उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

इस चारित्र के दो भेद होते हैं— प्रतिपाती और अप्रतिपाती।

१. प्रतिपाती- जिस जीव का मोह उपशान्त हुआ हो उसे प्रतिपाती कहते हैं।

२. अप्रतिपाती- जिसका मोह सर्वथा क्षीण हो गया हो उसे अप्रतिपाती कहते हैं।

आश्रयी के भेद से इस चारित्र के निम्न दो भेद हैं—

१. छाद्मस्थिक- छद्मस्थ अर्थात् ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव।

२. केवलिक- केवलज्ञान को प्राप्त तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव। यद्यपि ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव का मोह सर्वथा उपशान्त या क्षय हो जाता है परन्तु ज्ञानावरणीयादि तीन के शेष रहने से उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। केवली के चारों घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार चारित्र गुण का प्ररूपण जानना चाहिये। अब क्रम प्राप्त नय प्रमाण का निरूपण करते हैं—

नय—प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को मुख्य रूप से जानने वाले ज्ञान को "नय" कहते हैं।

विस्तार से तो नय अनेक हैं क्योंकि एक वस्तु के विवेचन की जितनी विधियाँ हो सकती हैं उतने ही नय हो सकते हैं परन्तु संक्षेप से नय के दो भेद हैं— १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्य को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और पर्याय अर्थात् विशेष को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। सामान्यतया नयों के निम्न भेद किये जाते हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं- नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं- ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

सिद्धसेन आदि तार्किकों के मत को मानने वाले द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद मानते हैं। वे नैगम को भी स्वतन्त्र नय नहीं मानते हैं। किन्तु ऋजुसूत्र को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यार्थिक नय में सम्मिलित करते हैं। सिद्धसेन के अनुसार पर्यायार्थिक नय भी तीन ही हैं। परन्तु जिनभद्र गणि के मत का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक द्रव्यार्थिक नय के चार भेद मानते हैं। वे भी ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक मानते हैं। (विशेषावश्यक, भाष्य गाथा-१५५०)

(१) नैगम नय— दो पर्यायों, दो द्रव्यों तथा द्रव्य और पर्याय का प्रधान और गौणभाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगम नय कहते हैं। नैगम नय- न+एकम् एक नहीं अर्थात् अनेक गमों अर्थात् बोधमार्गों (विकल्पों) से वस्तु को जानता है। (रत्नाकरावतारिका, अध्याय ७, सूत्र ७)

जो अनेक दृष्टियों से वस्तु को जानता है अथवा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है उसे नैगम नय कहते हैं।

निगम नाम जनपद अर्थात् देश का है उसमें जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है वहाँ पर उस अर्थ और शब्द के सम्बन्ध को जानने का नाम नैगम नय हैं अर्थात् इस शब्द का वाच्य यह अर्थ है और इस अर्थ का वाचक यह शब्द हैं, इस प्रकार वाच्य-वाचक के सम्बन्ध के ज्ञान को नैगम नय कहते हैं। (तत्त्वार्थ सूत्र- अध्ययन १)

तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगम नयः।

निगम का अर्थ है संकल्प, जो निगम अर्थात् संकल्प को विषय करके कहे वह नैगम नय कहा जाता है- जैसे "कौन जा रहा है, यह पूछे जाने पर "मैं जा रहा हूँ" यह उत्तर दिया जाता है यहां पर कोई भी जा नहीं रहा किन्तु जिसने जाने का केवल संकल्प ही किया है वह नैगम नय की अपेक्षा से कहता है कि मैं जा रहा हूँ। (न्याय प्रदीप)

शब्दों के जो-जो अर्थ लोक में माने जाते हैं उनको समझने की दृष्टि नैगम नय है। इस दृष्टि से यह नय अन्य सभी नयों से अधिक विषय वाला हैं।

नैगम नय पदार्थ को सामान्य, विशेष और उभयात्मक मानता है। वह तीनों कालों, चारो निक्षेपों एवं धर्म और धर्मी दोनों का ग्रहण करता है। यह नय संकल्प के आधार पर साध्य का प्रतिपादन कर देता है जैसे किसी मनुष्य को स्तम्भ बनाने की इच्छा हुई। तब वह जंगल में काष्ठ लाने के लिए गया। मार्ग में किसी ने उससे प्रश्न किया कि कहाँ जा रहे हों? उसने उत्तर दिया कि स्तम्भ लाने के लिए जा रहा हूँ। बिना लकड़ी प्राप्त किये और बिना स्तम्भ बनाये— केवल संकल्प के आधार पर ही उसने कह दिया कि स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। इस प्रकार वस्तु के संकल्प को ही वस्तु मान लेना नैगम नय का अभिप्राय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नैगम नय के दो भेद हैं, क्योंकि कोई भी कथन दो ही प्रकार से हो सकता है (१) सामान्य की अपेक्षा से तथा (२) विशेष की अपेक्षा से।

सामान्य की अपेक्षा लेकर प्रवृत्त होने वाले नय को समग्र ग्राही नैगम नय कहते हैं जैसे घट। यहां घट (घड़ा) शब्द सामान्य है।

विशेष का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाले नय को देशग्राही नैगम नय कहते हैं यथा मिट्टी का घड़ा, पीतल का घड़ा, घी का घड़ा, पानी का घड़ा आदि।

अन्य अपेक्षा से नैगम नय के तीन भेद भी माने गये हैं जैसे भूत ग्राही नैगम, भावी ग्राही नैगम, और वर्तमान ग्राही नैगम।

अतीत की अपेक्षा से वर्तमान में कोई कथन करना भूत ग्राही नैगम नय है, जैसे दीपावली के दिन यह कहना कि आज महावीर स्वामी मोक्ष गये। आज का अर्थ है वर्तमान आज का दिन नहीं है अपितु भूतकाल का यही दिन है क्योंकि भगवान् महावीर को मोक्ष गये ढाई हजार वर्ष से अधिक हो गये। वर्तमान में भविष्य का संकल्प करना भावी ग्राही नैगम नय है। जैसे अरिहन्त सिद्ध ही हैं।

वर्तमान में कोई कार्य शुरु कर दिया गया हो परन्तु वह पूर्ण न हुआ हो, फिर भी पूर्ण हुआ कहना वर्तमान ग्राही नैगम नय हैं, जैसे रसोई बनाना प्रारम्भ करने पर यह कहना कि आज तो भात बनाया है।

(२) संग्रह नय—द्रव्य या वस्तु के विशेष से रहित मात्र सामान्य पक्ष को ग्रहण करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं। (रत्नाकरावतारिका) जाति रूप सामान्य पक्ष को विषय करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं। जैसे यह मनुष्य है, (अनुयोग द्वार— लक्षणद्वार)

संग्रह नय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है अथवा मात्र अवयव या अंश के आधार पर सर्वगुण पर्याय सहित वस्तु को ग्रहण करने वाला संग्रह नय है। जैसे कोई सेठ अपने नौकर से कहता है कि दातुन लाओ, वह दातुन शब्द सुनकर मञ्जन, ब्रश, जीभी, पानी का लोटा, तौलिया आदि सब चीज लेकर उपस्थित होता है। यहाँ केवल "दातुन" कहने से ही उसको दातुन की सम्पूर्ण सामग्री का ग्रहण कर दिया। संग्रह नय के दो भेद हैं— (१) परसंग्रह (सामान्य संग्रह) (२) अपर संग्रह (विशेष संग्रह)।

मात्र सत् को ग्रहण करने वाला नय परसंग्रह नय कहलाता है क्योंकि यह नय सत् कहने से जीव और अजीव के भेद को भी न मानकर सब द्रव्यों का ग्रहण करता है।

जीव द्रव्य आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और उनके भेदों की उपेक्षा करने वाला अपर संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से सब जीव द्रव्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का ग्रहण तो हुआ परन्तु अजीव द्रव्य रह गया। इसलिए यह नय विशेष संग्रह नय है। (रत्नाकरावतारिका- अध्याय ७)।

(३) व्यवहार नय—लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं जैसे जो सत् है- वह या तो द्रव्य है या पर्याय। जो द्रव्य है उसके जीवादि छः भेद हैं। जो पर्याय हैं उसके सहभावी और क्रमभावी ये दो भेद हैं। इसी प्रकार जीव के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं।

सब द्रव्यों और उनके विषयों में प्रवृत्ति करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। यह नय सामान्य को नहीं केवल विशेष को ही ग्रहण करता है क्योंकि सामान्य लोक व्यवहार का विषय नहीं है। लोक में तो विशेष घटादि पदार्थ जलधारण आदि क्रियाओं के योग्य देखे जाते है। यद्यपि निश्चय नय के अनुसार घट आदि सब अष्टस्पर्शी पौद्गलिक वस्तुओं में पाँचवर्ण, दो गन्ध, पाँच रस तथा आठ स्पर्श होते हैं किन्तु बालक और स्त्रियाँ जैसे साधारण लोग एक वस्तु में काले या नीले वर्ण विशेष का ही निश्चय करते है, उसी का लोक व्यवहार के योग्य होने के कारण वे सत् रूप से प्रतिपादन करते हैं और शेष का नहीं। जैसे कोयल काली है।

व्यवहार से कोयल काली है परन्तु निश्चय से कोयल में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श पाये जाते हैं। इसी प्रकार नरम गुड़ व्यवहार से मीठा है परन्तु निश्चय नय से उसमें उपरोक्त पाँचों रस आदि पाये जाते हैं।

यह नय प्राय: उपचार में ही प्रवृत्त हुआ करता है इसके ज्ञेय विषय अनेक होते हैं, इसलिए इसको विस्तृतार्थ भी कहा गया है। यह लोक प्रचलित वचन व्यवहार को ही सत्य मान लेता है जैसे— घड़ा चूता है, नाला गिरता है, रास्ता चलता है, बनारस आ गया। वस्तुत: घड़े में भरा हुआ पानी चूता है, नाला नहीं पर नाले में से पानी गिरता हैं, रास्ते में मनुष्य चलते हैं तथा बनारस नहीं आता— मनुष्य बनारस पहुँचता है फिर भी लौकिक जन इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है। इस प्रकार प्राय: व्यवहार-नय की प्रवृत्ति उपचरित विषय ही हैं।

व्यवहार नय के दो भेद हैं— (१) सामान्य भेदक, (२) विशेष भेदक।

सामान्य संग्रह में भेद करने वाले नय को सामान्य भेदक व्यवहार नय कहते हैं जैसे द्रव्य के दो भेद हैं— जीव और अजीव। विशेष संग्रह में भेद करने वाला विशेष भेदक व्यवहार नय है जैसे जीव के दो भेद— संसारी और मुक्त।

(४) ऋजुसूत्र नय—वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय विशेष को ही प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं जैसे मैं सुखी हूँ। यह वर्तमान क्षण स्थायी सुखपर्याय को प्रधान रूप विषय देता है। (रत्नाकरावतारिका,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय ७, सूत्र २८) मात्र वर्तमान काल की पर्याय को ग्रहण करने वाला नय ऋजुसूत्र नय है। ऋजुसूत्र नय भूत और भविष्य काल की पर्याय को ग्रहण नहीं करता है।

इसके दो भेद हैं— (१) सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय, (२) स्थूल ऋजुसूत्र नय।

जो एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करे उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं जैसे— शब्द क्षणिक हैं।

जो अनेक समयों की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है उसे स्थूल ऋजुसूत्र नय कहते हैं जैसे मनुष्य पर्याय सौ वर्ष का है।

(५) शब्द नय—काल, कारक, लिंग, विभक्ति, उपसर्ग और वचन आदि के भेद से शब्दों में अर्थ-भेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्द नय कहते हैं जैसे— वह बनारस था, बनारस है और बनारस रहेगा। उपरोक्त उदाहरण में शब्द नय भूत, वर्तमान और भविष्य काल के भेद से बनारस के तीन भेद मानता है अर्थात् उन्हें अलग-अलग मानता है। इसी प्रकार घड़ा बनाता है और घड़ा बनाया जाता है यहाँ कारक के भेद से शब्द नय घट के अर्थ में भी भेद करता है। इसी प्रकार लिङ्ग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से भी वह शब्द के अर्थ-भेद मानता है।

शब्दनय ऋजुसूत्र नय के द्वारा ग्रहण किये हुए वर्तमान को भी विशेष रूप से मानता है जैसे ऋजुसूत्र नय लिङ्गादि का भेद होने पर भी उसकी वाच्य पर्यायों को एक ही मानता है परन्तु शब्द नय लिङ्गादि के भेद से पर्यायवाची शब्द में भी अर्थभेद ग्रहण करता है यथा— वह तटः, तटी, तटम् इन तीनों में अर्थों का भेद मानता है। किन्तु राजा, नृप, भूपति, भूपाल आदि पर्यायवाची शब्दों में अर्थ-भेद नहीं मानता है।

(६) समभिरूढ़ नय—पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति या व्युत्पत्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाले नय को समभिरूढ़ नय कहते हैं।

यह नय मानता है कि जहाँ शब्द भेद है वहाँ अर्थभेद भी है। शब्द नय तो अर्थभेद वहीं मानता है जहाँ लिङ्गादि का भेद हो परन्तु इस नय की दृष्टि में तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमें लिङ्ग आदि का भेद भी न हो। इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। इन्द्र शब्द से ऐश्वर्य वाले का बोध होता है और पुरन्दरो से पुरों अर्थात् नगरों के नाश करने वाले का बोध होता है। दोनों का आश्रय एक ही होने से दोनों शब्द पर्यायवाची बताये गये हैं किन्तु इनका अर्थ भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द मूल में तो पृथक अर्थ का परिचायक होता है किन्तु कालान्तर में व्यक्ति या समूह में प्रयुक्त होते-होते पर्यायवाची बन जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समभिरूढ़ नय शब्दों के प्रचलित अर्थों को नहीं किन्तु उनके मूल अर्थों को पकड़ता है।

समभिरूढ़ के मत से जब इन्द्रादि वस्तु का अन्यत्र अर्थात् शक्रादि में संक्रमण होता है तब वह अवस्तु हो जाती है, क्योंकि समभिरूढ़ नय वाचक के भेद से भिन्न-भिन्न वाच्यों का प्रतिपादन करता है। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ़ नय के मत से जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके अर्थ भी होते हैं अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। शब्द नय इन्द्र, शक्र, पुरन्दर इन तीनों शब्दों का एक ही वाच्य मानता हैं परन्तु समभिरूढ़ नय के मत से इन तीनों के भिन्न-भिन्न वाच्य हैं, क्योंकि इन तीनों की प्रवृत्ति के निमित्त (नाम के कारण) भिन्न-भिन्न हैं। इन्दन (ऐश्वर्य भोगना) क्रिया में परिणत को इन्द्र, शकन (समर्थ होना) क्रिया में परिणत को शक्र, और पुरदारण (पुर अर्थात् नगरों का नाश) क्रिया में परिणत होने को पुरन्दर कहते हैं। यदि इनकी प्रवृत्ति के भिन्न निमित्तों के होने पर भी इन तीनों का एक ही अर्थ मानेंगे तो घट, पटादि शब्दों का भी एक ही अर्थ, मानना पड़ेगा। इस प्रकार दोष आ जायेगा। इसलिए समभिरूढ़ नय के अनुसार प्रत्येक शब्द को भिन्न वाच्य मानना ही युक्ति संगत है।

(७) एवंभूत नय—शब्दों की स्वप्रवृत्ति की निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थ को ही उनका वाच्य मानने वाला एवंभूत नय है। समभिरूढ़ नय इन्दनादि क्रिया के होने या न होने पर इन्द्रादि शब्दों से वाच्य मान लेता है क्योंकि वे शब्द अपने वाच्यों के लिए रूढ हो चुके हैं परन्तु एवंभूत नय इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दों से वाच्य तभी मानता है जब वे इन्दनादि (ऐश्वर्यवान्) क्रियाओं में परिणत हों। जैसे एवंभूत नय इन्दन क्रिया का अनुभव करते समय ही इन्द्र को इन्द्र का वाचक मानता है और शकन (समर्थ होना) क्रिया में परिणत होने पर ही इन्द्र को शक्र शब्द का वाच्य स्वीकार करता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार शब्द की मूल धातु से निष्पन्न क्रिया या चेष्टाओं से युक्त वस्तु को ही उस शब्द का वाच्य मानने वाला एवंभूत नय है अर्थात् जो शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है वह एवंभूत नय है। जैसे घट शब्द चेष्टा अर्थवाला घट धातु से बना है अतः इसका अर्थ यह है कि जो स्त्री के मस्तक पर आरूढ़ होकर जलधारणादि क्रिया की चेष्टा करता है वह घट है। इसलिए एवंभूत नय के मत से घट वस्तु तब ही घट शब्द की वाच्य होगी जबकि वह स्त्री के मस्तक पर आरूढ़ होकर जलधारणादि क्रिया को करेगी, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जीव तब ही सिद्ध कहा जाता है जब सब कर्मों को क्षय करके मोक्ष में विराजमान हो जाय। (अनुयोगद्वार, लक्षणद्वार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जितनी तरह के वचन हैं उतनी ही तरह के नय हैं।" इससे दो बातें ज्ञात होती हैं, प्रथम यह कि नय अनेक हो सकते हैं। दूसरी यह कि नय का सम्बन्ध वचन व्यवहार के साथ है। यदि नय का सम्बन्ध वाक-व्यवहार से है तो प्रत्येक नय वचन-व्यवहार का ही एक ढंग होता है। किन्तु वचन व्यवहार भी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर होता है, अत: नय को वक्ता के अभिप्राय पर भी आधारित माना गया है।

नय के मूल में दो भेद हैं — निश्चय और व्यवहार। जो वस्तु के स्वद्रव्य और स्वपर्याय को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है उसे निश्चय नय कहते हैं। जो वस्तु की दूसरे द्रव्यों या पदार्थों के निमित्त से होने वाली पर्यायों को विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं।

निश्चयनय—इसके भी दो भेद हैं— १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्य के सामान्य पक्ष को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष विषय पक्ष को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक निश्चय नय है।

द्रव्यार्थिक नय के निम्न १० भेद माने गये हैं —

१. नित्यद्रव्यार्थिक, २. एक द्रव्यार्थिक, ३. सद् द्रव्यार्थिक, ४. वक्तव्य द्रव्यार्थिक, ५. अशुद्ध द्रव्यार्थिक, ६. अन्वय द्रव्यार्थिक, ७. परम द्रव्यार्थिक, ८. शुद्ध द्रव्यार्थिक, ९. सत्ता द्रव्यार्थिक और १०. परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक।

पर्यायार्थिक नय के निम्न ६ भेद हैं —

१. अनादि नित्य पर्यायार्थिक, २. सादि नित्य पर्यायार्थिक, ३. अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक, ४. अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक, ५. कर्मोपाधि रहित नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक, ६. कर्मोपाधि सहित अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक। (देखें- श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह — भाग २, पृष्ठ-४११)

व्यवहार नय—यद्यपि व्यवहार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न बताकर उसके आभासित स्वरूप को बतलाता है, परन्तु वह भी मिथ्या नहीं हैं— यथा "घी का घड़ा" इस कथन से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तो नहीं होता है अर्थात् यह तो ज्ञात नहीं होता कि घड़ा मिट्टी का है या पीतल आदि का है। परन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उसमें घी रखा जाता है। जिसमें घी रखा जाता है— ऐसे घड़े को व्यवहार में घी का घड़ा कहते हैं। इसलिए यह बात व्यवहार से सत्य है। व्यवहार नय मिथ्या तभी हो सकता है जबकि उसका विषय-निश्चय का विषय मान लिया जाये अर्थात् घी के घड़े का अर्थ घी से बना हुआ घड़ा समझे। जब तक व्यवहार नय अपने व्यवहारिक सत्य पर कायम है तब तक उसे मिथ्या नहीं कह सकते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. जीवद्रव्य का परिमाण

गुणस्थानों की अपेक्षा से जीवद्रव्य का परिमाण

परिमाण की सामान्य चर्चा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से गाथा ८७ से १४३ तक की जा चुकी है। अब जीवद्रव्य के परिमाण की चर्चा करते हैं —

मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों का परिमाण

मिच्छादव्वमणंता कालेणोसप्पिणी अणंताओ ।
खेत्तेण मिज्जमाणा हवंति लोगा अणंताओ ।।१४४।।

गाथार्थ— मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त है, क्षेत्र की अपेक्षा से लोकाकाश के अनन्त प्रदेशों के समतुल्य हैं तथा काल की अपेक्षा से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समयों के समतुल्य हैं।

विवेचन— मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्य की अपेक्षा अनन्त हैं। क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश के अनन्त आकाश-प्रदेशों जितने हैं। काल की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समयों की संख्या के जितने हैं।

यहाँ भाव परिमाण की चर्चा नहीं की गई क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से जीवद्रव्य की गिनती की जा सकती है परन्तु भाव-अन्तरंग का विषय होने से उसकी गिनती नहीं की जा सकती। अत: उसे अलग से नहीं कहा गया है। पुन: एक अन्य अपेक्षा से यहाँ भाव का सम्बन्ध प्रत्येक अनन्त जीव द्रव्यों की अनन्तानन्त पर्यायों से है अत: उनकी समतुल्यता बताना कठिन है।

सास्वादन तथा मिश्रगुणस्थानवर्ती जीवों का परिमाण

एगाईया भज्जा सासायण तहय सम्ममिच्छा य ।
उक्कोसेणं दुण्हवि पल्लस्स असंखभागो उ ।।१४५।।

गाथार्थ— सास्वादन तथा सम्यक्-मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिश्रदृष्टि जीव (अध्रुव होने से) कभी होते हैं तथा कभी नहीं भी होते हैं। यदि होते हैं तो दोनों ही (सास्वादन एवं मिश्रदृष्टि जीव) एक, दो, तीन से लेकर उत्कृष्ट अर्थात् अधिकतम पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— सास्वादन तथा सम्यक्मिथ्या गुणस्थान का काल स्वल्प होने से ये जीव कभी होते हैं तथा कभी नहीं भी होते। अतः इनकी संख्या कभी कम से कम एक और अधिकतम पल्योपम में जितने समय होते हैं उनका असंख्यातवां भाग जितने ही होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या

पल्लाऽसंखियभागो अविरयसम्मा य देस विरया य।

कोडिसहस्सपुहुत्तं पमत्त इयरे उ संखेज्जा ।।१४६।।

गाथार्थ— अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने होते हैं। प्रमत्त संयत सहस्र कोटि पृथक्त्व है एवं इतर अर्थात् अप्रमत्त संयत संख्यात परिमाण हैं।

विवेचन— द्वितीय तथा तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव अध्रुव होने के कारण लोक में भजना अर्थात् विकल्प से पाये जाते हैं। परन्तु चतुर्थ, पंचम, षष्ठ तथा सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव सामान्यतः सर्वलोक की अपेक्षा से ध्रुव होने से सदा पाये जाते हैं। इनका कभी व्यवच्छेद (अभाव) नहीं होता।

अविरत सम्यग्दृष्टि— इनका परिमाण जघन्य अर्थात् न्यूनतम और उत्कृष्ट अर्थात् अधिकतम इन दोनों अपेक्षा से क्षेत्र पल्योपम का असंख्यातवें भाग के समतुल्य होता है।

देशविरति— अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों का परिमाण पल्योपम का अधिकतम असंख्यातवां भाग होता है, वहाँ देशविरति जीवों का परिमाण क्षेत्र पल्योपम का न्यूनतम असंख्यातवां भाग बताया गया है।

प्रमत्त संयत— प्रमत्त संयत जीवों का परिमाण जघन्य न्यूनतम दो हजार कोटि और अधिकतम नव हजार कोटि (करोड़) होता हैं।

अप्रमत्त संयत— प्रमत्त संयत जीवों का परिमाण संख्यात कहा गया है। इसके आगे गुणस्थानवर्ती जीव को मोहउपशामक अर्थात् उपशम श्रेणी से आरोहण करने वाले तथा उपशान्त मोह (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) और मोहक्षपक अर्थात् क्षायिक श्रेणी से आरोहण वाले तथा क्षीण मोही (बारहवें) गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अब इनका परिमाण कहते हैं—

उपशामक व उपशान्तमोह का परिमाण

एगाइय भयणिज्जा पवेसणेणं तु जाव चउपन्ना ।

उवसामगे व-संता अद्धं पइ जाव संखेज्जा ।।१४७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— उपशामक श्रेणी में प्रवेश करते समय कम से कम एक और अधिकतम चौपन (५४) जीव भजना अर्थात् विकल्प से हो सकते हैं। सम्पूर्ण उपशम काल की अपेक्षा उपशामक तथा उपशान्त मोही जीवों की संख्या संख्यात ही होती हैं।

वस्तुत: यह चर्चा गुणस्थान सिद्धान्त की अपेक्षा से न होकर तत्त्वार्थसूत्र एवं आचारांगनिर्युक्ति में वर्णित कर्मनिर्जरा की दस अवस्थाओं की अपेक्षा से है (सम्पादक)।

विवेचन— १. उपशामक— जिस अवस्था में मोहनीयकर्म की शेष कर्म-प्रकृतियों का उपशम किया जा रहा हो।

२. उपशान्तमोह— जिसमें मोहनीय-कर्म की कर्म प्रकृतियों का उपशम पूर्ण हो चुका हो।

३. क्षपक— जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय किया जा रहा हो।

४. क्षीणमोह— जिसमें मोह-कर्म की सभी कर्म-प्रवृतियों का क्षय हो चुका हो।

उपशामक श्रेणी में १ से लेकर ५४ जीव तक ही एक साथ एक समय में प्रवेश कर सकते हैं इससे अधिक नहीं।

गाथा में "अद्ध" शब्द से उपशम श्रेणी का, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का समय (काल) जानना चाहिए। यह काल असंख्यात समय रूप अन्तर्मुहूर्त परिमाण का होता है। उपशम श्रेणी अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय की नहीं होती है। अत: उपशम श्रेणी का काल (उपशामक तथा उपशान्त) दोनों मिलकर अधिकतम संख्यात समय परिमाण होता है।

अन्तर्मुहूर्त के काल परिमाण वाली उपशम श्रेणी के एक समय में एक साथ १ से लेकर ५४ तक उपशामक जीव होते हैं। इस प्रकार उपशम श्रेणी के सम्पूर्ण काल में कभी-कभी उत्कृष्ट रूप से संख्यात उपशामक और संख्यात उपशान्त मोही जीव हो सकते हैं। उसके बाद उपशम श्रेणी की निरन्तरता समाप्त हो जाती है।

प्रश्न— श्रेणी का काल असंख्यात समयवाला है। उसमें यदि प्रत्येक समय में एक-एक उपशामक भी हो तो उपशामकों की संख्या सहज ही असंख्यात हो जाती है फिर संख्यात ही क्यों कहा गया ?

उत्तर— समयों की संख्या असंख्यात होने पर भी उस श्रेणी में प्रवेश करने वाले जीवों की संख्या तो संख्यात ही होती है, क्योंकि संज्ञी मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या भी संख्यात ही होती है असंख्यात नहीं। उसमें भी यह श्रेणी चारित्र सम्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य ही कर सकते हैं। अतः श्रेणी का काल असंख्य समय वाला होने पर भी उसमें श्रेणी आरोहण करने वाले मनुष्यों की संख्या संख्यात ही होगी असंख्यात नहीं। (ज्ञातव्य है— गर्भज पर्याप्ता मनुष्य की अधिकतम संख्या की चर्चा गाथा १५३ में की गई है।)

अतः यह निश्चित हुआ कि अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसम्पराय और सूक्ष्म-सम्पराय इन तीन गुणस्थानों में प्रत्येक के अन्दर एक साथ एक ही समय में प्रवेश वाले जीव कम से कम एक और अधिकतम चौपन कभी-कभी अपेक्षा से होते हैं। अलग-अलग समय में प्रवेश वालों की अपेक्षा से तो अधिकतम किसी समय में संख्यात जीव भी होते हैं। उपशान्तमोह गुणस्थान के विषय में भी इसी प्रकार से जानना चाहिये। आगे क्षपक एवं क्षीणमोही गुणस्थानवर्ती का परिमाण कहते हैं—

क्षपक, क्षीणमोह एवं सयोगी केवली जीवों की संख्या

खवगा उ खीणमोहा जिणा उ पविसन्ति जाव अट्ठसयं ।

अद्धाए सयपुहुत्तं कोडिपुहुत्तं सजोगीणं ।।१४८।।

गाथार्थ— क्षपक और क्षीणमोही जीव जब क्षपक श्रेणी में प्रवेश करते हैं तो उनकी संख्या १ से लेकर अधिकतम १०८ हो सकती है। क्षपणकाल में अधिकतम जीवों की संख्या शतपृथकत्व अर्थात् कम से कम दो सौ तथा अधिकतम नौ सौ होती है। सयोगी केवली कोड़ पृथकत्व अर्थात् कम से कम दो करोड़ और अधिकतम नौ करोड़ होते हैं।

विवेचन— श्रेणी से आरोहण करने वाले क्षपक तथा क्षीणमोही कभी होते हैं तथा कभी नहीं होते हैं। इसका कारण है कि क्षपक श्रेणी से आरोहण की क्रिया सदैव हो यह आवश्यक नहीं है। जब होती है तब क्षपक श्रेणी में एक साथ एक समय में न्यूनतम एक तथा अधिकतम एक सौ आठ की संख्या होती है।

ये जीव अपूर्वकरण, अनिवृत्ति बादर-सम्पराय तथा सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थानों में क्षायिक श्रेणी से आरोहण करने के कारण क्षपक कहे जाते हैं। छद्मावस्था में सबसे अन्तिम गुणस्थान क्षीणमोह का है। मोहनीयकर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाने के कारण इसे क्षीणमोह कहा गया है।

प्रश्न— एक समय में प्रवेश करने वाले जीव एक सौ आठ ही होते हैं— अधिक नहीं, ऐसा किस आधार पर कहा गया?

उत्तर— क्षपक श्रेणी में एक समय में अधिकतम एक सौ आठ जीव ही आरोहण करते हैं, ऐसा आगमवचन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह चर्चा एक समय की अपेक्षा से की गई अब भिन्न-भिन्न समयों में क्षपक श्रेणी में प्रवेश करने वालों की अपेक्षा से विवेचन किया जायेगा।

क्षपक— यहाँ क्षपक श्रेणी का काल (अद्धा), असंख्यात समयात्मक अन्तर्मुहूर्त के समतुल्य जानना चाहिए। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण क्षपक श्रेणी काल में एक समय में १०८, दूसरे समय में फिर १०८ जीव होते हैं। इस प्रकार अलग-अलग समय में प्रवेश करने वाले सभी क्षपकों की संख्या मिलाएँ तो सम्पूर्ण अन्तर्मुहूर्त के समयों में समस्त मनुष्य क्षेत्र में कभी-कभी शतपृथकत्व क्षपक एवं क्षीणमोही होते हैं और कभी क्षपक श्रेणी से आरोहण करने वालों का अभाव भी होता है।

प्रश्न— अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात समय होते हैं अत: असंख्यात जीव क्यों नहीं होते ?

इस शंका का समाधान पूर्व गाथा १४७ के अर्थ विवेचन में दिया गया है।

सयोगी केवली— गाथा में आगे सयोगी केवलियों का परिमाण या संख्या बताते हैं। सयोगी केवली (महाविदेह क्षेत्र में) सदा रहते हैं। इनका व्यवच्छेद (विरह) नहीं होता। सामान्यत: इनकी संख्या पन्द्रह कर्मभूमियों में न्यूनतम तथा अधिकतम करोड़ पृथकत्व अर्थात् दो करोड़ से नौ करोड़ के बीच होती है।

अयोगी केवली— अयोगी केवली तो कभी होते हैं कभी नहीं होते हैं। यदि होते हैं तो न्यूनतम एक तथा अधिकतम संख्यात होते हैं।

इस प्रकार चौदह जीव समास अर्थात् चौदह गुण स्थानों की अपेक्षा से जीव द्रव्यों का परिमाण बतलाया गया है। आगे नरक आदि गतियों की अपेक्षा से उनका परिमाण बताते हैं।

नरकगति

पढमाए असंखेज्जा सेढीओ सेसियासु पुढवीसु ।
सेढी असंखभागो हवंति मिच्छा उ नेरइया ।।१४९।।

गाथार्थ— प्रथम नरक में असंख्यात श्रेणी परिमाण नारकी जीव हैं। शेष छ: नरकों में प्रत्येक श्रेणी के असंख्यातवें भाग जितने मिथ्यादृष्टि नारकी जीव होते हैं।

प्रश्न— श्रेणी किसे कहते हैं?

उत्तर— पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथा ९७ में कहा गया है कि लोक चौदह रज्जु जितना ऊँचा है। सामान्य बुद्धि से वह सात घन रज्जु परिमाण वाला है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सात रज्जु लम्बी आकाश-प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं तथा उसके वर्ग को प्रतर कहते हैं। गाथा १०३ के विवेचन में भी श्रेणी, वर्ग, प्रतर आदि शब्दों को स्पष्ट किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथा ९७ के भावार्थ में दिया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक चौंतीस, सूत्र सैंतीसवें (३७) के विवेचन में विग्रह गति एवं श्रेणी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि— एक स्थान से मरण करने के पश्चात् दूसरे स्थान पर जाते हुए जीव की जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं। वह श्रेणी के अनुसार होती है। जिससे जीव और पुद्गलों की गति होती है ऐसी आकाश-प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर श्रेणी के अनुसार ही जा सकते हैं। वे श्रेणियाँ सात प्रकार की बताई गई हैं जिनका उल्लेख मूल पाठ में भी है —

१. **ऋज्वायता**— सीधी गति से जाने वाले जीव ऋज्वायता श्रेणी वाले कहलाते हैं। इस श्रेणी से गति करने वाला जीव एक ही समय में गन्तव्य तक पहुँच जाता है।

२. **एकतोवक्र**—एक मोड़ के बाद जन्म लेने वाला जीव एकतोवक्र श्रेणी वाला कहलाता है। इस जीव को दो समय लगते हैं।

३. **उभयतोवक्र** —दो बार वक्र गति करने वाले जीव उभयतोवक्र श्रेणी वाले कहलाते हैं— इसमें तीन समय लगते हैं।

४. **एकतः खा**—"ख" अर्थात् आकाश। इस श्रेणी के एक ओर त्रस नाड़ी के बाहर का आकाश आया हुआ है। इसलिए इसे एकतः खा श्रेणी कहते हैं। आशय यह है कि जिस श्रेणी से जीव या पुद्गल त्रस नाड़ी के बायें पक्ष से त्रसनाड़ी में प्रवेश करे और फिर त्रस नाड़ी से जाकर उसके बाँयी ओर वाले भाग में उत्पन्न हों उसे "एकतः खा" श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणी में १,२,३,४ समय की वक्रगति होने के कारण भी उसे क्षेत्रापेक्षा पृथक कहा है।

५. **उभयतः खा**—त्रसनाड़ी के बाहर में बायें पक्ष में प्रवेश करके त्रस नाड़ी से जाते हुए जिस श्रेणी से दाहिने पक्ष में उत्पन्न होते हैं उसे "उभयतः खा" श्रेणी कहते हैं।

६. **चक्रवाल**— जिस श्रेणी के माध्यम से परमाणु आदि गोल चक्कर लगाकर अपने स्थान पर जाते हैं उसे चक्रवाल श्रेणी कहते हैं।

७. **अर्ध चक्रवाल**—जिस श्रेणी से जीव आधा चक्कर लगाकर अपने स्थान पर जाते हैं उसे अर्धचक्रवाल श्रेणी कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— प्रथम नरक रत्नप्रभा पृथ्वी में मिथ्यादृष्टि नारक असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं अर्थात् घनरूप में बनाई हुई लोक की असंख्यात आकाश श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने परिमाण में पहली पृथ्वी में मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।

शर्कराप्रभादि नरक पृथ्वियों में घनाकार लोक की एक आकाश श्रेणी के असंख्यातवें भाग जितने आकाश-प्रदेश होते हैं उतने मिथ्यादृष्टि जीव जानना चाहिये।

इसी प्रकार क्रमशः एक-एक नरक में मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या लोक की एक आकाश श्रेणी के असंख्यातवें भाग के समरूप समझना चाहिये। दूसरी से तीसरी में, तीसरी से चौथी में यावत् सातवीं नरक तक इसका भी असंख्यातवां भाग क्रमशः कम होता जाता है। इस प्रकार छठी पृथ्वी के नारकी से भी सातवीं पृथ्वी के नारक जीवों की संख्या असंख्यात भाग कम परिमाण में जानना चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या भी प्रत्येक नरक में अव्यवच्छिन्न रूप से असंख्यात ही होती है।

तिर्यञ्च में मिथ्यादृष्टि जीवों का परिमाण

तिरिया हुंति अणंता पयरं पंचिंदिया अवहरंति ।

देवावहारकाला असंखगुणहीण कालेणं ।।१५०।।

गाथार्थ— सामान्यतः तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं। जबकि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च घनकृत लोक के सात रज्जु लम्बे, सात रज्जु चौड़े तथा एक प्रदेश की मोटाई वाले प्रतर के आकाश प्रदेशों की संख्या के तुल्य हैं और कालापेक्षा से देव के अपहार काल से असंख्यात गुणा कम हैं।

विवेचन— मिथ्यादृष्टि शब्द गाथा में न आने पर भी पूर्व प्रसंग से ग्रहण कर लिया है। सामान्यतः एकेन्द्रिय आदि मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च अनन्त हैं तथा पर्याप्त-अपर्याप्त रूप मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों की संख्या संवर्तित किये हुए घनरूप असंख्य प्रतरात्मक लोक के सात रज्जु लम्बाई एवं सात रज्जु चौड़ाई तथा मात्र एक प्रदेश की मोटाई वाले असंख्येय आकाश प्रदेश परिमाण प्रतर के आकाश प्रदेशों के समरूप हैं और देव के अपहार काल से असंख्यात गुणा कम है।

यह अपहार कितने समय का होता है? यह बतलाते हुए कहा गया है कि यह काल की अपेक्षा से असंख्य उत्सर्पिणियों एवं अवसर्पिणियों के समयों की संख्या के समरूप हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे भगवन्त— तिर्यञ्च कितने हैं? हे गौतम! काल की अपेक्षा से असंख्य उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के समयों का अपहार करते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यात श्रेणियों एवं प्रतरों के आकाश-प्रदेशों के असंख्यातवें भाग के समरूप हैं। उन श्रेणियों को असंख्यात योजन कोटाकोटी परिमाण विष्कम्भ सूची के समतुल्य जानना चाहिए। इनके प्रतर के असंख्यात भागवर्ती, असंख्यात कोटा-कोटी योजन आकाश श्रेणी में रहे प्रदेशों की संख्या के बराबर सामान्यत: पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव हैं वे सभी प्रत्येक समय में एक-एक प्रदेश का भी ग्रहण करें तो देवों के द्वारा उनके अपहार काल से असंख्यगुणा कम काल में ही वे प्रतर के सभी आकाश-प्रदेश अपहृत हो जायेंगे।

इसका तात्पर्य यह है पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च से देव असंख्य गुणा कम हैं। यही बात प्रज्ञापनामहादण्डक में भी कही गयी है कि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च देवों की संख्या से असंख्यातगुणा अधिक हैं, अत: वे देवों की अपेक्षा कम काल में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं। तिर्यञ्चों के अपहार काल की अपेक्षा देवताओं के अपहार काल में अधिक समय लगता है क्योंकि वे परिमाण में तिर्यञ्चों की अपेक्षा कम हैं।

वैक्रिय लब्धिधारी मिथ्यादृष्टि जीवों का परिमाण

पढमंगुलमूलस्सासंखतमो सूइसेढिआयामों ।

उत्तरविउव्वियाणं पज्जत्तयसन्नितिरियाणं ।।१५१।।

गाथार्थ— उत्तर वैक्रिय शरीर बनाने वाले पर्याप्त संज्ञी तिर्यञ्च जीवों का परिमाण (संख्या) अंगुल जितने प्रतर क्षेत्र के आकाश प्रदेशों के वर्गमूल असंख्यातवां भाग के समरूप सूचीक्षेत्र में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतना जानना चाहिये।

नोट— सूची, श्रेणी, प्रतर, वर्ग, घनाकार आदि का स्पष्टीकरण गाथा १०३ के विवेचन में किया जा चुका है।

विवेचन— उत्तर वैक्रिय शरीर लब्धि अपर्याप्त और असंज्ञी तिर्यञ्च जीवों को नहीं होने से मात्र पर्याप्त तथा संज्ञी तिर्यञ्च शब्द का ग्रहण किया गया है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में पर्याप्त, संज्ञी (गर्भज) तिर्यञ्च को ही वैक्रिय लब्धि हो सकती है। वैक्रिय शरीरी पर्याप्त गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव काल की अपेक्षा से असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के समयों की संख्या जितने हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से प्रतर के असंख्यातवें भाग की असंख्यात श्रेणियों के आकाश-प्रदेशों की संख्या के समरूप हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ अधिक स्पष्टता के लिए गाथा का भावार्थ बताते हैं : अंगुल परिमाण प्रतर क्षेत्र में असंख्य श्रेणियाँ होती हैं किन्तु समझने के लिये ६५५३६ श्रेणियों की कल्पना करना। ६५५३६ का प्रथम वर्गमूल २५६, दूसरा वर्गमूल १६, तीसरा ४ तथा चौथा वर्गमूल २ होता है। किन्तु वास्तविक रूप में तो यह वर्गमूल भी प्रत्येक असंख्य श्रेणी रूप ही होता है, क्योंकि असंख्यात का वर्ग भी असंख्यात ही होगा। मात्र समझने के लिए उसका २५६ संख्या रूप पहला वर्गमूल भी असंख्यात ही होता है। उसके असंख्यातवें भाग रूप ३२ श्रेणी की कल्पना कर किन्तु वास्तविक रूप में तो प्रत्येक श्रेणी भी असखंयात प्रदेशात्मक ही है फिर भी असत् कल्पना से उसे दस प्रदेशात्मक विचारना। इस प्रकार काल्पनिक रूप से प्रदेशों की संख्या ३२० आयेगी—यही पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय वैक्रिय लब्धिवन्त तिर्यञ्च परिमाण जानना जो वास्तविक रूप में तो असंख्यात ही होता है।

इस प्रकार इन गाथाओं में सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय तिर्यञ्चों का परिमाण बताया गया। उसके बाद पर्याप्त एवं अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का परिमाण बताया, तत्पश्चात् उत्तर वैक्रिय लब्धिवन्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का परिमाण बताया। अब स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का परिमाण बताते हैं।

पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का परिमाण

संखेज्जहीणकालेण होइ पज्जत्ततिरियअवहारी ।

संखेज्ज-गुणेण तओ कालेण तिरिक्खअवहारो ।।१५२।।

गाथार्थ— पूर्व निर्दिष्ट प्रतर के प्रदेशों का संख्यातगुणा कम समय में पर्याप्त तिर्यञ्च अपहार कर लेते हैं, किन्तु उन्हीं संख्यातगुणा अधिक काल में तिरियञ्चिनी अपहार कर पाती है।

विवेचन— देवों के द्वारा एक प्रतर (परत) के सम्पूर्ण प्रदेशों का अपहार करने में प्रति समय में, एक-एक प्रदेश का अपहार करते हुए जितना काल लगता है उस काल से संख्यातगुणा पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय द्वारा प्रतर के प्रदेशों का अपहार करने में लगता है। पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के तिर्यञ्च संख्या में देवों से अधिक हैं अतः उनका अपहार काल देवों के अपहार काल की अपेक्षा कम होता है।

किन्तु तिर्यञ्चनियाँ संख्या में देवों से संख्यातगुणा कम होने से देवताओं के अपहार काल की अपेक्षा उनका अपहार काल संख्यातगुणा अधिक होता है। विस्तार के लिए प्रज्ञापनासूत्र का महादण्डक सम्बन्धी पाठ देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संखेज्जा पज्जत्ता मणुयाऽपज्जत्तया सिया नत्थि।

उक्कोसेणं जइ भवे सेढीए असंखभागो उ ।।१५३।।

गाथार्थ— पर्याप्त मनुष्य परिमाण संख्यात ही होते हैं। पुन: अपर्याप्त मनुष्य तो कभी होते हैं कभी नहीं भी होते हैं, परन्तु जब होते हैं तब अधिकतम से एक श्रेणी के आकाश-प्रदेशों के असंख्यातवें भाग जितने होते हैं।

विवेचन— मनुष्यों के दो प्रकार हैं— **गर्भज** और **संमूर्च्छिम**। इनमें गर्भज तो सदैव होते हैं पर संमूर्च्छिम मनुष्य अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले तथा अपर्याप्त ही होने के कारण कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं अतएव जब संमूर्च्छिम मनुष्य नहीं होते और केवल गर्भज मनुष्य ही होते हैं, तब वे परिमाण में संख्यात होते हैं। परन्तु संख्यात के भी संख्यात भेद हैं अत: किस संख्यात को मानना चाहिए इसके लिए बताया है कि छठे वर्ग का पांचवें वर्ग के साथ गुणा करने पर जो संख्या आती है, वहीं संख्या गर्भज मनुष्यों की जाननी चाहिये।

वर्ग का अर्थ क्या ?

(१) २ को २ से गुणा करने पर जो संख्या ४ बनी, यह प्रथम वर्ग हुआ। (२) ४ को ४ से गुणा करने पर १६ आये, वह दूसरा वर्ग हुआ। (३) १६ से १६ से गुणा करने पर २५६ आये, यह तीसरा वर्ग हुआ। (४) २५६ को २५६ से गुणा करने पर ६५५३६ आये, यह चौथा वर्ग हुआ। (५) ६५५३६ से ६५५३६ से गुणा करने पर ४२९४९६७२९६ आये यह पंचम वर्ग हुआ। तथा (६) तथा पंचमवर्ग को पंचम वर्ग से गुणा करने पर जो छठा वर्ग हुआ उसकी राशि १८,४४,६७,४४,०७,३७,०९,५५,१६,१६ हुई।

इस छठे वर्ग को उपर्युक्त पंचम वर्ग से गुणित करने पर जो संख्या आयी वह राशि इस प्रकार है — ७९, २२, ८१, ६२, ५१, ४२, ६४, ३३, ७५, ९३, ५४, ३९, ५०, ३३६। इन अंकों की संख्या २९ है। इस प्रकार गर्भज मनुष्यों की संख्या २९ अंक संख्यात कही गयी है।

जब संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं तो वे अधिक से अधिक असंख्यात होते हैं। इस प्रकार संख्यात गर्भज एवं असंख्यात सम्मूर्च्छिम मिलाने पर उनकी अधिकतम संख्या एक श्रेणी के आकाश-प्रदेशो के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। (यह विषय कर्मग्रन्थ, भाग-४ गाथा-३७ तथा अनुयोगद्वारसूत्र ४२३-४ में भी त्रर्णित है।

उक्कोसेणं मणुया सेढिं च हरंति रूवपक्खित्ता।

अंगुलपढमयतियवग्गमूलसंवग्गपलिभागा ।।१५४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— उत्कृष्ट रूप से तो मनुष्यों की संख्या श्रेणी के अंगुल परिमाण क्षेत्र के आकाश-प्रदेशों के पहले वर्ग मूल का तीसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने पर प्रदेशों की जो संख्या बने उतनी जानना चाहिए।

विवेचन— यहाँ "च" शब्द दूसरे प्रकार से मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या बताने के लिए है। एक प्रकार से उत्कृष्ट संख्या गाथा १५३ में बतायी, अब यहाँ दूसरे ढंग से मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या बताते हैं।

दूसरे प्रकार से एक श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने मनुष्य हैं। जिस श्रेणी के आकाश-प्रदेशों का मनुष्य सम्पूर्णतः अपहार करते हैं, वह श्रेणी कैसी है? इसका उल्लेख करते हुए बताया गया है कि एक श्रेणी के अंगुल परिमाण क्षेत्र के आकाश-प्रदेशों की संख्या का पहला वर्गमूल करना फिर जो संख्या आये उसका वर्गमूल करना यह दूसरा वर्गमूल हुआ। पुनः जो संख्या आए उसका वर्गमूल करना यह तीसरा वर्गमूल हुआ। फिर उस पहले वर्गमूल की संख्या को तीसरे वर्गमूल की संख्या से गुणा करना। उस गुणाकार करने से श्रेणी खण्ड के आकाश-प्रदेशों की जो प्रतिनियत संख्या आती है मनुष्यों की अधिकतम संख्या उसके अनुरूप होती है। व्याख्या इस प्रकार है, कि श्रेणी के अंगुल परिमाण क्षेत्र के प्रदेशों की जो संख्या है उसके प्रथम वर्गमूल का तीसरे वर्गमूल की प्रदेश संख्या से गुणा करने पर जो प्रदेश राशि होती है उसी के समरूप लोक के मनुष्यों की संख्या होती है। मनुष्यों की सर्वाधिक संख्या वह होगी, जब प्रत्येक मनुष्य श्रेणी खण्ड के उन प्रदेशों में से एक-एक का अपहार करें और वह एक श्रेणी सम्पूर्णतः अपहरित हो जाये। लोक में उससे एक मनुष्य भी अधिक नहीं हो सकता है।

मनुष्यों में संमूर्च्छिम मनुष्य तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, गर्भज मनुष्यों में भी मिथ्यादृष्टियों की संख्या अधिक होती है। शेष सास्वादन से लेकर अयोगी केवली तक के मनुष्यों की संख्या तो उनकी अपेक्षा अत्यल्प ही होती है।

देवगति में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क का परिमाण

सेढीओ असंखेज्जा भवणे वणवजोइसाण पयरस्स।
संखेज्जजोयणंगुलदोसयछप्पन्नपलिभागो ।।१५५।।

गाथार्थ— भवनपति देवों की संख्या प्रतर के असंख्यातवें भाग में स्थित श्रेणियों के आकाश-प्रदेशों के समरूप है, जबकि व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों की संख्या एक प्रदेश वाली संख्यात, योजन परिमाण श्रेणी के आकाश-प्रदेशों की संख्या को उसी के २५६ अंगुल परिमाण क्षेत्र के आकाश-प्रदेशों से भाग देने पर जो संख्या आती है, उसके समतुल्य होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— भवनपति देव प्रतर के असंख्यातवें भाग में स्थित श्रेणियों में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने परिमाण में हैं। जबकि व्यन्तर तथा ज्योतिष्क अनुक्रम में पूर्व में कहे अनुसार— एक प्रतर के एक प्रदेश वाली संख्यात योजन परिमाण श्रेणी के आकाश-प्रदेशों की संख्या को दो सौ छप्पन अंगुल परिमाण क्षेत्र के आकाश-प्रदेशों की संख्या से भाग देने पर जो संख्या आती है, उसके समतुल्य होती है।

एक प्रदेश वाली संख्यात योजन परिमाण पंक्ति (श्रेणी) में जितने आकाश-प्रदेश हैं; उन सभी से प्रतर के आकाश-प्रदेशों की राशि का जो भाग अपहृत होता है अर्थात् ढक जाता है उस भाग में जितने आकाश-प्रंदेश हैं उतने ही परिमाण में व्यन्तर देवता हैं अथवा ऊपर कहे हुए प्रतर-क्षेत्र के भाग के आकाश-प्रदेशों को यदि एक-एक व्यन्तर देव ग्रहण करें तो उस प्रतर-क्षेत्र के समस्त आकाश-प्रदेशों को व्यन्तर देव एक ही समय में ग्रहण कर लेते हैं एवं २५६ अंगुल परिमाण एक प्रदेश वाली श्रेणी (पंक्ति) में जितने आकाश-प्रदेश हैं उन प्रदेशों की संख्या से प्रतर के आकाश-प्रदेश की राशि को भाग दिया जाय और उसके भागफल में जितने आकाश-प्रदेश हों उतनी प्रमाण-संख्या में ज्योतिष्क देवता होते हैं अथवा ऊपर कहे क्षेत्रखण्ड का आकाश-प्रदेशों की यदि एक-एक ज्योतिष्क देव अपहार करें तो उस सम्पूर्ण प्रतर-क्षेत्र के आकाश-प्रदेशों को वे सभी ज्योतिष्क देव एक समय में ही अपहृत कर लेगें।

महादण्डक में ज्योतिष्क देवों की संख्या व्यंतरों की अपेक्षा संख्यातगुणा अधिक बताई गई है। यहाँ व्यन्तर देवों को ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा संख्यात गुणहीन कहा गया है। दोनों का तात्पर्य एक ही है।

वैमानिकों का परिमाण

सक्कीसाणे सेढीअसंख उवरिं असंखभागो उ ।
आणयपाणयमाई पल्लस्स असंखभागो उ ।।१५६।।

गाथार्थ— सौधर्म और ईशान देवलोक के देवों की संख्या का परिमाण असंख्यात श्रेणियों के आकाश-प्रदेशों के समतुल्य माना गया है। उनके ऊपर के देवलोकों देवों की संख्या श्रेणी के असंख्यातवें भाग के आकाश-प्रदेशों के समतुल्य हैं।

विवेचन— पूर्व कथित स्वरूप वाले घनरूप लोक के किसी एक प्रतर में असंख्यात श्रेणियाँ होती हैं, पुनः उस प्रतर के असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात श्रेणियाँ होती हैं उन प्रतर के असंख्यातवें भाग की असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतनी संख्या में सौधर्म देवलोक के देव होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईशान देवलोक में भी देवों की संख्या सौधर्मवत ही होती है फिर भी ईशानदेव सौधर्म देवों की तुलना में संख्यात गुणा कम ही होते हैं ऐसा प्रज्ञापना के महादण्डक में उल्लेख है।

ईशान के ऊपर के छः देवलोकों अर्थात् सनत्, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार देवलोकों में घन किये हुए लोक की एक प्रदेशात्मक श्रेणी के असंख्यातवें भाग जितने आकाश-प्रदेश होते हैं उतनी ही संख्या में प्रत्येक देवलोक में देवता होते हैं।

आनत, प्राणत, आरण एवं अच्युत इन चार देवलोकों में, अधः, मध्यम, उपरिग्रैवेयकों में तथा पाँच अनुत्तर विमानों में देवों की संख्या पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश होते हैं उतनी होती हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भवनपति देवों की संख्या रत्नप्रभा नारकी के आकाश प्रदेशों के समतुल्य, सौधर्मेशान देवलोकों के देवों की संख्या प्रतर के असंख्यातवें भाग की असंख्यात श्रेणियों के आकाश-प्रदेशों के समरूप होती हैं ऐसा आप पूर्व में कह चुके हैं परन्तु प्रतर के असंख्यातवें भाग की असंख्यात श्रेणियाँ भी असंख्यात कोटा-कोटी योजन परिमाण होती है तो क्या इस माप की श्रेणियाँ इसमें ग्रहण करना या अन्य माप की श्रेणियाँ इसमें ग्रहण करना उचित है? इस शंका के निवारणार्थ भवनपति आदि देवों की संख्या सम्बन्धी विचारणा के अन्तर्गत श्रेणी का परिमाण निम्न प्रकार से बताया गया है।

नारक व देव परिमाण

सेढीसूइपमाणं भवणे धम्मे तहेव सोहम्मे ।

अंगुलपढमं वियतियस-मणंतरवग्गमूलगुणं ।।१५७।।

गाथार्थ—भवनपति देवों, घम्मानरक के नारकी तथा सौधर्म देवलोक के देवों की संख्या श्रेणी-सूची-परिमाण हैं। उसमें भी भवनपति देवों की संख्या अंगुल के आकाश-प्रदेशों की संख्या के प्रथम वर्गमूल का समानान्तर वर्गमूल के साथ गुणाकार करने पर जो संख्या आती है उसके समतुल्य तथा घम्मा नरक-नारकियों की संख्या उसके दूसरी वर्गमूल से समानान्तर संख्या का गुणा करने पर जो संख्या आती है उसके समरूप की संख्या तथा सौधर्म देवों की संख्या तीसरे वर्गमूल के साथ समानान्तर संख्या का गुणा करने पर जो संख्या आती है उसके समान होती है।

विवेचन—प्रतर से पूर्व उर्ध्वगामी असंख्यात प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहा जाता है तथा तिर्यक्गामी असंख्यात प्रदेशों की पंक्ति सूची कही जाती है। पूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथित सात रज्जू लम्बी ऊर्ध्वगामी प्रदेशपंक्ति श्रेणी तथा तिर्यक् विस्तार वाली सूची होती है। इन दोनों का परिमाण श्रेणी-सूची-परिमाण होता है। यह श्रेणी-सूची-परिमाण किसका होता है? इसके उत्तर में कहा है कि वह श्रेणी-सूची-परिमाण धम्मा (रत्नप्रभा) के नारकी जीवों तथा भवनपति एवं सौधर्म देवलोक के देवों का होता है। पुनः इसके परिमाण को बताते हुए कहते हैं कि समानान्तर वर्गमूल से गुणा करके, उसको प्रत्येक के साथ जोड़ना उससे प्राप्त राशि को अंगुल के पहले वर्गमूल रूप संख्या का समानान्तर (उसी) वर्गमूल के साथ गुणा करने से भवनपति की श्रेणी-विस्तार सूची प्राप्त होती हैं।

इस प्रथम वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल रूप समानान्तर वर्गमूल के साथ गुणा करने से रत्नप्रभा नारकों की श्रेणी-विस्तार रूप सूची प्राप्त होती है।

इस द्वितीय वर्गमूल को भी तीसरे वर्गमूल रूप समानान्तर वर्गमूल के साथ गुणा करने से सौधर्म देव की श्रेणी-विस्तार रूप सूची प्राप्त होती है।

भवनपति देव का परिमाण

विशेष रूप से समझाने के लिए बताते हैं कि प्रतर का जो अंगुल परिमाण क्षेत्र है वह वास्तव में तो असंख्यात श्रेणी रूप है परन्तु समझाने के लिए हम दो सौ छप्पन (२५६) की संख्या की कल्पना करते हैं। इस संख्या का प्रथम वर्गमूल सोलह, दूसरा वर्गमूल चार तथा तीसरा वर्गमूल दो होता है। इस प्रकार की कल्पित दो सौ छप्पन संख्या को प्रथम वर्गमूल अर्थात् सोलह से गुणा करना, जिससे चार हजार छियानवे (४०९६) श्रेणी के विस्तार रूप भवनपतियों की विष्कम्भ सूची है। इतनी प्रतर श्रेणियों में जितने आत्म-प्रदेश होते हैं उतने भवनपति देव होते हैं।

घम्मानारकी के नारकों का परिमाण

पहले वर्गमूल अर्थात् सोलह संख्या को दूसरे वर्गमूल (चार) के साथ गुणा करने पर (१६×४=६४) यह दूसरा वर्गमूल रत्नप्रभा (घम्मा) नारकों की विष्कम्भ सूची होती है। यह भी वास्तविक रूप में तो असंख्य है। कल्पित कल्पना से चौसठ है। इन चौसठ प्रतर श्रेणियों में जितने आत्म-प्रदेश होते हैं उतने घम्मा नारकी के नारक होते हैं।

सौधर्म देव का परिमाण

दूसरा वर्गमूल चार है तथा तीसरा वर्गमूल दो है, इन दोनों को गुणा करने पर आठ श्रेणी रूप संख्या सौधर्म देवों की विष्कंभ सूची होती है। यह भी वास्तव में तो असंख्यात है पर कल्पना से आठ बतायी गयी है। काल्पनिक इन आठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतर श्रेणियों में जितने आत्म-प्रदेश होते हैं उतने सौधर्म देव होते हैं।

यहाँ ईशान देवों की विष्कंभ सूची कही नहीं है परन्तु ईशान देव से सौधर्म देव संख्यात गुणा अधिक हैं ऐसा महांदण्डक (प्रज्ञापना) में कहा गया है।

नारक तथा देव परिमाण

बारस दस अट्ठेव य मूलाइं छत्ति दुन्नि नारएसुं ।
एक्कारस नव सत्त य पणग चउक्कं च देवेसु ।।१५८।।

गाथार्थ—नारकों में अनुक्रम से श्रेणी-सूची के बारह, दस, आठ, छ, तीन, दो वर्गमूल के प्रदेश परिमाण जीव-राशि हैं तथा देवों में ग्यारह, नौ, सात, पाँच तथा चार वर्गमूल के प्रदेश परिमाण जीव-राशि हैं।

विवेचन—नारकों में प्रथम नारक घम्मा की चर्चा पिछली गाथा में की। इस गाथा में शेष छः नरक तथा सनत्कुमार आदि छः देवलोक की चर्चा की गई है, वह इस प्रकार है —

नारक

शेष नरक के जीवों का परिमाण— श्रेणीगत प्रदेश-राशि को बारहवें वर्गमूल से भाग देने पर जो भागफल आया वह दूसरी नरक के जीवों का परिमाण इसी प्रकार दसवें वर्गमूल का जो भागफल आया वह तीसरी नरक के जीवों का परिमाण, आठवें वर्गमूल का जो भागफल आया वह चौथी नरक के जीवों का परिमाण, छठें वर्गमूल का जो भागफल आया वह पाँचवी नरक के जीवों का परिमाण, तीसरे वर्गमूल का जो भागफल आया वह छठीं नरक के जीवों का परिमाण, तथा दूसरे वर्गमूल का जो भागफल आया वह सातवीं नरक के जीवों का परिमाण है।

देव

श्रेणीगत प्रदेशराशि को ग्यारहवें वर्गमूल से भाग देने पर आने वाला भागफल तीसरे-चौथे देवलोक के जीवों का परिमाण—

नवें वर्गमूल का भागफल पाँचवें देवलोक के जीवों का परिमाण, ७वें वर्गमूल का भागफल छठे देवलोक के जीवों का परिमाण, ५वें वर्गमूल का भागफल सातवें देवलोक के जीवों का परिमाण, ४थें वर्गमूल का भागफल आठवें देवलोक के जीवों का परिमाण। तथा श्रेणीगत राशि २४०९६ को बारहवें वर्गमूल २ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०९६ (दूसरी नरक के जीव)। दसवें वर्गमूल २४ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०९२ (तीसरी नरक के जीव)। आठवें वर्गमूल २१६ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०८० (चौथी नरक के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव)। छठें वर्गमूल २६४ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०३२ (पाँचवीं नरक के जीव)। तीसरें वर्गमूल २५१२ से भाग देने पर आने वाला भागफल २३५८४ (छठीं नरक के जीव)। दूसरे वर्गमूल २१०२४ से भाग देने पर आने वाला भागफल २३०७२ (सातवीं नरक के जीव)।

ग्यारहवें वर्गमूल २२ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०९४ (तीसरा-चौथा देवलोक)। नवमें वर्गमूल २८ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०८८ (पाँचवा देवलोक)। सातवाँ वर्गमूल २३२ से भाग देने पर आने वाला भागफल २४०६४ (छठाँ देवलोक)। पाँचवा वर्गमूल २१२८ से भाग देने पर आने वाला भागफल २३९६८ (सातवाँ देवलोक)। चौथा वर्गमूल २२५६ से भाग देने पर आने वाला भागफल २३८४० (आठवाँ देवलोक)।

एकेन्द्रिय जीवों का परिमाण

बायरपुढवी आऊ पत्तेयवणस्सई य पज्जत्ता ।
तेय पयरभवहरिज्जंसु अंगुलासंखभागेणं ।।१५९।।

गाथार्थ— पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय तथा वनस्पतिकाय ये तीनों राशियाँ प्रतर का अपहार करने लगे तो अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण प्रतर का अपहरण करते हैं।

विवेचन— उपर्युक्त तीनों ही राशियाँ मिलकर एक समय में प्रत्येक एक-एक प्रतर-प्रदेश का अपहार कर असत्कल्पना से दूसरे स्थान पर रखें, फिर दूसरे समय अन्य स्थान पर रखें ऐसे ही तीसरे, चौथे समय में यावत् अंगुल के असंख्यातवें भाग रूप आकाश-प्रदेश पर रखें, उससे श्रेणी-खण्ड में जितने प्रदेश होते हैं उतने समय में वे समस्त प्रतर का अपहार करते हैं।

अथवा— अंगुल के असंख्यातवें भाग रूप आकाश-प्रदेश की श्रेणी-खण्ड में जितने प्रदेश हैं उनसे सम्पूर्ण प्रतर-प्रदेश की राशि का भाग करने पर जो प्रतर-प्रदेश खण्ड भागाकार रूप आया हो उसमें जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेश परिमाण बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय होते हैं।

अथवा समस्त बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय को अंगुल का असंख्यातवाँ भाग रूप प्रतर-प्रदेश-खण्ड दें तो एक साथ एक समय में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं।

इन तीनों विकल्पों में जैसे पृथ्वीकाय के प्रमाण का विचार किया है वैसे ही अप्काय व वनस्पतिकाय का भी विचार करना चाहिए क्योंकि गाथा में तीनों का निर्देश किया गया है, फिर भी अंगुल के असंख्यात भाग के असंख्य भेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का निर्देश किया गया है, फिर भी अंगुल के असंख्यात भाग के असंख्य भेद होने से इनका अल्पबहुत्व देख लेना चाहिये। इस प्रकार बादर पर्याप्त प्रदेश वनस्पति से बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय असंख्यगुणा है।

पज्जत्तबायराणल असंखया हुंति आवलियवग्गा।

पज्जत्तवायुकाया भागो लोगस्स संखेज्जो ।।१६०।।

गाथार्थ— पर्याप्त बादर अग्निकाय असंख्याती-आवलिका के वर्ग परिमाण हैं। पर्याप्त बादर वायुकाय लोकाकाश के संख्यातवें भाग जितने आकाश-प्रदेश परिमाण में है।

विवेचन— बादर पर्याप्त अग्निकाय असंख्यात आवलिका के वर्ग परिमाण अर्थात् असंख्यात आवलिका का वर्ग करने पर जो संख्या बने— उस संख्या परिमाण है।

बादर पर्याप्त वायुकाय लोक के संख्यातवें भाग में है अर्थात् लोकाकाश के संख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने परिमाण में सर्व बादर पर्याप्त वायुकाय होते हैं।

असंख्यात आवलिका के वर्गों से आवलिका का घन होता है उससे अधिक या कम भी होता है, इससे असंख्यात आवलिका वर्ग इतने मात्र से बादर पर्याप्त अग्निकाय का परिमाण नहीं जान सकते तथा लोक में संख्यातवें भाग में भी कितने प्रतर होते हैं ये भी नहीं जान सकते, अतः दोनों का विशेष रूप से परिमाण कहते हैं —

आवलिवग्गाऽसंखा घणस्स अंतो उ बायरा तेऊ ।

पज्जत्तबायराणिल हवन्ति पयरा असंखेज्जा ।।१६१।।

गाथार्थ— बादर पर्याप्त अग्निकाय घर के अन्दर रहे असंख्यात आवलिका वर्गपरिमाण जानना चाहिये। उसी प्रकार बादर पर्याप्त वायुकाय के असंख्यात प्रतर होते हैं।

विवेचन— जो बादर पर्याप्त अग्निकाय पहली असंख्याती आवलिका के वर्ग परिमाण कही वह आवलिका वर्गघन के अन्दर (मध्य में) लेना, इसका अर्थ इस प्रकार है असंख्याती आवलिका के वर्ग इतने ही लेना जितने से आवलिका का घन पूरा न हो, वरन् अधूरा रहे। यही बात विशेष स्पष्ट करने हेतु असत् कल्पना से बताते हैं— असंख्यात समय रूप आवलिका में दस (१०) समय की कल्पना करते हैं उसका वर्ग करने से सौ (१००) होते हैं (वर्ग अर्थात् १० को १० से गुणित करना)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह असंख्यात वर्ग कल्पना से दस (१०) भी होते हैं (परन्तु इतने वर्ग कल्पित नहीं किये जा सकते कारण) इतने वर्गों से आवलिका सम्बन्धित घनपूर्ण सम्पूर्ण होना सम्भव है वह इस प्रमाण से— आवलिका में दस समय की कल्पना की थी। दस का घन (१०×१०×१०= घन अर्थात् उसी संख्या को उसी संख्या से तीन बार गुणा करने से १०००) एक हजार होता है (और वह हजार की संख्या दस वर्ग से होती है) अत: उसे ग्रहण करने से घन सम्पूर्ण होता है। इससे आठ या नौ आवलिका वर्गों की असंख्यात रूप से कल्पना करनी चाहिए। उस परिमाण की कल्पना से आठ सौ (८००) या नौ सौ (९००) अथवा वास्तविक रूप में असंख्यात बादर पर्याप्त तेजस्काय होते हैं। यह आवलिका के घन की मध्यमवृत्ति रूप होती है।

इस प्रकार एक आवलिका का वर्ग कुछ कम आवलिका के समयों की संख्या के साथ गुणा करने से जो संख्या आती है उतने परिमाण में बादर पर्याप्त तेजस्काय है।

पर्याप्त बादर वायुकाय के असंख्यात प्रतर होते हैं वह पूर्व में कहे परिमाण लोक के संख्यातवें भाग में असंख्यात प्रतर जानना। जिससे लोक के संख्यातवें भाग में रहे असंख्यात प्रतर में जितने प्रदेश होते हैं उतनी संख्या परिमाण बादर पर्याप्त वायुकाय होते हैं।

एकेन्द्रिय का अल्पबहुत्व इस प्रकार है— १. सबसे कम बादर तेजस्काय, उससे असंख्यात गुणा प्रत्येक वनस्पतिकाय, उससे असंख्यात गुणा पृथ्वीकाय, उससे असंख्यात गुणा अप्काय, उससे असंख्यात गुणा वायुकाय है।

प्रथमराशि बादर पर्याप्त की चर्चा पूर्ण हुई — अब शेष सात राशियों की चर्चा करते हैं।

सेसा तिण्णिवि रासी वीसुं लोया भवे असंखेज्जा।
साहारणा उ चउसुवि वीसुं लोया भवेऽणंता ।।१६२।।

गाथार्थ— शेष रही तीन राशियाँ सभी अलग-अलग संख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं और चार प्रकार की साधारण वनस्पतियाँ अलग-अलग अनन्त लोकाकाश प्रदेश परिमाण हैं।

विवेचन— एकेन्द्रिय प्रत्येक शरीर की चार राशियाँ होती हैं— १. बादर पर्याप्त, २. बादर अपर्याप्त, ३. सूक्ष्म पर्याप्त तथा ४. सूक्ष्म अपर्याप्त। इन चार में से प्रथम बादर पर्याप्त राशि की चर्चा हमने की। अब शेष तीन राशियाँ भी अलग-अलग असंख्यात लोकाकाश जितनी है। असंख्यात लोकाकाश में जितने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदेश हैं उतने परिमाण में एक-एक राशि होती है। इस प्रकार तीनों राशियों का प्रमाण समान बताने पर भी इनमें अन्तर है— १. प्रत्येक शरीर बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय से, २. प्रत्येक शरीर सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्यात गुणा है। ३. उससे सूक्ष्म पर्याप्त संख्यात गुणा है।

साधारण शरीर वाले वनस्पति एकेन्द्रिय, बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त तथा सूक्ष्म अपर्याप्त भिन्न-भिन्न है। ये अनन्त लोकाकाश परिमाण होने से अनन्त लोकाकाश प्रदेश श्रेणी परिमाण संख्या में हैं। इन चारों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है— साधारण शरीर बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय से साधारण शरीर, बादर अपर्याप्त असंख्यात गुणा, उससे सूक्ष्म अपर्याप्त संख्यात गुणा, उससे सूक्ष्म पर्याप्त संख्यात गुणा होते हैं।

वायुकाय में उत्तर वैक्रिय परिमाण

वायरवाउ मग्गा भणिया अणुसमयमुत्तरसरीरा ।

पल्लासंखियभागेणऽवहीरंतित्ति सव्वेवि ।।१६३।।

गाथार्थ—पर्याप्त बादर वायुकाय में कितने ही वायुकाय वाले प्रतिसमय उत्तर वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। वे सभी पल्योपम के असंख्यातवें भाग का अपहरण करते है।

विवेचन—सूक्ष्म अपर्याप्तावस्था में उत्तर वैक्रिय शरीर की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः बादर शब्द गाथाकार ने दिया है। पर्याप्त उपलक्षण से समझ लेना चाहिये। समस्त पर्याप्त बादर वायुकाय में सतत उत्तर वैक्रिय शरीर वाले वायुकाय के जीव भी होते हैं।

वे सभी पल्योपम के असंख्यातवें भाग को अपहरण कर सकें अर्थात् प्रत्येक समय एक-एक प्रदेश का अपहार करते हुए जितने काल में क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग पूर्ण हों उतने काल में वैक्रिय शरीरी वायुकाय के जीव भी प्रत्येक समय में अपहरते(सर्व पूरे होते)हैं।

क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने वैक्रिय शरीरी बादर पर्याप्त वायुकाय होते हैं।

द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय परिमाण

बेइंदियाइया पुण पयरं पज्जत्तया अपज्जत्ता।

संखेज्जा संखेज्जेणंगुलभागेणऽवहरेज्जा।।१६४।।

गाथार्थ—पर्याप्त तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये सभी प्रतर में अंगुल के संख्यातासंख्यात भाग का अपहरण करते हैं।

विवेचन— प्रश्न— कौन कितने भाग का अपहरण करता है?

पर्याप्त अंगुल के संख्यातवें भाग प्रतर का अपहरण करते हैं तथा अपर्याप्त अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण प्रतर का अपहरण करते हैं।

अर्थात् अंगुल परिमाण श्रेणी-प्रदेश के संख्यात भाग से घनीकृत लोक प्रतर का भागाकार करने से जितने प्रतर का क्षेत्रखण्ड आवे उसमें जितने परिमाण प्रदेश उतने सम्पूर्ण पर्याप्त द्वीन्द्रिय होते हैं अथवा सभी द्वीन्द्रिय पहले समय में प्रत्येक एक-एक प्रतर प्रदेश को अपहरे, दूसरे, तीसरे, चौथे समय में एक-एक प्रतर प्रदेश को अपहरे यावत् अंगुल श्रेणी प्रदेशों के संख्यातवें भाग में जितने प्रदेश होते हैं उतने समय में सम्पूर्ण प्रतर को पर्याप्त द्वीन्द्रिय अपहरते हैं अथवा अंगुल श्रेणी प्रदेश का संख्यात भाग रूप खण्ड को एक-एक को दें तो सभी द्वीन्द्रिय पर्याप्त एक साथ एक ही समय में सम्पूर्ण प्रतर को अपहरते हैं। इन तीनों का आशय एक सा ही है।

इसी प्रकार अपर्याप्त द्वीन्द्रिय को भी जानना चाहिए। मात्र इतना अन्तर है कि वहाँ अंगुल श्रेणी प्रदेशों के संख्यात की जगह असंख्यात भाग है क्योंकि अपर्याप्त द्वीन्द्रिय असंख्यात गुणा है।

द्वीन्द्रिय के समान ही त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त) को जानना। यद्यपि सभी में समानता है फिर भी सभी का अल्प-बहुत्व इस प्रकार है।

१. सबसे कम पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, २. पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय उससे विशेषाधिक, ३. उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक, ४. उससे पर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक, ५. उससे अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय असंख्यगुणा ६. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त विशेषाधिक, ७. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त विशेषाधिक तथा ८. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त विशेषाधिक कहा है।

यहाँ पञ्चेन्द्रिय का परिमाण सामान्य से कहा है— संज्ञी तथा असंज्ञी के भेद से नहीं कहा है।

यहाँ अवस्थित (सदा रहने वाली) राशियों की चर्चा की अब अनवस्थित राशियों की चर्चा करते हैं—

अनवस्थित राशियाँ

मणुय अपज्जत्ताऽऽहार मिस्सवेउव्वि छेय परिहारा ।
सुहुमसरागोवसमा सासण मिस्सा य भयणिज्जा ।।१६५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— अपर्याप्त मनुष्य, आहारक शरीर, वैक्रिय, मिश्र, काययोग, छेदोपस्थापनीय चारित्री, परिहारविशुद्धिक चारित्री, सूक्ष्मसम्पराय, सरागी उपशामक, सास्वादनी, मिश्रदृष्टि — ये राशियाँ कभी होती हैं, कभी नहीं होती।

विवेचन— १. अपर्याप्त मनुष्य, २. आहारक शरीर, ३. वैक्रियमिश्रकाय योग, ४. छेदोपस्थापनीय चारित्र, ५. परिहार विशुद्धि चारित्र, ६. अपूर्वकरण, ७. अनिवृत्तिगुणस्थान, ८. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, ९. उपशामक या क्षपक, १०. सास्वादन गुणस्थान, ११. मिश्र गुणस्थान— इन अनवस्थिय राशियों का लोक में कभी सद्भाव रहता है कभी विरह रहता है। यहाँ इनका विरह काल बताया रहा है—

१. अपर्याप्त मनुष्य— मनुष्य गति में गर्भज का जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट बारह मुहूर्त का विरहकाल होता है। सम्मूर्च्छिम मनुष्य का जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त विरहकाल कहा गया है।

२. आहारक शरीर—आहारक शरीर का प्रारम्भ करने का उत्कृष्ट विरहकाल छः मास है। अतः जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से छः मास का विरह काल है।

३. वैक्रिय मिश्रकाय— मिश्र वैक्रिय काय योग में यहाँ नरक तथा देव को जानना अर्थात् प्रथम उत्पत्ति काल में कार्मण के साथ होने वाला वैक्रिय शरीर, इन दोनों गतियों में जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से बारह मुहूर्त परिमाण जानना चाहिये।

४. छेदोपस्थापनीयचारित्र— छेदोस्थापनीय चारित्र का जघन्य से त्रेसठ हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट से अठारह कोटा-कोटी सागरोपम का विरहकाल है। आगे गाथा में इसे स्पष्ट किया गया है।

५. परिहारविशुद्धिचारित्र— परिहारविशुद्धिचारित्र का जघन्य चौरासी हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट से अठारह कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण आगे स्पष्ट किया गया है।

६ से ९. आठवाँ, नवाँ, दसवाँ तथा ग्यारहवाँ गुणस्थान— अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसम्पराय ये तीनों ही दो प्रकार के हैं— उपशामक तथा क्षपक। उपशान्त मोही तो मात्र उपशम श्रेणी की शिखा पर स्थित ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती हैं। इसमें उपशम श्रेणी का अन्तर उत्कृष्ट से वर्षपृथक्त्व है तथा क्षपक श्रेणी का अन्तर उत्कृष्ट से छः महीना है।

१० से ११. सास्वादन, मिश्र— सास्वादन तथा मिश्र का जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट से पल्योपम का असंख्यातवां भाग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

एवं जे जे भावा जहिं जहिं हुंति पंचसु गईसु ।
ते ते अणुमज्जित्ता दव्वपमाणं नए धीरा ।।१६६।।
तिन्नि खलु एक्कयाइं अद्धासमया व पोग्गलाऽणंता।
दुन्नि असंखेज्जपएसियाणि सेसा भवेऽणंता।।१६७।।प्रमाणद्वारं-२

गाथार्थ- जिस प्रकार से पाँचों गतियों में जो-जो भाव जहाँ-जहाँ होते हैं उन-उन पर विचार करके (अणुमज्जिता) बुद्धिमानों को द्रव्य परिमाण जानना चाहिये।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय ये तीनों ही द्रव्य एक-एक हैं। जबकि अद्धासमय रूप काल तथा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य अनन्त हैं। प्रदेश से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय ये दोनों असंख्यात हैं तथा शेष तीनों अर्थात् आकाश, काल तथा पुद्गल अनन्त हैं।

विवेचन—इस प्रकार की चर्चा पूर्व गाथाओं में किये गए हैं उन पर गहराई से विचार करके बुद्धिजीवियों को द्रव्य परिमाण को जानना चाहिये।

तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं पर धर्माधर्मास्तिकाय के प्रदेश असंख्य हैं तथा शेष तीनों द्रव्य अनन्त हैं।

इनमें आकाशास्तिकाय की व्याप्ति तो लोकालोक दोनों में है— अलोकाकाश अनन्त है अतः आकाश के प्रदेश भी अनन्त हैं।

पुद्गल में भी द्वयणुक, त्रयणुक, चतुरणुक यावत् अनन्तानन्त अणुक है। आगे की गाथाओं में भी इन द्रव्यों की विस्तार से चर्चा करते हुए काल को संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी कहा है।

काल को आपने अनन्त प्रदेशी कहा, वह कैसे? तत्त्वार्थकार ने अध्याय ५ के ३९ वें सूत्र में कहा है— "सोऽनन्तसमय:" वह (काल) अनन्त समय वाला है। पर इससे पूर्व ही सूत्र में उन्होंने कहा है "कालश्चेत्येके" कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं अर्थात् सभी आचार्यों ने एकमत से काल को द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किसी-किसी ने किया है और वह काल अतीत, वर्तमान तथा अनागत के कारण अनन्त पर्यायवाला होता है। ये भूत, वर्तमान व भविष्य की पर्याय भी प्रदेश रूप में ही गिनी जायेगी। अनन्तकाल से यह काल द्रव्य था और अनन्तकाल तक चलेगा इससे इसका अनन्त प्रदेशी होना स्पष्ट परिलक्षित होता है।

द्वितीय परिमाण-द्वार समाप्त

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्र-द्वार

अब तीसरे क्षेत्रद्वार की चर्चा की जाती है—

खेत्तं खलु आगासं तव्विवरीयं च होइ नोखेत्तं ।

जीवा य पोग्गलावि य धम्माधम्मत्थिया कालो ।।१६८।।

गाथार्थ—क्षेत्र आकाश को कहते हैं। क्षेत्र से विपरीत नोक्षेत्र होते हैं। ये नोक्षेत्र हैं— जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा काल।

विवेचन—आकाश वह है जो अन्य द्रव्यों को अवकाश, अर्थात् स्थान देता है। जिसमें पदार्थों का विकास तथा विनाश होता हो, ऐसे आकाश द्रव्य को क्षेत्र कहा जाता है तथा उसमें रहने वाले पाँच द्रव्यों को क्षेत्री कहा गया है।

यह क्षेत्र का स्वरूप बतलाया गया। अब चौदह जीवसमासों का सत्प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों से विचार किया जाता है।

चतुर्गति जीवों का देहमान परिमाण

नारकी

सत्त धणु तिन्नि रयणी छच्चेव य अंगुलाइं उच्चत्तं।

पढमाए पुढवीए बिउणा बिउणं च सेसेसु ।।१६९।।

गाथार्थ—सात धनुष तीन हाथ छः अंगुल की ऊँचाई प्रथम रत्नप्रभापृथ्वी (प्रथम नरक) के नारकी जीवों की है। उसके बाद शेष पृथ्वियों के नारकी जीवों की ऊँचाई क्रमशः प्रथम से द्विगुणित-द्विगुणित है।

विवेचना—१. प्रथम नरक के नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ छः अंगुल अर्थात् सवा इकतीस हाथ ऊँचाई उत्सेधांगुल से जानना चाहिए। २. शर्कराप्रभा में पन्द्रह धनुष, ढाई हाथ। ३. बालुकाप्रभा में इकतीस धनुष एक हाथ। ४. पंकप्रभा में बासठ धनुष दो हाथ। ५. धूमप्रभा में सवा सौ धनुष। ६. तमःप्रभा में ढाई सौ धनुष। ७. अन्तिम नरक में पाँच सौ धनुष परिमाण उत्कृष्ट ऊँचाई है।

नरक नाम	जघन्य ऊँचाई	उत्कृष्ट ऊँचाई
१. रत्नप्रभा	३ हाथ	७$\frac{३}{४}$ धनुष ६ अंगुल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. शर्करा प्रभा	७¾ धनुष ६ अंगुल	१५½ धनुष १२ अंगुल
३. बालुकाप्रभा	१५½ धनुष १२ अंगुल	३१¼ धनुष
४. पंकप्रभा	३१¼ धनुष	६२½ धनुष
५. धूमप्रभा	६२½ धनुष	१२५ धनुष
६. तम:प्रभा	१२५ धनुष	२५० धनुष
७. तमस्तमप्रभा	२५० धनुष	५०० धनुष

उत्तर वैक्रिय शरीर तो सभी नारकी जीवों का उनके मूल शरीर से द्विगुणित समझना चाहिए, यथा— सातवीं नारकी का एक हजार धनुष परिमाण उत्तर वैक्रिय शरीर होता है।

प्रश्न— तीसरे विभाग का नाम तो क्षेत्र-द्वार है, किन्तु यहाँ चर्चा जीव के शरीर परिमाण की की जा रही है, क्या यह उचित है?

उत्तर— हाँ। यहाँ वस्तुत: जीव के शरीर से अवगाहित क्षेत्र की ही चर्चा की जा रही है। अत: इस प्रसंग में जीव के शरीर परिमाण की चर्चा करना अनुचित नहीं है।

विकलेन्द्रिय

बारस य जोयणाइं तिगाउयं जोयणं च बोद्धव्वं।

बेइंदियाइयाणं हरिएसु सहस्समब्भहियं ।।१७०।।

गाथार्थ—द्वीन्द्रिय का बारह योजन, त्रीन्द्रिय का तीन कोस, चतुरिन्द्रिय का एक योजन (चार कोस) तथा वनस्पति का एक हजार योजन से भी कुछ अधिक उत्कृष्ट देहमान होता है।

विवेचन— चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के सैन्य शिविरों, छावनियों में जब चक्रवर्ती आदि का नाश होने वाला हो तब सम्मूर्च्छिम आसालिक नामक जीव की उत्पत्ति होती है। यह अधिकतम बारह योजन की लम्बाई वाला होता है। इसकी आयु अन्तर्मुहूर्त की है। कोई इसे द्वीन्द्रिय कहते हैं तथा कोई इसे पञ्चेन्द्रिय भी कहते हैं।

इसके मरने पर भूमि में इतना गहरा खड्डा हो जाता है कि इसमें चक्रवर्ती की सारी सेना समा जाती है।

गाथा में कथित तीन कोस तथा चार कोस शरीर परिमाण वाले विकलेन्द्रिय जीव स्वयंभूरमण समुद्र में होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक वनस्पतिकाय का हजार योजन का विशाल शरीर गहरे पद्मद्रह नामक जलाशय का कमलनाल की अपेक्षा से माना गया है। सूक्ष्म वनस्पति का देहमान तो अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जानना चाहिये।

सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय

जल-थल-खह-सम्मुच्छिम तिरिय अपज्जत्तया विहत्थीयो।

जलसंमुच्छिमपज्जत्तयाण अह जोयणसहस्सं ।।१७१।।

गाथार्थ—जलचर, स्थलचर तथा खेचर पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम अपर्याप्त जीवों का देहमान उत्कृष्ट से विस्तति परिमाण है। सम्मूर्च्छिम पर्याप्त जलचर का उत्कृष्ट देहमान एक हजार योजन का है।

विवेचन— सम्मूर्च्छिम अपर्याप्त जलचर, थलचर, खेचर, भुजपरिसर्प तथा उपपरिसर्प का अधिकतम देहमान एक विस्तति परिमाण होता है। जघन्य अपेक्षा से तो यह अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण वाला होता है। पर्याप्त सम्मूर्च्छिम जलचर की उत्कृष्ट अवगाहना (देहमान) एक हजार योजन होती है। ये अवगाहना स्वयंभूरमण समुद्र में उत्पन्न हुए मत्स्यादि की अपेक्षा से समझना चाहिये।

उरपरिसर्प

उरपरिसप्पा जोयण सहस्सिया गब्भया उ उक्कोसं ।

संमुच्छिम पज्जत्तय तेसिं चिय जोयणपुहुत्तं ।।१७२।।

गाथार्थ—गर्भज पर्याप्त उरपरिसर्प उत्कृष्ट से एक हजार योजन देहमान वाले होते हैं। सम्मूर्च्छिम पर्याप्त उरपरिसर्प उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व अर्थात् १ योजन से ९ योजन देहमान वाले होते हैं।

विवेचन— स्थलचर में उरपरिसर्प (छाती से चलने वाले) सर्पादि न्यूनतम अंगुली के असंख्यातवें भाग देहमान वाले तथा अधिकतम मनुष्यलोक से बाहर पैदा होने वाले गर्भज पर्याप्त उरपरिसर्प एक हजार योजन देहमान वाले होते हैं तथा सम्मूर्च्छिम उरपरिसर्प योजन पृथक्त्व देहमान वाले होते हैं।

भुजपरिसर्प

भुयपरिसप्पा गाउयपुहुत्तिणो गब्भया व उक्कोसं ।

संमुच्छिम पज्जत्तय तेसिं चिय धणुपुहुत्तं च ।।१७३।।

गाथार्थ— गर्भज पर्याप्त भुजपरिसर्प का उत्कृष्ट देहमान गाउ पृथक्त्व (१ कोस से ९ कोस तक) है तथा संमूर्च्छिम पर्याप्त भुजपरिसर्प का उत्कृष्ट देहमान धनुष पृथक्त्व (१ धनुष से ९ धनुष) परिमाण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— भुजाभ्यां परिसर्पन्ति इति भुजपरिसर्पाः अर्थात् जो भुजाओं से चलते हैं वे भुजपरिसर्प हैं। यथा— नेवला, गिरगिट, गिलहरी, छिपकली आदि।

जलचल, स्थलचर और खेचर

जलथलगब्भऽपजत्ता खहथलसंमुच्छिमा य पज्जत्ता।
खहगब्भया उ उभये उक्कोसेणं धणुपुहुत्तं ।।१७४।।

गाथार्थ— गर्भज अपर्याप्त जलचर- स्थलचर, सम्मूर्च्छिम पर्याप्त खेचर एवं स्थलचर, गर्भज पर्याप्त और अपर्याप्त खेचर इन सब का उत्कृष्ट देहमान धनुष पृथक्त्व है।

विवेचन— गर्भज अपर्याप्त जलचर का उत्कृष्ट देहमान धनुष पृथक्त्व है। गर्भज अपर्याप्त स्थलचर अर्थात् चतुष्पद, भुजपरिसर्प तथा उरपरिसर्प का देहमान भी धनुष पृथक्त्व है।

सम्मूर्च्छिम पर्याप्त खेचर, चतुष्पद स्थलचर का उत्कृष्ट देहमान भी धनुष पृथक्त्व है।

खेचर गर्भज पर्याप्तापर्याप्त का भी उत्कृष्ट देहमान धनुष पृथक्त्व है। (अपर्याप्त का धनुष पृथक्त्व परिमाण ज्ञानीगम्य है)। जघन्य से तो सभी का देहमान अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण है।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय

क्रम	नाम	उत्कृष्ट अवगाहना	जघन्य अवगाहना
१.	सामान्य पञ्चेन्द्रिय	एक हजार योजन प्रमाण	
	जलचर		
१.	सामान्य जलचर	एक हजार योजन	
२.	सम्मूर्च्छिम जलचर	एक हजार योजन	
३.	अपर्याप्त जलचर	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	
४.	पर्याप्त जलचर	एक हजार योजन	
५.	सामान्य गर्भज जलचर	एक हजार योजन	
६.	अपर्याप्त गर्भज जलचर	अंगुल के असंख्यातवें भाग	
७.	पर्याप्त गर्भज जलचर	एक हजार योजन	
	स्थलचर (चतुष्पद)		
१.	सामान्य चतुष्पद	छः गव्यूति	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम	नाम	उत्कृष्ट अवगाहना	जघन्य अवगाहना
२.	संमूर्च्छिम चतुष्पद	गव्यूति पृथक्त्व	अंगुल का असंख्यातवां भाग
३.	अपर्याप्त सम्मूर्च्छिम चतुष्पद	अंगुल के असंख्यातवें भाग	
४.	पर्याप्त सम्मूर्च्छिम चतुष्पद	गव्यूति पृथक्त्व	
५.	सामान्य गर्भज चतुष्पद	छः गव्यूति परिमाण	
६.	अपर्याप्त गर्भज चतुष्पद	अंगुल के असंख्यातवें भाग	
७.	पर्याप्त गर्भज चतुष्पद	छः गव्यूति	
	स्थलचर (उरपरिसर्प)		
१.	सामान्य उरपरिसर्प	एक हजार योजन	
२.	संमूर्च्छिम उरपरिसर्प	योजन पृथक्त्व	
३.	संमूर्च्छिम अपर्याप्त उरपरिसर्प	अंगुल के असंख्यातवें	
४.	संमूर्च्छिम पर्याप्त उरपरिसर्प	योजन पृथक्त्व	
५.	सामान्य गर्भज उरपरिसर्प	एक हजार योजन परिमाण	
६.	अपर्याप्त गर्भज उरपरिसर्प	अंगुल का असंख्यातवां भाग	
७.	पर्याप्त गर्भज उरपरिसर्प	एक हजार योजन	
	स्थलचर (भुजपरिसर्प)		
१.	सामान्य भुजपरिसर्प	गव्यूति पृथक्त्व	
२.	सामान्य संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प	धनुष पृथक्त्व	
३.	संमूर्च्छिम अपर्याप्त भुजपरिसर्प	अंगुल का असंख्यातवां भाग	
४.	संमूर्च्छिम पर्याप्त भुजपरिसर्प	धनुष पृथक्त्व	
५.	सामान्य गर्भज भुजपरिसर्प	गव्यूति पृथक्त्व	
६.	गर्भज अपर्याप्त भुजपरिसर्प	अंगुल का असंख्यातवां भाग	
७.	गर्भज पर्याप्त भुजपरिसर्प	गव्यूति पृथक्त्व	
	खेचर		
१.	सामान्य खेचर	धनुष पृथक्त्व	
२.	सामान्य संमूर्च्छिम खेचर	धनुष पृथक्त्व	
३.	संमूर्च्छिम अपर्याप्त खेचर	अंगुली का असंख्यातवां भाग	
४.	संमूर्च्छिम पर्याप्त खेचर	धनुष पृथक्त्व	
५.	सामान्य गर्भज खेचर	धनुष पृथक्त्व	
६.	गर्भज अपर्याप्त खेचर	अंगुल का असंख्यातवां भाग	
७.	गर्भज पर्याप्त खेचर	धनुष पृथक्त्व	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गर्भज जलचर, थलचर

जलगब्भयपज्जत्ता उक्कोसं हुंति जोयणसहस्सं ।
थलगब्भयपज्जत्ता छग्गाउक्कोसगुव्वेहा ।।१७५।।

गाथार्थ— जलचर गर्भज़ पर्याप्त का उत्कृष्ट देहमान एक हजार योजन है। स्थलचर गर्भज पर्याप्त का देहमान छ: गव्यूति (कोस) है।

विवेचन— गर्भज पर्याप्त जलचर का उत्कृष्ट देहमान स्वयंभूरमण समुद्र में रहे मत्स्य की अपेक्षा से है। स्थलचर गर्भज पर्याप्त का उत्कृष्ट देहमान देवकुरु उत्तरकुरु में रहे हाथी आदि की अपेक्षा से है।

नोट— १. जलचर, थलचर (२ चतुष्पद, ३ भुजपरिसर्प, ४ उरपरिसर्प) तथा ५. खेचर — इन पाँचों के सम्मूर्च्छिम, गर्भज पर्याप्त, अपर्याप्त (५×२×२=२०) बीस भेद हुए। यहाँ तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की चर्चा पूर्ण हुई।

एकेन्द्रिय

अंगुलअसंख भागो बायरसुहुमा य सेसया काया।
सव्वेसिं च जहण्णं मणुयाण तिगाउ उक्कोसं ।।१७६।।

गाथार्थ— शेष सभी कायों अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा वायुकाय में बादर तथा सूक्ष्म का जघन्य तथा उत्कृष्ट से देहमान अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना ही है। मनुष्य का उत्कृष्ट देहमान तीन कोस है।

विवेचन— वनस्पतिकाय की चर्चा गाथा १७० में हो गयी। शेष सभी एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य एवं उत्कृष्ट देहमान प्रस्तुत गाथा में बताया गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि सभी का जघन्य से देहमान तो अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण है।

मनुष्य का देहमान जघन्य परिमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण तथा उत्कृष्ट तीन कोस परिमाण है।

भवणवइवाणमंतरजोइसवासी य सत्तरयणीया ।
सक्काइ सत्तरयणी एक्केक्का हाणि जावेक्का ।।१७७।।

गाथार्थ— भवनपति, व्यंतर तथा ज्योतिष्क देवों का देहमान सात हाथ है। शक्र आदि देवों का सात हाथ, तदनन्तर दो-दो देवलोकों के पश्चात् क्रमशः एक-एक हाथ की हानि जानना।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म एवं ईशान देवलोक तक देवों का उत्कृष्ट देहमान सात हाथ है। तदनन्तर एक-एक कम करते जाना यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सनत्कुमार तथा माहेन्द्र देवलोक का उत्कृष्ट देहमान छः हाथ, ब्रह्मलोक तथा लान्तक का पाँच हाथ, महाशुक्र तथा सहस्रार का चार हाथ, आनत-प्राणत, आरण, अच्युत का तीन हाथ, ग्रैवेयकों मेंस्बसे ऊपर के विभाग में दो तथा अनुत्तर विमानों के सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्ध विमान में एक हाथ परिमाण जानना।

उत्तर वैक्रिय शरीर तो अच्युत देवलोक तक उत्कृष्ट से एक लाख योजन जानना। ग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानवासी उत्तर वैक्रिय लब्धि होने पर भी वे उत्तर वैक्रिय शरीर नहीं बनाते। जघन्य से तो सभी का अंगुल का असंख्यातवाँ भाग जानना।

चतुर्विध देवनिकायों की शरीर अवगाहना

क्रम	देवतानाम	भवधारणयी (उत्कृष्ट)	उत्तर वैक्रिय से उत्कृष्ट एवं जघन्य देहमान
१.	भवनपति	सात हाथ	ग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानवासी उत्तर वैक्रिय शरीर नहीं बनाते। अतः उन्हें छोड़कर सभी का उत्तर वैक्रिय देहमान एक लाख योजन हो सकता है। इसी प्रकार सभी का जघन्य देहमान अंगुल का असंख्यातवां भाग जितना हो सकता है।
२.	व्यन्तर	सात हाथ	
३.	ज्योतिष्क	सात हाथ	
४.	सौधर्म-ईशान	सात हाथ	
५.	सनत्कुमार-माहेन्द्र	छः हाथ	
६.	ब्रह्मलोक-लान्तक	पाँच हाथ	
७.	महाशुक्र-सहस्रार	चार हाथ	
८.	आनत-प्राणत	तीन हाथ	
९.	आरण-अच्युत	तीन हाथ	
१०.	ग्रैवेयक	दो हाथ	
११.	अनुत्तर	एक हाथ	

२. गुणस्थान क्षेत्र-द्वार

मिच्छा य सव्वलोए असंखभागे य सेसया हुंति ।

केवलि असंखभागे भागेसु व सव्वलोए वा ।।१७८।।

गाथार्थ— मिथ्यादृष्टि सर्वलोक में है। शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। केवली असंख्यातवें भाग में तथा समुद्घात की अपेक्षा सर्वलोक में होते हैं।

विवेचन— सूक्ष्म एकेन्द्रिय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने के कारण कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि सर्वलोक में है। शेष गुणस्थानवर्ती जीव अर्थात् सयोगी केवली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थान को छोड़कर शेष सभी गुणस्थानवर्ती जीव समुद्घात न करते हों तब तथा समुद्घात करते समय दण्ड, कपाट आदि की अवस्थाओं में तो लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। मथानी का आकार बनाते समय भी वे लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं पर चौथे समय में लोकव्यापी होने के कारण वे सम्पूर्ण लोक में होते हैं, ऐसा कहा गया है।

तिरिएगिंदियसुहुमा सव्वे तह बायरा अपज्जत्ता ।

सव्वेवि सव्वलोए सेसा उ असंखभागम्मि ।।१७९।।

गाथार्थ—सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा अपर्याप्त बादर जीव सर्वलोक में होते हैं। शेष जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं।

प्रश्न— सूक्ष्म एकेन्द्रिय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है यह बात तो शास्त्र प्रमाणित है, परन्तु बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त को लोकव्यापी कैसे कहा गया है?

उत्तर— प्रश्न यथोचित है— सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपने-अपने स्वस्थान में रहते हुए भी सर्वलोक में व्याप्त हैं किन्तु बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव उत्पाद तथा समुद्घात की अपेक्षा से लोकव्यापी कहे गये हैं। उत्पाद से आशय विग्रहगति से तथा समुद्घात से आशय मारणांतिक-समुद्घात से है।

विग्रहगति में जीव जिस स्थान को छोड़कर जहाँ पैदा होता है— उस बीच के सारे स्थान को वह विग्रहगति में स्पर्श कर लेता है। मारणांतिक समुद्घात में भी जीव आत्मप्रदेशों को वहाँ तक फैलाता है जहाँ उसे जन्म लेना है। इन दोनों (उत्पाद व समुद्घात) की अपेक्षा से बादर अपर्याप्त जीव को सर्वलोकव्यापी कहा गया है।

वायुकाय

पज्जत्तबायराणिल सट्ठाणे लोगऽसंखभागेसु ।

उववायसमुग्घाएण सव्वलोगम्मि होज्जणहु ।।१८०।।

गाथार्थ—बादर पर्याप्त वायुकाय स्वस्थान (जन्मस्थान) की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं इनका उपपात तथा समुद्घात सर्वलोक में होता है।

विवेचन— बादर पर्याप्त वायुकाय स्वस्थान के आश्रय से लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। लोक में ये सर्वत्र होने पर भी उसके असंख्यातवें भाग परिमाण हैं। प्रज्ञापनासूत्र में कहा है कि एक भव से दूसरे भव में जाने रूप उपपात (उत्पत्ति) और मारणांतिक समुद्घात से वायुकाय सम्पूर्ण लोक में होते हैं। भवान्तराल अर्थात् विग्रहगति में रहे जीव मारणांतिक समुद्घात के समय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव अपने उत्पन्न होने के स्थान तक स्वयं के आत्मप्रदेशों को दण्ड रूप में स्थापित करके समस्त लोक में फैलाता है।

क्षेत्र तथा स्पर्शन

सट्ठाणसमुग्घाएणुववाएणं च जे जहिं भावा ।

संपइ काले खेत्तं तु फासणा होइ समईए ।।१८१।।

गाथार्थ— स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपात की अपेक्षा से जो अवस्था जहाँ होती है वह उसका वर्तमान काल विषयक स्थान क्षेत्र कहलाता है, किन्तु भूतकाल विषयक स्थान 'स्पर्शना' कहलाता है।

विवेचन— जीव जहाँ उत्पन्न होता है वह उसका स्वस्थान है। कषाय मरण आदि सात समुद्घात हैं। एक भव से दूसरे भव में जाना उपपात है।

ये तीनों ही यदि वर्तमान काल विषयक हैं तो उन्हें क्षेत्र के अन्तर्गत लेना तथा ये तीनों ही यदि भूतकाल विषयक हो तो उन्हें स्पर्शना के अन्तर्गत लेना चाहिये।

क्षेत्र— इसमें कल्पना करें कि जैसे विग्रहगति की अवस्था में स्वयं के आत्मप्रदेशों से समस्त लोक रूप क्षेत्र को सर्व ओर से स्पर्श (आक्रान्त) करने के कारण बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय का वह क्षेत्र है। यह वर्तमान काल से सम्बन्धित बात हुई।

स्पर्शना— जैसे कोई जीव छठे नरक से मध्यलोक, मनुष्य लोक में आकर उत्पन्न हुआ। यहाँ उसने पर्याप्त अवस्था को प्राप्त कर लिया— अब मनुष्य भव मे रहते हुए उसने जो छठे नरक का त्याग भूतकाल में किया था वह उसकी स्पर्शना है। क्योंकि निकट भूतकाल में उसने छः रज्जु का स्पर्श किया था।

अजीव द्रव्य

लोए धम्माऽधम्मा लोयालोए य होइ आगासं ।

कालो माणुसलोए उ पोग्गला सव्वलोयम्मि ।।१८२।।

गाथार्थ— लोक में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है। आकाशास्तिकाय लोक तथा अलोक में है। काल मनुष्य लोक में होता है तथा पुद्गल सर्वलोक में है।

विवेचन— पाँचों द्रव्य लोकाकाश में विद्यमान हैं पर आकाशास्तिकाय लोक तथा अलोक दोनों में है। ज्ञातव्य है कि वर्तना लक्षण निश्चयकाल तो सम्पूर्ण लोक में है परन्तु सूर्य, चन्द्रादि के कारण व्यवहारकाल मात्र मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) में है।

तृतीय क्षेत्रद्वार समाप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पर्शन्-द्वार

आगासं च अणंतं तस्स य बहुमज्झेदसभागम्मि ।

सुपइट्ठियसंठाणो लोगो कहिओ जिणवरेहिं ।।१८३।।

आकाश अनन्त है, उसके बिल्कुल मध्य में दसवें भाग में सुप्रतिष्ठित संस्थान वाला लोक है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है।

आकाश के दो भेद हैं— अलोकाकाश और लोकाकाश। लोकाकाश अलोकाकाश के ठीक मध्य में स्थित है। यह अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वभाव से निर्मित और पञ्चास्तिकाय एवं छठे काल इन छः द्रव्यों में व्याप्त है। इसे ही लोक संज्ञा दी गई है। इसका आकार सुनिश्चित है।

लोकाकाश का आकार तथा विस्तार

हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुइंगनिभो ।

मज्झिमवित्थाराहियचोद्दसगुणमायओ लोओ ।।१८४।।

गाथार्थ— अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक क्रमशः वेत्रासन, झल्लरी तथा मृदंग तुल्य है। मध्यम लोक के विस्तार की अपेक्षा से ये समस्त लोक चौदह गुणा आयत अर्थात् विस्तार वाला है।

विवेचन— इस गाथा में ऊर्ध्वलोक को मृदंग (ढोल), मध्यलोक को झल्लरी (वाद्य विशेष या थाली) तथा अधोलोक को वेत्रासन (गाय की गर्दन) के समान बताया गया है।

समस्त लोक का परिमाण चौदह गुण अर्थात् रज्जु है। इस गाथा में गुण का आशय रज्जु (रस्सी) से है। शास्त्रों में रज्जु का परिमाण इस प्रकार बताया गया है—

जोयणलक्खपमाणं निमेसमत्तेण जाइ जो देवो ।

ता छम्मासे गमणं एवं रज्जुं जिणा विंति ।।

अर्थात् कोई एक देव एक निमेष (आंख की पलक झपकने में लगने वाला काल) में एक लाख योजन दूरी पार करता है। इस प्रकार की तीव्र गति वाला देव छः माह तक इसी गति से चलता रहे तो एक रज्जु होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा चौदह रज्जु लम्बा लोक तीन भागों में विभक्त है—

ऊर्ध्वलोक —मेरुपर्वत के समतल भूमि भाग से नौ सौ योजन ऊपर(ज्योतिष चक्र के ऊपर)का सम्पूर्ण भाग लोक ऊर्ध्वलोक है। इसका आकार मृदंग (ढोलक) जैसा है। यह कुछ कम सात रज्जु परिमाण है।

अधोलोक —मेरु पर्वत के समतल भूमि भाग से नौ सौ योजन नीचे का लोक अधोलोक है। इसका आकार उल्टे किये हुए सकोरे या वेत्रासन जैसा है यह कुछ अधिक सात रज्जु परिमाण है।

तिर्यक्लोक —ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के मध्य में अठारह सौ योजन परिमाण तिर्यक्लोक है। इसका आकार झल्लरी या पूर्ण चन्द्रमा के समान है। (लोक प्रकाश भाग - २, सर्ग १२, अभिधानराजेन्द्रकोष भाग ६, पृ० ६९७, भगवती शतक ११, उद्देशक १०, सूत्र ४२०)।

लोक संस्थान —गणितानुयोग में लोक का संस्थान इस प्रकार कहा है— अलोकाकाश के मध्य में लोकाकाश है। वह सान्त व ससीम है। इसका आकार त्रिसरावसम्पुटाकार है। एक सराव (शिकोरा) उल्टा, उसपर एक सराव सीधा, फिर एक सराव उल्टा रखने से जो आकार बनता है उसे त्रिसरावसम्पुटाकार कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में यह सुप्रतिष्ठत्त आकार कहा जाता है। यह लोक नीचे से विस्तृत, मध्य में संक्षिप्त, पुनः विस्तृत व संक्षिप्त है।

आगमोत्तरकालीन जैन ग्रन्थों में लोक को लोक पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि जैनागमों में कहीं भी लोक पुरुष का वर्णन नहीं है, फिर भी कतिपय जैन ग्रन्थों में लोक का आकार पुरुष के समान भी बतलाया है। कहा गया है कि जैसे दोनों हाथ कमर पर रखकर तथा दोनों पैरों को फैलाकर कोई पुरुष खड़ा हो, वैसा ही यह लोक है।

वैदिक ग्रन्थों में विश्व को विराट् पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है— भागवतपुराण २/५/३८-४० (प्रथम भाग, पृ० १६६)।

गाथा में कथित तीनों शब्द — १. वेत्रासन, २. झल्लरी व ३. मृदंग दिगम्बर आगमों में भी प्राप्त हैं। श्वेताम्बर परम्परा में अधोलोक को उल्टे सराव तुल्य, मध्यलोक को पल्यंक आकार तथा ऊर्ध्वलोक को मृदंग के आकार का कहा है।

यह लोक मध्यलोक की जितनी चौड़ाई है, उससे चौदह गुणा लम्बा है।

मध्य लोक में जम्बू द्वीप

मज्झे य मज्झलोयस्स जंबूदीवो य वट्टसंठाणो ।
जोयणसयसाहस्सो विच्छण्णो मेरुनाभीओ ।।१८५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— मध्यलोक के मध्य में वर्तुल अर्थात् गोल संस्थान वाला जम्बूद्वीप है। वह जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है तथा उसके मध्य में नाभि तुल्य मेरुपर्वत है।

विवेचन— मध्यलोक के सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने निम्न प्रश्न पूछे हैं— हें भगवन् ! १. जम्बूद्वीप कहाँ है?, २. यह कितना विशाल है?, ३. इसका संस्थान कैसा है? तथा ४. इसका आकार एवं स्वरूप कैसा है? प्रभु ने उत्तर दिया— हे गौतम ! १. यह जम्बूद्वीप सर्वसमुद्रों के बीच में (सर्वाभ्यन्तर) है। २. यह द्वीप-समुद्रों में सबसे छोटा है। ३. तेल में तले हुए पुए के समान, रथ के पहिये के समान, कमल की कर्णिकवत् तथा परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोल है तथा ४. एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है।

प्रश्न— इसे जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं ?

उत्तर— इस द्वीप के उत्तर कुरु में अनादिनिधन, पृथ्वी से बना हुआ अकृत्रिम जम्बूवृक्ष है जिसके कारण यह जम्बूद्वीप कहलाता है।

मेरुपर्वत

इस जम्बूद्वीप के बीच में मेरुपर्वत है। यह एक लाख योजन ऊँचा है। इसमें से एक हजार योजन जमीन में है शेष निन्यानवें हजार योजन समतल भूमि से चूलिका तक है।

प्रारम्भ से मेरु का व्यास (घेरा) दस हजार योजन है किन्तु क्रमशः घटते-घटते ऊपर एक हजार योजन चौड़ा रह जाता है। (१) पृथ्वी के भीतर एक हजार योजन वाला प्रथम भाग है। (२) पृथ्वी पर तिरेसठ हजार योजन परिमाण दूसरा भाग है। (३) उसके ऊपर छत्तीस हजार योजन परिमाण तीसरा भाग है। उस मेरुपर्वत पर चार वनखण्ड हैं (१) जमीन पर भद्रशालवन। (२) जमीन से पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नन्दनवन (३) नन्दनवन से बासठ हजार पाँच सौ (६२५००) योजन की ऊँचाई पर सौमनसवन है (४) सौमनसवन से छत्तीस हजार योजन पर पाण्डुकवन है।

पाण्डुकवन की चारों दिशाओं में चार शिलाएँ हैं। जहाँ जिनेश्वर भगवन्तों का जन्म महोत्सव होता है। इस वन के मध्य में शिखा समान रत्नमय चूलिका (पर्वत की चोटी) है।

तं पुण लवणो दुगुणेण वित्थडो सव्वओ परिक्खिवइ ।
तं पुण धायइसंडो तद्दुगुणो तं च कालोओ ।।१८६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ — उस जम्बूद्वीप को सब तरफ से घेरे हुए, दुगुने विस्तार वाला लवण समुद्र है। उससे दुगुना विस्तार वाला घातकी खण्ड है तथा उससे दुगुना विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है।

विवेचन— पूर्व गाथा में बताया कि जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है। उससे दुगुना अर्थात् दो लाख योजन परिमाण लवण समुद्र है। उससे दुगुना अर्थात् चार लाख योजन परिमाण घातकी खण्ड है। उससे दुगुना अर्थात् आठ लाख योजन विस्तार परिमाण कालोदधि समुद्र है।

लवण समुद्र का पानी खारा है तथा कालोदधि समुद्र का पानी शुद्ध पानी के स्वाद वाला है।

पुष्करार्ध द्वीप

तं पुण पुक्खर दीवो तम्मज्झे माणुसोत्तरो सेलो ।

एतावं नरलोओ बाहिं तिरिया य देवा य ।।१८७।।

गाथार्थ— उसके बाद पुष्कर द्वीप है। उन दोनों पुष्कर द्वीपों के मध्य मानुषोत्तर पर्वत है। यहाँ तक (अढ़ाई द्वीप तक) मनुष्य लोक है। उसके आगे तिर्यञ्च तथा देव हैं।

विवेचन — कालोदधि समुद्र से पुष्कर द्वीप दुगुना अर्थात् सोलह लाख योजन विस्तार वाला है। इनके मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है। इस द्वीप तक ही मनुष्य का जन्म, मरण व निवास है। मनुष्यलोक से बाहर मनुष्य का जन्म एवं मरण नहीं होता। देव तथा तिर्यञ्च मनुष्यलोक से भी बाहर पाये जाते हैं। अब आगे के द्वीप-समुद्रों का वर्णन करते हैं।

असंख्य द्वीप-समुद्र

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थरा असंखेज्जा ।

एवं तु तिरियलोगो सयंभुरमणोदही जाव ।।१८८।।

गाथार्थ— इस प्रकार द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीपसमुद्र स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त हैं। यह तिर्यग् लोक का वर्णन हुआ।

विवेचन— अनुक्रम से सारे ही द्वीप-समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। पुष्कर द्वीप के बाद उससे दुगुने परिमाण तथा शुद्ध पानी के स्वाद वाला पुष्कर समुद्र है। उसके बाद वरुणवर द्वीप एवं वारुणी समुद्र मदिरा के स्वाद वाला है। उसके बाद क्षीरवर द्वीप एवं क्षीर समुद्र क्षीर (दूध) के स्वाद वाला है। उसके बाद घृतवर द्वीप एवं घृत समुद्र है उसके पानी का स्वाद घी के समान है। इससे आगे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इक्षुवर द्वीप एवं इक्षु समुद्र है उसका जल इक्षु रस के स्वाद वाला है। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र को छोड़कर शेष सभी समुद्रों का पानी इक्षु रस के तुल्य है।

द्वीपों के नाम इस प्रकार हैं— इक्षुवर द्वीप के बाद नन्दीश्वर, अरुणवर, अरुणावास, कुण्डलवर, शंखवर, रुचकवर। अनुयोगद्वारचूर्णि में तेरहवां द्वीप रुचकवर बताया गया है। रुचकवर द्वीप के बाद असंख्य द्वीप समुद्र के बाद भुजंगवर नाम का द्वीप है। फिर असंख्य द्वीप-समुद्र के बाद कुशवर नामक द्वीप है। उसके बाद फिर असंख्यद्वीप समुद्र के बाद क्रौंचवर द्वीप है। अन्तिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है।

समयसागर नामक ग्रन्थ में कहा गया है— हे भगवन् ! द्वीप-समुद्रों में कितने नाम कहे हैं? हे गौतम ! लोक में जितने शुभनाम, शुभ रूप, शुभ गंध, शुभ रस, शुभ स्पर्श हैं उतने ही द्वीप समुद्रों के नाम जानना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्र ३/७ में भी "जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः" कहा है। अब आगे अधोलोक का वर्णन करते हैं।

क्या रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ स्पर्शनीय हैं? इन पृथ्वियों का परिमाण कितना है? ये पृथ्वियाँ अन्तराल वाली है या बिना अन्तराल वाली हैं? नीचे की पृथ्वी ऊपर की पृथ्वी से अधिक विस्तार वाली है या समान विस्तार वाली है? आगे इन्हीं प्रश्नों का समाधान किया गया है—

तिरियं लोगायामं पमाण हेट्ठा उ सव्वपुढवीणं ।

आगासंतरियाओ विच्छिन्नयराउ हेट्ठेट्ठा ।।१८९।।

गाथार्थ—नीचे की रत्नप्रभादि सभी पृथ्वियों का विस्तार तिर्यक् (मध्य) लोक के आयाम जितना है। समस्त पृथ्वियों के बीच में आकाश रूपी अन्तराल है तथा वे एक-एक के नीचे-नीचे स्थित है और अधिक-अधिक विस्तार वाली है।

विवेचन— पूर्वगाथा में मध्यलोक की बात कही। अब अधोलोक की चर्चा की जा रही है—

मध्यलोक के बाद नीचे-नीचे उसके समान विस्तार वाली सात पृथ्वियाँ (नरक) हैं। ये सातों पृथ्वियाँ असंख्यात हजार योजन विस्तार वाले आकाश-खण्ड से परस्पर एक-दूसरे से अलग हैं। इस प्रकार रत्नप्रभा के बाद असंख्यात योजन विस्तार वाले आकाश-खण्ड के बाद शर्कराप्रभा पृथ्वी है। उस शर्कराप्रभा के नीचे बालुकाप्रभा है। इसी क्रम से छठी पृथ्वी के नीचे असंख्यात हजार योजन विस्तार वाले आकाश के अन्तराल के पश्चात् सातवीं पृथ्वी तमस्तम-प्रभा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीचे-नीचे ये पृथ्वियाँ विस्तार वाली जानना क्योंकि लोक अनुक्रम से विस्तार वाला है, किन्तु यह विस्तार लोक की अपेक्षा है, नारकीय जीवों के निवास क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि नारकी जीवों का निवास क्षेत्र तो त्रसनाल ही है और उसका विस्तार तो मध्यलोक जितना ही है।

आगम में भगवान् से प्रश्न किया है— हे भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी और शर्कराप्रभा पृथ्वी का अबाधा अन्तर कितना कहा गया है?

उत्तर— हे गौतम ! असंख्य हजार योजन का अबाधा अन्तर कहा गया है।

प्रश्न— भगवन् ! शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा का अबाधा अन्तर कितना कहा गया है?

उत्तर— हे गौतम ! यह भी पूर्ववत् ही है। इसे सप्तम पृथ्वी पर्यन्त ऐसा ही जानना चाहिये।

प्रश्न— हे भगवन् ! सप्तम नरक और अलोक का अबाधा अन्तर कितना कहा गया है ?

उत्तर— हे गौतम ! असंख्य हजार योजन का अबाधा अन्तर कहा गया है।

— गणितानुयोग १/८९।

इस प्रकार अधोलोक में स्पर्शनीय पदार्थों का निरूपण किया अब ऊर्ध्वलोक के स्वरूप का बिवेचन करेंगे—

ऊर्ध्वलोक

उड्ढं पएसवुड्ढी निद्दिट्ठा जाव बंभलोगोत्ति।

अद्धुट्ठा खलु रज्जू तेण परं होइ परिहाणी ।।१९०।।

गाथार्थ—ऊर्ध्वलोक में ब्रह्म देवलोक तक साढ़े तीन रज्जु परिमाण क्षेत्र तक लोक के विस्तार में वृद्धि होती है, उसके बाद क्रमशः कमी होती जाती है।

विवेचन—मध्यलोक से ऊपर की ओर सौधर्म देवलोक से ब्रह्म देवलोक तक के साढ़े तीन रज्जु क्षेत्र में लोक की चौड़ाई में वृद्धि होती जाती है तथा उसके बाद क्रमशः चौड़ाई में कमी होती जाती है।

नोट — यहाँ चौड़ाई में वृद्धि एवं हानि की चर्चा लोक संस्थान की अपेक्षा से की गई है, न कि देवों के निवास क्षेत्र की अपेक्षा से। अग्रिम गाथा में देवलोक की ऊँचाई की चर्चा की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईसाणम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे ।

पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ।।१९१।।

गाथार्थ— लोक की ऊँचाई मध्य लोक से ईशान देवलोक तक डेढ़ रज्जु, माहेन्द्र देवलोक तक ढाई रज्जु, सहस्रार देवलोक तक पाँच रज्जु, अच्युत तक छः रज्जु तथा लोकान्त तक सात रज्जु हैं।

विवेचन— यहाँ मध्यलोक से देवलोकों की ऊँचाई का परिमाण बताया गया है।

अग्रिम गाथाओं में जीव लोक का किस प्रकार स्पर्श करता है? इस विषय को स्पष्ट करने हेतु समुद्घात की चर्चा की गई है।

२. स्पर्शक्

समुद्घात

वेयण कसाय मरणे वेउव्विय तेयए य आहारे ।

केवलियसमुग्घाए सत्त य मणुएसु नायव्वा ।। १९२।।

गाथार्थ— वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस्, आहारक और केवली ये सात समुद्घात मनुष्यों में जानना चाहिये।

समुद्घात— मूल शरीर को छोड़े बिना आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालने को समुद्घात कहते हैं। तेजस् तथा कार्मण शरीर साथ-साथ रहते हैं। उनका मूल शरीर को छोड़े बिना, उत्तर देह के साथ-साथ, आत्म-प्रदेशों सहित वाहर निकलना समुद्घात कहलाता है।

समुद्घात शब्द तीन पदों की संयोजना से बना है— सम्+उत्+घात। वेदना आदि के साथ एकाकार (लीन या संमिश्रित) हुए कालान्तर में उदय में आने वाले (आत्मा से सम्बद्ध) वेदनीयादि कर्मों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर प्रबलतापूर्वक घात करना या उनकी निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है।

आत्मा समुद्घात क्यों करता है ?

जैसे किसी पक्षी के पंख पर बहुत धूल चढ़ गयी हो, तब वह पक्षी अपने पंख फैलाकर, फड़फड़ाकर धूल को झाड़ देता है। इसी प्रकार यह आत्मा बद्ध कर्म पुद्गल (कर्मवर्गणाओं) को झाड़ने (निर्जरित करने) के लिए समुद्घात नामक क्रिया करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. वेदना समुद्घात

संवेदन के हेतु होने वाला समुद्घात वेदना समुद्घात कहलाता है। यह असातावेदनीय कर्मों को लेकर होता है। जीव वेदना से आकुल-व्याकुल होकर (अनन्तानन्त असाता वेदनीय कर्म स्कन्धों से व्याप्त अपने) आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है। वे प्रदेश मुख्य, उदर आदि के छिद्रों में तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालों में भरे रहते हैं और लम्बाई-चौड़ाई की अपेक्षा से शरीर परिमित क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। जीव एक मुहूर्त तक इस अवस्था में ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त मे वह असातावेदनीय कर्म के प्रचुर पुद्गलों को उदीरणा से खींचकर, उदयावलिका में प्रविष्ट करके वेदता है और फिर उन्हें निर्जरित कर देता है। इस क्रिया का नाम वेदना समुद्घात है।

२. कषाय समुद्घात

क्रोधादि कषाय रूप मोहनीय कर्म आश्रित समुद्घात को कषाय समुद्घात कहते हैं। क्रोधादि तीव्र कषाय के उदय से ग्रस्त जीव जब अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर फैलाकर तथा उनसे मुख, पेट, कंर्ण आदि के छिद्रों तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालों को भरकर परिमित क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, उस समय में प्रचुर कषाय-पुद्गलों की निर्जरा कर लेता है। यही क्रिया कषाय समुद्घात है।

३. मारणान्तिक समुद्घात

मरणकाल में अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर आयुष्यकर्म का समुद्घात मारणान्तिक समुद्घात कहलाता है। मृत्यु के समय कोई जीव अन्तर्मुहूर्त पूर्व स्वयं के शरीर परिमाण चौड़ाई जितने तथा जघन्य रूप से अंगुली के असंख्यातवें भाग जितने लम्बाई के और उत्कृष्ट रूप से असंख्यात योजन जितने स्वयं के आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है। निकालने के बाद अगले भव में जहाँ उत्पन्न होना है वहाँ उस स्थान पर वह अपने आत्म-प्रदेशों को दण्ड रूप से फेंकता है। ऋजु गति से तो एक समय में ही उस स्थान तक दण्ड रूप बना लेता है और विग्रहगति से अधिकतम चार समय लगाता है। यह मारणांतिक समुद्घात अन्तर्मुहूर्त परिमाण ही है। इतने समय में जीव आयुकर्म के प्रभूत पुद्गलों को निर्जरित कर लेता है। इस क्रिया को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

४. वैक्रिय समुद्घात

वैक्रिय शरीर का निर्माण करने हेतु विक्रिया शक्ति के प्रयोग द्वारा वैक्रिय शरीरनामकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को वैक्रिय-समुद्घात कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैक्रिय लब्धि वाला जीव अपने जीर्ण प्रायः शरीर को पुष्ट एवं सुन्दर बनाने की या उसकी विकुर्वणा करने की इच्छा से अपने आत्म-प्रदेशों को दण्ड के आकार में बाहर निकालता है। उस दण्ड की चौड़ाई और मोटाई तो शरीर परिमाण होती है, किन्तु लम्बाई संख्यात योजन परिमाण हो सकती है। वह आत्म-प्रदेशों से ऐसा शरीर बनाकर अन्तर्मुहूर्त तक उसमें टिकता है। उतने समय में पूर्वबद्ध वैक्रिय शरीर नामकर्म के स्थूल पुद्गलों को निर्जरित कर देता है और अन्य नये तथा सूक्ष्म पुद्गलों का ग्रहण कर लेता है। यही वैक्रिय समुद्घात है।

५. तेजस् समुद्घात

तपस्वियों को प्राप्त होने वाली तेजोलेश्या का औदारिक शरीर से बाहर निकलना तेजस् समुद्घात होता है। जिसके प्रभाव से तेजस् शरीर नाम कर्म के पुद्गल आत्मा से अलग होकर बिखर जाते हैं। तेजोलेश्या की लब्धिवाला जीव सात आठ कदम पीछे हटकर घेरे और मोटाई से शरीर परिमाण एवं लम्बाई से संख्येय योजन परिमाण आत्म-प्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर, जिसके प्रति क्रुद्ध हुआ है, उसको जलाकर तेजस् शरीर नाम कर्म के बहुत से पुद्गलों का क्षय करता है, इसे ही तेजस् समुद्घात कहते हैं।

६. आहारक समुद्घात

यह शरीर चतुर्दशपूर्वधारी साधु के होता है। आहारक शरीर की रचना द्वारा होने वाला समुद्घात आहारक समुद्घात कहलाता है। आहारक लब्धिधारी साधु आहारक शरीर निर्माण की इच्छा से चौड़ाई और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण अपने आत्म-प्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर पूर्वबद्ध आहारक नामकर्म के कर्म पुद्गलों की निर्जरा कर लेता है इसे आहारक समुद्घात कहते हैं।

७. केवली समुद्घात

अन्तर्मुहूर्त में मोक्षप्राप्त करने वाले केवली भगवान् के समुद्घात को केवली समुद्घात कहते हैं। वह वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को विषय करता है। अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी अपने तीन अघाती कर्म (वेदनीय, नाम एवं गोत्र) की स्थिति आयु कर्म के बराबर करने के लिए यह समुद्घात करते हैं। इसमें आठ समय लगते हैं।

केवलीसमुद्घात (काल) का विशेष विवेचन गाथा १९४ की व्याख्या में किया गया है, इच्छुक पांठक उसे वहाँ देखें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समुद्घात यन्त्र

क्रम	समुद्घात का नाम	किसको	कितना समय	किस कर्म के कारण	परिणाम
१.	वेदना	सर्वछद्मस्थ जीवों को	अन्तर्मुहूर्त	असातावेदनीय कर्म के कारण से।	असातावेदनीय कर्म वर्गणाओं की निर्जरा
२.	कषाय	सर्वछद्मस्थ जीवों को	अन्तर्मुहूर्त	चारित्र मोहनीय कर्म के कारण	चारित्र मोहकर्म की कर्म वर्गणाओं की निर्जरा
३.	मारणान्तिकी	सर्वछद्मस्थ जीवों को	अन्तर्मुहूर्त	आयुष्यकर्म के कारण	आयुष्यकर्म की निर्जरा
४.	वैक्रिय	नारकी, चारों प्रकार के देवों, तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय एवं छद्मस्थ मनुष्यों को	अन्तर्मुहूर्त	वैक्रिय शरीर नामकर्म के कारण	वैक्रिय शरीर नामकर्म के पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलों की निर्जरा तथा नवीन कर्म पुद्गलों का ग्रहण।
५.	तैजस्	व्यन्तरदेव, ज्योतिष्क देव नारकी, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों एवं छद्मस्थ मनुष्यों को	अन्तर्मुहूर्त	तैजस शरीर नामकर्म के कारण	तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा।
६.	आहारक	चतुर्दश पूर्वधर मनुष्यों को	अन्तर्मुहूर्त	आहारक शरीर नामकर्म के कारण	आहारक शरीर नामकर्म के कर्म पुद्गलों की निर्जरा।
७.	केवली	केवलज्ञानी मनुष्यों को	आठ समय	आयुष्यकर्म के अतिरिक्त तीन अघाती कर्मों के कारण।	आयुष्यकर्म के अतिरिक्त शेष तीन अघाती कर्म वर्गणाओं की निर्जरा।

(व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसमें कितने समुद्घात ?

पज्जत्तबायरानिल नेरइएसु य हवंति चत्तारि ।
पंचसुरतिरियपंचिंदिएसु सेसेसु तिगमेव ।।१९३।।

गाथार्थ— पर्याप्त बादर वायुकाय तथा नारकी जीवों में चार समुद्घात होते हैं। देवता तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में पाँच समुद्घात तथा शेष सभी में तीन समुद्घात होते हैं।

विवेचन— वैक्रिय करणलब्धि सम्पन्न पर्याप्त बादर वायुकाय तथा नारकी जीवों में १. वेदना, २. कषाय, ३. मरण तथा ४. वैक्रिय — ये चार समुद्घात सम्भव हैं। देवता तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में तेजस् लब्धि होने के कारण पाँच समुद्घात सम्भव हैं। शेष अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च में तीन समुद्घात सम्भव होते हैं।

समुद्घात का काल

दंड कवाडे रुयए लोए चउरो य पडिनियत्तंते ।
केवलिय अट्ठसमए भिन्नमुहुत्तं भवे सेसा ।।१९४।।

गाथार्थ— केवली समुद्घात में दंड, कपाट, रुचक और लोकरूप आकार ग्रहण करने में चार समय लगते हैं तथा चार समय में वे आत्म-प्रदेश पुनः स्वस्थान पर लौट आते हैं। इस प्रकार केवली समुद्घात आठ समय का होता है। शेष समुद्घातों का अन्तर्मुहूर्त काल परिमाण जानना चाहिये।

केवली-समुद्घात के प्रथम समय में दण्ड, दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में रुचक अर्थात् मथानी का आकार देकर तथा चौथे समय में सम्पूर्ण लोक को आत्म-प्रदेश से पूरित किया जाता हैं तथा पुनः समुद्घात का संहरण करने में चार समय लगते हैं। इस प्रकार इसका काल आठ समय है। शेष सभी समुद्घातों का समय अन्तर्मुहूर्त परिमाण हैं।

गुणस्थानों में स्पर्शना

मिच्छेहिं सव्वलोओ सासणमिस्सेहिं अव्वयदेसेहिं ।
पुट्ठा चउदसभागा बारस अट्ठऽट्ठ छच्चेव ।।१९५।।

गाथार्थ— चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों में से— मिथ्यादृष्टि सर्वलोक का और सास्वादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत सम्यग्दृष्टि लोक के चौदह भाग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(रज्जु) परिमाण क्षेत्र में से क्रमशः बारह, आठ, आठ तथा छः भाग परिमाण क्षेत्र को स्पर्शित करते हैं।

विवेचन—१. मिथ्यादृष्टि—सूक्ष्म एकेन्द्रिय सर्वलोक में व्याप्त होने से ऐसा कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि सम्पूर्ण लोक अर्थात् चौदह परिमाण क्षेत्र को स्पर्शित करते हैं।

२. सास्वादन—सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव बारह रज्जु परिमाण क्षेत्र को स्पर्शित करता है। वह इस प्रकार है— जब छठी नरक का जीव मध्यलोक में जन्म लेता है तब वह (छठी नरक से मध्यलोक तक) पाँच रज्जु क्षेत्र का स्पर्श करता है तथा जब मध्य लोक से मनुष्य या तिर्यञ्च लोकान्त या ईषत् प्राग्भार पृथ्वी पर पृथ्वीकाय आदि के रूप में जन्म लेता है तब वह सात रज्जु परिमाण क्षेत्र का स्पर्श करता है।

यह स्पर्शना सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा से हैं, एक जीव की अपेक्षा से नहीं है। सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव अधोलोक में नहीं जाता।

३. मिश्रदृष्टि —तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव चौदह रज्जु में से आठ रज्जु का स्पर्श करता है। इसमें एक ही जीव आठ रज्जु परिमाण क्षेत्र को स्पर्श करता है। वह इस प्रकार है— जब कोई अच्युतदेवलोकवासी मिश्रदृष्टि जीव अपने भवनपति मित्र को स्नेह से अच्युत देवलोक ले जाये तब उसे छः रज्जु की स्पर्शना होती है। इसी प्रकार जब कोई मिश्रदृष्टि सहस्रार (पाँच रज्जु) देवलोक वाला देव अपने मित्र (नारकी जीव) की वेदना शान्त करने हेतु तीसरी नरक (तीन रज्जु) में जाता है तब वह मिश्रदृष्टि आठ रज्जु क्षेत्र का स्पर्श करता है। इससे ऊपर के देव अल्प स्नेह वाले होने से मित्र की पीड़ा शमनार्थ नीचे नहीं आते।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि—यह भी पूर्वोक्त अनुसार आठ रज्जु क्षेत्र की स्पर्शना करता है। किन्तु प्रज्ञप्तिकार के अनुसार अविरतसम्यग्दृष्टि बारह रज्जु परिमाण क्षेत्र की स्पर्शना करता है। वह इस प्रकार— मध्यलोक से अनुत्तर विमान में जन्म लेने वाले या वहाँ से च्युत होकर मध्यलोक में जन्म लेने वाले जीव सात रज्जु परिमाणक्षेत्र का स्पर्श करते हैं तथा मध्यलोक से छठी नरक एवं छठी नरक से मध्यलोक में जन्म लेने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि पाँच रज्जुक्षेत्र की स्पर्शना करते हैं। इस प्रकार ऊपर में अनुत्तर विमान तक तथा नीचे मे छठी नरक तक जाने के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों को बारह रज्जु परिमाण क्षेत्र का स्पर्श होता है। सातवीं नरक में सम्यक्त्व सहित जाने एवं सम्यक्त्व सहित आने का प्रज्ञप्ति में निषेध किया है अतः छठी नरक तक मानना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. **देशविरति—** देशविरति गुणस्थानवर्ती जीव यहाँ से मरकर अच्युत देवलोक में जन्म लेने के कारण छः रज्जु परिमाण क्षेत्र की स्पर्शना करता है।

प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में स्पर्शना

संसेहऽसंखभागो फुसिओ लोगो सजोगिकेवलिहिं ।
एगाईओ भागो बीयाइसु णरगपुढवीसु ।।१९६।।

गाथार्थ— शेष प्रमतसंयत आदि गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग का ही स्पर्श करते हैं, किन्तु सयोगी केवली सम्पूर्ण लोक का स्पर्श केवली समुद्घात की अपेक्षा से करते हैं। नरक आदि की दूसरी पृथ्वी में एक रज्जु (तीसरी में दो रज्जु— इस प्रकार क्रमशः सातवीं पृथ्वी में छः रज्जु) की स्पर्शना जानना चाहिये।

प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती शेष सभी जीव लोक के असंख्यातवें भाग का ही स्पर्श करते हैं, क्योंकि ये जीव विग्रहगति में संयमभाव को छोड़कर असंयमभाव को स्वीकार करते हैं। सयोगी केवली समुद्घात के चौथे समय में सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं।

नरक गति में स्पर्शना

नरक आदि में "एकाधिकः" शब्द से दो, तीन, चार, पाँच और छः रज्जु क्षेत्र ग्रहण करना चाहिए। लोक का चौदहवाँ अंशरूप भाग एक रज्जु के समतुल्य होता है।

अब यदि कोई जीव दूसरी नरक से आता है या उसमें जाता है तो मध्यलोक से दूसरी नरक तक पहुँचने में वह एक रज्जु परिमाण क्षेत्र का स्पर्श करता है। ऐसे ही तीसरी नरक से आने वाला या उसमें जाने वाला दो रज्जु का, चौथी नरक वाला तीन रज्जु का, पाँचवी नरक वाला चार रज्जु का, छठीं नरक वाला पाँच रज्जु का तथा सावतीं नरक वाला छः रज्जु परिमाण क्षेत्र का स्पर्श करता है।

देवगति में स्पर्शना

ईसाणंता मिच्छा सासण नव मिस्स अविरया अट्ठ ।
अट्ठ सहस्सारंतिय छऽच्चुयाऽसंखभागुप्पि ।।१९७।।

गाथार्थ— भवनपति से लेकर ईशान देवलोक तक के देव जो मिथ्यादृष्टि तथा सास्वादन गुणस्थानवर्ती होते हैं वे नवरज्जु की स्पर्शना करते हैं। मिश्रदृष्टि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा अवरित सम्यग्दृष्टि आठ रज्जु की स्पर्शना करते हैं। सहस्रार तक के देव आठ रज्जु की, अच्युत तक के देव छः रज्जु की तथा अच्युत से ऊपर वाले देवलोक के असंख्यातवें भाग की स्पर्शना करते हैं।

विवेचन— भवनपति आदि से लेकर ईशान देवलोक तक के देव मिथ्यादृष्टि तथा सास्वादानी देव नवरज्जु 'की स्पर्शना करते हैं। जब ये देव अपने मित्रादि के कारण तीसरी नरक में जाते हैं तब दो रज्जु का स्पर्श करते हैं और जब ये ईषत्प्राग्भार (सिद्ध शिला) आदि स्थान पर पृथ्वीकाय आदि में जन्म लेते हैं तो सात रज्जु का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर नौ रज्जु का स्पर्श करते हैं।

सौधर्मादि देवलोक के देव भी मिथ्यात्व तथा सास्वादन गुणस्थान की उपस्थिति में तीसरी नरक पृथ्वी तक जाने के कारण साढ़े तीन रज्जु का तथा ऊपर ईषत्प्राग्भार तक पृथ्वीकाय आदि में जाने के कारण साढ़े पाँच रज्जु का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार कुल नौ रज्जु का स्पर्श करते हैं।

भवनपति से ईशान तक के मिश्र तथा सम्यग्दृष्टि जीव आठ रज्जु का स्पर्श करते हैं। यह आठ रज्जु नीचे में तीन नरक तथा ऊपर में अच्युत देवलोक तक जानना। तीसरी नरक से अच्युत देवलोक आठ रज्जु परिमाण क्षेत्र है। सहस्रार के देव भी इन आठ रज्जु को ही स्पर्शित करते हैं। अच्युत देवलोक के देव तीर्थंकरादि को वंदना हेतु जाने से छः रज्जु का स्पर्श करते हैं। अल्पमोह के कारण वे तीसरी नरक में नहीं जाते हैं।

किन्तु सीत्येन्द्र देव (सीता का जीव) अच्युत देवलोक से रावण एवं लक्ष्मण के बैर के शमनार्थ तीसरी नरक में गये थे, यह अपवाद ही है।

तिर्यञ्च एवं मनुष्य गति की स्पर्शना

नरतिरिएहिं य लोगो सत्तासाणेहि छऽजयगिहीहिं ।

मिस्सेहऽसंखभागो विगलिंदीहिं तु सव्वजगं ।।१९८।।

गाथार्थ— मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं। इनमें सास्वादनी सात रज्जु का, अविरत सम्यक्त्वी और देशविरत छः रज्जु का, मिश्रदृष्टि लोक के असंख्य भाग का तथा विकलेन्द्रिय सम्पूर्ण लोक का स्पर्शन् करते हैं।

विवेचन— केवली समुद्घात की अपेक्षा से मनुष्य तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अपेक्षा से तिर्यञ्च सर्वलोक को स्पर्शित करते हैं।

सास्वादन, तिर्यञ्च तथा मनुष्य ईषत्प्राग्भार पृथ्वी में उत्पन्न होने से सात रज्जू का स्पर्श करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरत सम्यक्त्वी तथा देशविरत मध्यलोक से अच्युतदेवलोक में जन्म लेने से छः रज्जु का स्पर्श करते हैं। मिश्रदृष्टि तिर्यञ्च या मिश्रदृष्टि मनुष्य का मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होने से वे अपने ही स्थान में लोक के असंख्यातवें भाग का ही स्पर्श करते हैं।

विकलेन्द्रिय उत्पाद और समुद्घात अवस्था में सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं। इसे प्रज्ञापनाकार ने भी स्वीकार किया है।

बायरपज्जत्तावि व सयला वियला य समुहउववाए।

सव्वं फोसंति जगं अह एवं फोसणाणुगमो ।।१९९।।

गाथार्थ—बादरपर्याप्त, सकलेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय समुद्घात या उपघात अवस्था में सम्पूर्ण लोक को स्पर्शित करते हैं। इस प्रकार स्पर्शना-द्वार जानना चाहिए।

विवेचन—पृथ्वीकाय आदि बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियों वाले पञ्चेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय समुद्घात अवस्था में या विग्रहगति रूप उपपात अवस्था में सर्वलोक का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार जीव से सम्बन्धित लोक स्पर्शना द्वार को जानना चाहिये।

अजीव द्रव्य की लोक स्पर्शना

आइदुगं लोगफुडं गयणमणागाढमेव सव्वगयं ।

कालो नरलोग फुडो पोग्गल पुण सव्वलोगफुडा ।।२००।।

स्पर्शनाद्वारं४।

गाथार्थ—प्रथम दो द्रव्य लोक का स्पर्श करके रहते हैं। आकाश द्रव्य किसी को अवगाहन करके नहीं रहता पर वह सर्वलोक में है। व्यवहार काल मनुष्य लोक में व्याप्त है, किन्तु पुद्गल सर्वलोक का स्पर्श करते हैं अर्थात् उससे व्याप्त हैं।

विवेचन—पाँच अजीव द्रव्य में से धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करके रहते हैं। आकाश अनवगाढ है अर्थात् सभी द्रव्य (जीव-अजीव) आकाश के आश्रित हैं परन्तु आकाश किसी के आश्रित नहीं। आकाश लोकालोक में है।

व्यवहार काल का वर्तन अढाई द्वीप अर्थात् मनुष्य लोक में है तथा पुद्गल सर्वलोकाकाश में व्याप्त है।

चौथा स्पर्शन्-द्वार समाप्त

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काल-द्वार

काल के प्रकार

कालो भवाउकायट्ठिई य तह गुणविभागकालं च ।

वोच्छामि एक्कजीवं नाणाजीवे पडुच्चा य ।।२०१।।

गाथार्थ— काल के तीन प्रकार है— १. भवायुकाल, २. कायस्थितिकाल तथा ३. गुणविभागकाल। आगे इस प्रकार के काल के तीनों विभागों का एकजीवाश्रित तथा अनेकजीवाश्रित— इन दो अपेक्षाओं से विवेचन करेंगे।

विवेचन— "काल" की चर्चा पूर्व में **विभाग २** के 'परिमाणद्वार' में काल परिमाण के अन्तर्गत की जा चुकी है। वहाँ काल का परिमाण एक समय से लेकर अनन्त उत्पसर्पिणी और अवसर्पिणीकाल तक बताया गया है।

किन्तु यहाँ कालद्वार में १. भवायुकाल, २. कायस्थितिकाल तथा ३. गुणविभागकाल— ऐसे काल के तीन विभागों की चर्चा की जायेगी।

१. भवायुकाल— प्राणी के एक भव से सम्बन्धित आयु को भवायुकाल कहा गया है।

२. कायस्थितिकाल— प्राणी का पुनः-पुनः उसी काया में जन्म लेना कायस्थितिकाल कहा गया है, यथा— पृथ्वीकाय के रूप में मरकर पुनः-पुनः पृथ्वीकाय में जन्म लेने के काल को कायस्थितिकाल कहा गया है।

३. गुणविभागकाल— यहाँ गुण का तात्पर्य गुणस्थान है। प्रत्येक गुणस्थान में जीव जितने काल तक रहता है या रह सकता है, वह काल गुणविभागकाल कहलाता है।

१. भवायुकाल

नारकी की उत्कृष्ट आयु

एगं च तिण्णि सत्त य दस सत्तरसेव हुंति बावीसा।

तेत्तीस उयहिनामा पुढवीसु ठिई कमुक्कोसा ।।२०२।।

गाथार्थ— एक, तीन, सात, दस, सतरह, बाईस तथा तैतीस सागरोपम क्रमशः सातों पृथ्वियों की उत्कृष्ट भवायुकाल जानना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— १. रत्नप्रभा की एक सागरोपम, २. शर्कराप्रभा की तीन सागरोपम, ३. बालुकाप्रभा की सात सागरोपम, ४. पंकप्रभा की दस सागरोपम, ५. धूमप्रभा की सतरह सागरोपम, ६. तमप्रभा की बाईस सागरोपम तथा ७. तमस्तमप्रभा की तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट भवायु स्थिति जानना चाहिए। यह काल एक भव की अपेक्षा से है।

नारकी तथा देवों की जघन्यायु

पढमादि जमुक्कोसं बीयादिसु सा जहण्णिया होइ।

घम्माए भवणवंतर वाससहस्सा दस जहण्णा ।।२०३।।

गाथार्थ—प्रथम आदि नरक की जो उत्कृष्ट आयुस्थिति है वही दूसरी आदि नरकों की जघन्य आयुस्थिति होती है। घम्मा नामक प्रथम नरक और भवनपति तथा व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

विवेचन— प्रथम नरक की उत्कृष्ट आयु ही दूसरी नरक की जघन्य आयु है। अर्थात् प्रथम नरक की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है यही दूसरी नरक की जघन्य आयु है। दूसरे नरक की उत्कृष्ट भवायु तीन सागरोपम की है, यही तीसरे नरक की जघन्य आयु है। इसी क्रम से चौथे नरक की सात, पाँचवें नरक की दस, छठे नरक की सतरह तथा सातवें नरक की बाईस सागरोपम जघन्य आयु है।

प्रथम नरक के नारकों और भवनपति तथा व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

देवों की उत्कृष्ट आयु

असुरेसु सागरमहियं सड्ढं पल्लं दुवे य देसूणा।

नागाईणुक्कोसा पल्लो पुण वंतरसुराणं ।।२०४।।

गाथार्थ—दक्षिण दिशा के असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम तथा उत्तर दिशा के असुरकुमारों की एक सागरोपम से कुछ अधिक होती है। दक्षिण दिशा के नागकुमारों की डेढ़ पल्योपम तथा उत्तर दिशा के नागकुमारों की दो पल्योपम से कुछ कम उत्कृष्ट आयु है। व्यन्तरदेवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम होती है।

विवेचन— भवनवासी देवों के १० प्रकार हैं— १. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. सुवर्णकुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६. द्वीपकुमार, ७. उदधिकुमार, ८. दिक्कुमार, ९. वायुकुमार एवं १०. स्तनित कुमार— ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी दो प्रकार के हैं मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा में रहने वाले तथा मेरुपर्वत की उत्तर दिशा में रहने वाले। दक्षिण दिशावासी असुरकुमार देवों के इन्द्र चमरेन्द्र की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है तथा दक्षिण दिशा के असुरकुमारों के देवों के इन्द्र बलीन्द्र की उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम से कुछ अधिक है।

अब चमरेन्द्र और बलीन्द्र के अतिरिक्त शेष नागकुमार आदि नवनिकाय के देवों की अर्थात् उनके अधिपति इन्द्र की आयु बताते हैं।

दक्षिण दिशा के नागकुमार आदि नवनिकायों के अधिपति धरण प्रमुख नौ इन्द्रों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्योपम की है तथा उत्तर दिशा के नागकुमार आदि नवनिकायों के अधिपति भूतानंद आदि नौ इन्द्रों की आयु कुछ कम दो पल्योपम है।

चमरेन्द्र की देवी की उत्कृष्ट आयु साढ़े तीन पल्योपम तथा बलीन्द्र की देवी की उत्कृष्ट आयु साढ़े चार पल्योपम है। उत्तरदिशावर्ती नागकुमारों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कुछ कम एक पल्योपम तथा दक्षिणदिशावर्ती नागकुमारों की देवियों तथा व्यन्तरदेवियों की उत्कृष्ट आयु आधा पल्योपम है। पिशाच, भूत, यक्ष आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देव एक पल्योपम की आयु वाले होते हैं। इन सभी की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है — (बृहद्संग्रहणी- गाथा ५)।

ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवताओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट आयु

पल्लट्ठभाग पल्लं च साहियं जोइसे जहण्णियरं।
हेट्ठिल्लुक्कोसठिई सक्काईणं जहण्णा सा ।।२०५।।

गाथार्थ—ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवां भाग है तथा उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है। सौधर्म आदि देवलोकों में नीचे के कल्प के देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वही ऊपर के देवों की जघन्य आयु होती है।

विवेचन—ज्योतिष्क देवों में सभी चन्द्रों, सूर्यों एवं नक्षत्रों के देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थांश तथा सभी तारागणों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग मानी गई है। चन्द्र की आयु १ पल्य एवं १ लाख वर्ष, सूर्य की आयु १ पल्य और १ हजार वर्ष, ग्रह की आयु १ पल्य और नक्षत्र की आयु आधा पल्य तथा तारागणों की एक पल्य का चतुर्थांश भाग उत्कृष्ट आयु होती है।

चन्द्रों, सूर्यों, ग्रहों तथा नक्षत्रों की देवयिों की जघन्य आयु पल्य का चौथा भाग होती है तथा तारागणों की देवियों की जघन्य आयु पल्य का आठवाँ भाग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है। चन्द्रों की देवियों की अर्धपल्य तथा पाँच हजार वर्ष, सूर्यों की देवियों की अर्धपल्य और पाँच सौ वर्ष, ग्रहों की देवियों की अर्धपल्य, नक्षत्र की देवियों की चतुर्थ पल्य से कुछ अधिक तथा तारागण की देवियों की पल्य के आठवें भाग से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु होती है। (बृहद् संग्रहणी - गाथा ७ से ११)।

सौधर्मादिक देवविमानों में नीचे के देवों की जो उत्कृष्ट आयु है, वही ऊपर के देवलोकों की जघन्य आयु होती है। इसी प्रकार सौधर्म देवलोक की दो सागरोपम की उत्कृष्ट आयु ऊपर के सनत्कुमार देवलोक की जघन्य आयु है। ईशान देवलोक की दो सागरोपम से कुछ अधिक की जो उत्कृष्ट आयु है, वही ऊपर के माहेन्द्र देवलोक की जघन्य आयु होती है।

वैमानिक देवों की आयु

दो साहि सत्त साहिय दस चउदस सत्तरेव अट्ठारा ।
एक्काहिया य एत्तो सक्काइसु सागरुवमाणा ।।२०६।।

गाथार्थ—देवलोकों में क्रमशः दो, दो से कुछ अधिक, सात, सात से कुछ अधिक, दस, चौदह, सतरह, अठारह फिर क्रमशः से एक-एक की वृद्धि पूर्वक सर्वार्थसिद्ध विमान तक तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिये।

सौधर्म आदि देवलोकों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु सम्बन्धी सारिणी

१२ देवलोक			९ ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान		
देवलोक	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	ग्रैवेयक	जघन्यायु	उत्कृष्टायु
			१ सुदर्शन	२२ सागरोपम	२३ सागरोपम
१ सौधर्म	१ पल्योपम	२ सागरोपम	२ सुप्रतिबद्ध	२३ सागरोपम	२३ सागरोपम
२ ईशान	१ पल्योपम से अधिक	२ सागरोपम से अधिक	३ मनोरम	२४ सागरोपम	२४ सागरोपम
३ सनत्कुमार	२ सागरोपम	७ सागरोपम	४ सर्वतोभद्र	२५ सागरोपम	२५ सागरोपम
४ माहेन्द्र	२ सागरोपम से अधिक	७ सागरोपम से अधिक	५ विशाल	२६ सागरोपम	२६ सागरोपम
५ ब्रह्म	७ सागरोपम	१० सागरोपम	६ सुमनस	२७ सागरोपम	२८ सागरोपम
६ लांतक	१० सागरोपम	१४ सागरोपम	७ सौमनस्य	२८ सागरोपम	२९ सागरोपम
७ महाशुक्र	१४ सागरोपम	१७ सागरोपम	८ प्रीतिकर	२९ सागरोपम	३० सागरोपम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२ देवलोक			९ ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान		
देवलोक	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	ग्रैवेयक	जघन्यायु	उत्कृष्टायु
८ महास्रार	१७ सागरोपम	१८ सागरोपम	९ आदित्य	३० सागरोपम	३१ सागरोपम
९ आनत	१८ सागरोपम	१९ सागरोपम	१ विजय	३१ सागरोपम	३२ सागरोपम
१० प्राणत	१९ सागरोपम	२० सागरोपम	२ वैजयन्त	३३ सागरोपम	३२ सागरोपम
११ आरण	२० सागरोपम	२१ सागरोपम	३ जयन्त	३१ "	३२ "
			४ अपराजित	३१ "	३२ "
१२ अच्युत	२१ सागरोपम	२२ सागरोपम	५सर्वार्थसिद्ध	३२ "	३३ "

सौधर्मदेवलोक की परिगृहिता देवियों की जघन्यायु १ पल्योपम तथा उत्कृष्टायु ७ पल्योपम तथा अपरिगृहिता देवियों की जघन्यायु १ पल्योपम तथा उत्कृष्टायु ५० पल्योपम होती है। इसी प्रकार ईशान देवलोक की परिगृहिता देवियों की जघन्यायु १ पल्योपम से अधिक तथा उत्कृष्टायु ९ पल्योपम तथा अपरिगृहिता देवियों की जघन्यायु १ पल्योपम से अधिक तथा उत्कृष्टायु ५५ पल्योपम होती है।

तिर्यंच की उत्कृष्टायु

बावीस सत्त तिन्नि य वास सहस्साणि दस य उक्कोसा ।

पुढविदगानिलपत्तेयतरुसु तेऊ तिरायं च ।।२०७।।

गाथार्थ— पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष, अप्काय की सात हजार वर्ष, वायुकाय की तीन हजार वर्ष, वनस्पति की दस हजार वर्ष तथा तेजस्काय की तीन अहोरात्रि उत्कृष्ट आयु होती है।

नोट — उपर्युक्त आयु बादरएकेन्द्रियजीवों की अपेक्षा से है।

बारस अउणापन्नं छप्पिय वासाणि दिवसमासा य ।

बेइंदियाइयाणं नरतिरियाणं तिपल्लं च ।।२०८।।

गाथार्थ— द्वीन्द्रिय की बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनपचास (४९) दिन चतुरिन्द्रिय की छः मास और मनुष्य तथा तिर्यञ्च की तीन पल्योपम उत्कृष्ट आयु होती है।

जलथलखहसंमुच्छिमपज्जत्तुक्कोस पुव्वकोडीओ ।

वरिसाणं चुलसीई बिसत्तरी चेव य सहस्सा ।।२०९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— जलचर, स्थलचर, खेचर तथा संमूर्च्छिम पर्याप्त की उत्कृष्टायु क्रमशः पूर्वकोटिवर्ष, चौरासी हजार वर्ष तथा बहत्तर हजार वर्ष है।

नोट— इस गाथा में सम्मूर्च्छिम अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना उत्पन्न होने वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की चर्चा की गई है। अब संयोग से उत्पन्न होने वाले गर्भज तिर्यञ्चों की आयु की चर्चा करेंगे।

तेसिं तु गब्भयाणं उक्कोसं होइ पुव्वकोड़ीओ ।

तिण्णि य पल्ला भणिया पल्लस्स असंखभागो उ ।।२१०।।

गाथार्थ— जलचर, थलचर, खेचर, गर्भज पर्याप्त की उत्कृष्ट आयु क्रमशः पूर्वकोटि वर्ष, तीन पल्योपम तथा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग होती है।

एएसिं च जहण्णं उभयं साहार सव्वसुहुमाणं ।

अंतोमुहुत्तमाऊ सव्वापज्जत्तयाणं च ।।२११।।

गाथार्थ— पूर्वगाथाओं में कहे गये सभी जीवों अर्थात् बादर-एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त परिमाण होती है, किन्तु सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों, साधारण वनस्पतिकाय के जीवों तथा सभी अपर्याप्त जीवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त परिमाण ही होती है।

विवेचन— इस प्रकार गाथा २०७ से लेकर २१० तक विभिन्न जीवों की उत्कृष्ट आयु बतायी गयी थी। अब इस गाथा में पूर्व गाथा में कथित सभी बादर जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त बतायी गयी है। किन्तु साधारण वनस्पतिकाय, पाँचों सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों तथा समस्त अपर्याप्त जीवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य— दोनों आयु अन्तर्मुहूर्त परिमाण बतलायी है।

सर्वजीवाश्रित आयु

एक्कगजीवाउठिई एसा बहुजीविया उ सव्वद्धं।

मणुयअपज्जत्ताणं असंखभागो उ पल्लस्सं ।।२१२।।

गाथार्थ— अभी तक एक जीवाश्रित आयु की स्थिति बताई गयी थी अब सर्वजीवाश्रित आयु का सर्वकाल जानना चाहिये। अपर्याप्त मनुष्य तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने ही होते हैं।

विवेचन— पूर्व गाथाओं में एक जीवाश्रित नारकों, देवों, मनुष्यों आदि की आयु बतायी गई थी। इस गाथा में सर्वजीव विषयक आयु बतायी गई। ऐसा कभी नहीं होता कि नरक नारकी जीवों से खाली हो जाये अर्थात् सारे नरक के जीव मरकर दूसरे स्थान पर पहुँच जाये। ऐसा ही देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि अन्य के विषय में भी समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याप्त मनुष्य तो सर्वकाल में होते हैं, किन्तु अपर्याप्त मनुष्य तो अधिकतम पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने काल में ही होते हैं। कभी-कभी बारह मुहूर्त तक कोई भी अपर्याप्त मनुष्य नहीं होता है, अर्थात् अपर्याप्त मनुष्य कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। शेष सभी अर्थात् नारक, तिर्यञ्च, देवता और पर्याप्त मनुष्य तो सभी कालों में होते ही हैं।

इस प्रकार एकजीवाश्रित तथा सर्वजीवाश्रित भवायु की चर्चा पूर्ण हुई।

(भवायुकाल सम्पूर्ण हुआ)

२. कायस्थितिकाल

एक्केक्कभवं सुरनारयाओ तिरिया अणंतभवकालं ।

पंचिंदियतिरियनरा सत्तट्ठभवा भवग्गहणे ।।२१३।।

गाथार्थ— देव तथा नारकों की कायस्थिति एक-एक भव की, तिर्यञ्च की अनन्त भव की तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य की सात-आठ भव की कायस्थिति जाननी चाहिये।

विवेचन— पुनः-पुनः उस ही काय में जन्म लेना कायस्थिति है। देव तथा नारक पुनः उस ही काय में जन्म नहीं लेते, अतः उनकी कायस्थिति एक ही भव की होती है।

तिर्यञ्च मरकर पुनः-पुनः तिर्यञ्च बन सकते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में कहा है— हे भगवन् ! तिर्यञ्च कितनी बार स्वयोनि में जन्म लेते हैं और कितने काल तक उसमें रह सकते हैं?

हे गौतम ! जघन्य से एक भव तथा उत्कृष्ट से अनन्त भव तथा काल से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल अर्थात् असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल तक तथा क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक में हो सकते हैं।

प्रश्न— पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च में तथा मनुष्य-मनुष्य में कितनी बार उत्पन्न हो सकते हैं? और कितने काल तक उसी योनि में रह सकते हैं।

उत्तर— भव की अपेक्षा से तिर्यञ्च तथा मनुष्य दोनों ही सात-आठ बार स्वकाय में जन्म ले सकते हैं तथा काल की अपेक्षा सात पूर्वकोटि और तीन पल्योपम जितने काल तक दोनों की स्वकाय स्थिति होती है।

एकेन्द्रियादि की कायस्थिति

एगिंदियहरियंति य पोग्गलपरियट्टया असंखेज्जा ।

अड्ढाइज्ज निओया असंखलोया पुढविमाई ।।२१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— वनस्पतिकाय तक के एकेन्द्रिय जीव असंख्यात पुद्‌गलपरावर्तन काल तक उसी काय में रह सकते हैं। निगोद के जीव अढ़ाई पुद्‌गल परावर्तन तक स्वकाय में रहते है, क्षेत्र की अपेक्षा पृथ्वीकाय आदि असंख्यलोक तक स्वक्षेत्र में रहते हैं।

विवेचन—हरितान्त अर्थात् जिसके अन्त में हरितकाय, वनस्पतिकाय आती हैं, ऐसे पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय अपनी स्वकाय में असंख्यात पुद्‌गल परावर्तन तक रहते हैं।

प्रज्ञापना में गौतम ने पूछा, हे प्रभु! एकेन्द्रिय जीव मरकर एकेन्द्रिय में कितने काल तक पैदा हो सकते हैं?

हे गौतम ! जघन्य से एक अन्तरर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से अनन्तकाल तक स्वकाय में उत्पन्न हो सकती हैं। काल की अपेक्षा से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक स्वकाय में रह सकती हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यात क्षेत्र परिमाण लोक में हो सकती हैं।

काल की अपेक्षा से निगोद जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी काल तक तथा क्षेत्र की अपेक्षा से ढ़ाई पुद्‌गल परावर्तन काल तक स्वक्षेत्र में जन्म-मरण कर सकते हैं। पृथ्वीकाय स्वकाय में काल की अपेक्षा से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक तथा क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यात लोकाकाश जितने प्रदेश में रह सकते हैं।

एकेन्द्रिय की कायस्थिति

कम्मठिइबायराणं सुहुमा अस्संखया भवे लोगा।

अंगुलअसंखभागो बायरएगिंदियतरूणं ।।२१५।।

गाथार्थ— बादर पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय तथा वायुकाय की कायस्थिति मोहनीय-कर्म जितनी अर्थात् सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम है। सूक्ष्म पृथ्वीकाय आदि की असंख्यात लोक परिमाण स्थिति है। बादर एकेन्द्रिय वनस्पति की कायस्थिति अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण है।

विवेचन— कर्मस्थिति से यहाँ उत्कृष्ट कर्मस्थिति ली गई है। उत्कृष्ट कर्मस्थिति मोहनीयकर्म की है अत: यहाँ कर्मस्थिति से तात्पर्य मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति से है। इस प्रकार पृथ्वी आदि चारों कार्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सत्तर कोटा-कोटी सागरोपम है। प्रज्ञापना में सूत्र १३०६ में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—हे भगवन् ! बादर पृथ्वीकाय, बादर पृथ्वीकाय में कितने समय तक रह सकती है? हे गौतम! जघन्य से अंतर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से सत्तर कोटा-कोटी सागरोपम काल तक। इसी प्रकार अप्‌काय, तेजस्काय तथा वायुकाय की कायस्थिति भी जाननी चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूक्ष्म नामकर्म के उदय वाले पृथ्वीकाय आदि के द्वारा बार-बार काय में जन्म-मरण करने के कारण उनकी कायस्थिति क्षेत्र अपेक्षा से असंख्यात लोक परिमाण है।

प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र १३००) में पूछा गया है— हे भगवन् ! सूक्ष्म जीव कितने काल तक सूक्ष्म रूप में रहता है? हे गौतम ! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक तथा क्षेत्र से असंख्यात लोक तक सूक्ष्मजीव सूक्ष्मपर्याय में बना रहता है।

पाँचों सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों तथा बादर पृथ्वीकाय आदि चार कायों की कायस्थिति बताइ अब स्थूल (बादर) वनस्पति की काय-स्थिति बताते हैं। प्रज्ञापना (सूत्र १३०८) में पूछा गया है कि— हे भगवन् ! बादर वनस्पतिकाय बादर रूप में कब तक होती है? हे गौतम ! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक तथा क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण क्षेत्र जानना चाहिए।

विकलेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय की कायस्थिति

वायरपज्जत्ताणं वियलसपज्जत्तइंदियाणं च ।

उक्कोसा कायठिइ वाससहस्सा उ संखेज्जा ।।२१६।।

गाथार्थ—बादर पर्याप्त विकलेन्द्रिय तथा पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यातसहस्रवर्ष जानना चाहिये।

विवेचन— बादर पर्याप्त विकलेन्द्रिय जीवों एवं पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यातसहस्रवर्ष की है। सामान्यत: बादर पर्याप्त जीवों की बादर पर्याप्त में पुन:-पुन: जन्म होने से उनकी उत्कृष्ट कायस्थिति साधिक शत सागरोपम पृथक्त्व परिमाण है। प्रज्ञापना (सूत्र १३२०) में पूछा गया है कि हे भगवन् ! बादर त्रसकायिक पर्याप्त, बादर त्रसकायिक पर्याप्त के रूप में कितने काल तक रह सकते हैं? हे गौतम! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: कुछ अधिक शतसागरोपम पृथक्त्व पर्यन्त बादर त्रसकायिक पर्याप्त के रूप में बने रह सकते हैं।

विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय की उपरोक्त कायस्थिति आगमों के अनुसार है। जबकि कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों-आगमिकों में कहीं-कहीं मतभेद देखा जाता है। किन्तु यहाँ यह अन्तर मात्र शाब्दिक ही है।

प्रश्न— आगम में इनकी कायस्थिति कितनी कही गई है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर— विकलेन्द्रिय की कायस्थिति संख्यात काल जितनी बतायी गई है। प्रज्ञापना (सूत्र १२८१-१२८४) में बताया गया है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव के रूप में जघन्यत: अन्तर्मूहूर्त तथा उत्कृष्टत: संख्यात वर्षों तक रहता है।

त्रीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त के रूप में जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: संख्यात रात-दिन तक त्रीन्द्रिय में रहता है। चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीव चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीव के रूप में जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: संख्यात मास तक चतुरिन्द्रिय में रहता है।

पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तजीव-पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त के रूप में जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: शतपृथक्त्वसागरोपम तक पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त के रूप में रहता है।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति

तिण्णि य पल्ला भणिया कोडिपुहुत्तं च होइ पुव्वाणं ।
पंचिंदियतिरियनराणमेव उक्कोसकायठिई ।।२१७।।

गाथार्थ—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति तीन पल्योपम और पूर्वकोटि पृथक्त्व (१ करोड़ पूर्व से ९ करोड़ पूर्व) बतायी गई है।

विवेचन— पूर्वकोटि आयु वाले तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय यदि अपनी ही काय में पुन:-पुन: जन्म ले तो उत्कृष्टत: वे सात बार उत्पन्न होते हैं, जिससे स्वपर्याय में उनकी कायस्थिति सात पूर्वकोटि काल तक होती है, आठवीं बार यदि वे तिर्यञ्चगति में जन्म लें तो निश्चित रूप से असंख्यातवर्ष की आयु वाले होंगे वहाँ तीन पल्योपम की ही उत्कृष्ट आयु होती है। इस प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च आठों भव में पूर्वकोटि पृथक्त्व साधिक तीन पल्योपम की उत्कृष्ट कायस्थिति वाले हो सकते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी जान लेना चाहिये।

पर्याप्त आदि की कायस्थिति

पज्जत्तयसयलिंदियसहस्समब्भहियमुयहिनामाणं ।
दुगुणं च तसत्तिभवे सेसावभागो मुहुत्तंतो।।।२१८।।

गाथार्थ—सकलेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट कायस्थिति हजार सागरोपम से कुछ अधिक तथा त्रसपर्याय के शेष विभागों की कायस्थिति उससे दुगुनी अर्थात् दो हजार सागरोपम की होती है। सभी की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही होती है।

विवेचन— पर्याप्तक का लब्धि या करण से युक्त पर्याप्तक के रूप में पुन:-पुन: उत्पन्न होने की उत्कृष्ट कायस्थिति कुछ अधिक सागरोपम पृथक्त्व होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। हे भगवन्त ! पर्याप्तक, पर्याप्तक के रूप में कितने काल तक रह सकता है? हे गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मूहूर्त तथा उत्कृष्टतः से साधिक सौ सागरोपम पृथक्त्व काल तक रह सकता है।

प्रश्न— इस गाथा में पर्याप्त सकलेन्द्रिय की कायस्थिति का पुनः विवेचन क्यों किया गया, जबकि यह चर्चा पूर्व गाथा में की जा चुकी थी?

उत्तर— पूर्वगाथा में तिर्यञ्च, मनुष्य आदि के प्रसंग में यह चर्चा की गई थी, यहाँ सामान्य रूप से यह चर्चा की गई है। पुनः इस गाथा में उनकी काय-स्थिति हजार सागरोपम से अधिक कही गई है, यह आगमों (प्रज्ञापना) के अनुसार नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापनासूत्र में उनकी कायस्थिति साधिक सागरोपम शतपृथक्त्व बताई गई है।

प्रस्तुत गाथा में त्रस की कायस्थिति दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक बताई गई है। प्रज्ञापनासूत्र में भी कहा गया है— हे गौतम! त्रसकाय की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट कायस्थिति दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक है।

जघन्य कायस्थिति तो सभी की अन्तर्मुहूर्त बताई गई है।

इस प्रकार जघन्य और उत्कृष्ट के भेदपूर्वक जीवों की कायस्थिति का विवेचन किया गया। अब गुणस्थानों की अपेक्षा से काल की चर्चा करेंगे।

(कायस्थिति का विवचेन सम्पूर्ण हुआ)

३. गुणविभाग काल

गुणस्थानों की कालस्थिति

जीवों की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों का काल

मिच्छा अविरयसम्मा देसे विरया पमत्तु इयरे य।
नाणाजीव पडुच्च उ सव्वे कालं सजोगी य ।।२१९।।

गाथार्थ— मिथ्यात्व, अविरतिसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत तथा सयोगीकेवली गुणस्थान अलग-अलग जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल में होते हैं।

विवेचन— गुणविभाग काल में गुणस्थानों की अपेक्षा से काल की चर्चा की गई है। इसमें मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में रहे हुए जीवों की कालस्थिति के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

अनेक जीवों की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान सर्वकाल में पाया जाता है। नारकों, मनुष्यों तथा देवों में मिथ्यादृष्टि जीव असंख्य हैं तथा तिर्यञ्चों में अनन्त हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत तथा सयोगीकेवली गुणस्थान भी सर्वकालों में पाये जाते हैं। चौथे एवं पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव क्षेत्र की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग की प्रदेश-राशि के समान संख्या में होते हैं। प्रमत्तसंयत की संख्या हजार कोटि पृथक्त्व अर्थात् दो हजार करोड़ से नव हजार करोड़ तक, अप्रमत्तसंयत संख्यात तथा सयोगीकेवली कोटि पृथक्त्व अर्थात् दो करोड़ से नव करोड़ होते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा से सास्वादन तथा मिश्र गुणस्थान का काल

पल्लासंखियभागो सासणमिस्सा य हुंति उक्कोसं ।
अविरहिया य जहण्णेण एक्कसमयं मुहुत्तंतो ।।२२०।।

गाथार्थ—सास्वादन एवं मिश्रदृष्टि (सम्यक् मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान का काल अधिकतम पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक और न्यूनतम एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर होते हैं।

विवेचन—द्वितीय तथा तृतीय गुणस्थान जघन्यत: एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्टत: पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक पाया जाता है, फिर जरुर अन्तराल आता है।

एक जीव की अपेक्षा से सास्वादन एवं मिश्र गुणस्थान का काल

सासायणेगजीविय एक्कगसमयाइ जाव छावलिया।
सम्मामिच्छद्दिट्ठी अवरुक्कोसं मुहुत्तंतो ।।२२१।।

गाथार्थ—एक जीव की अपेक्षा से सास्वादन गुणस्थान एक समय से लेकर छ: आवलिका तक और मिश्रदृष्टि गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है।

विवेचन—सास्वादन गुणस्थान किसी को एक समय, किसी को दो समय, किसी को तीन, किसी को चार, किसी को पाँच तथा किसी को छ: समय तक रहता है। अत: सास्वादन गुणस्थान का काल जघन्यत: एक समय तथा उत्कृष्टत: छ: आवलिका परिमाण कहा गया है।

मिश्र गुणस्थान का काल जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण कहा गया है।

एक जीव की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान का काल

मिच्छत्तमणाईयं अपज्जवसियं सपज्जवसियं च ।
साइयसपज्जवसियं मुहुत्त परियट्टमद्धूणं ।।२२२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— मिथ्यात्व गुणस्थान अनादि अपर्यवसित (अनन्त), अनादि सपर्यवसित (सान्त) तथा सादि सपर्यवसित ऐसे तीन प्रकार का होता है। इनमें सादि सपर्यवसित अन्तर्मुहूर्त से लेकर अर्धपुद्गलपरावर्तन काल तक रहता है।

विवेचन— सम्यक्त्व को आवरित करने वाले पुद्गलों के कारण से प्राप्त विपरीतरुचि को मिथ्यात्व कहा गया है। इसके तीन ही भंग बनते हैं—

१. अनादि-अनंत— अभव्य जीवों में मिथ्यात्व गुणस्थान का काल अनादि-अनन्त है।

२. अनादि-सांत— भव्य जीवों की अपेक्षा से मिथ्यात्व का काल अनादि-सांत है, क्योंकि सम्यक्त्व होते ही मिथ्यात्व का अन्त हो जाता है।

३. सादि-सांत— जो जीव सम्यक्त्व को त्याग कर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त करे, उनकी अपेक्षा से मिथ्यात्व काल सादि और सांत है। सादि-सान्त मिथ्यात्वगुणस्थान जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्टत: अर्धपुद्गलपरावर्तन काल पर्यन्त हो सकता है क्योंकि एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर पुन: मिथ्यात्व में जाकर भी जीव अधिकतम अर्धपुद्गल परावर्तन काल में पुन: सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

४. सादि-अनन्त— सादि-अनन्त नामक मिथ्यात्व का चतुर्थ भंग सम्भव नहीं है। सम्यक्त्व को प्राप्त कर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त करना सादि मिथ्यात्व है। किन्तु जिसे एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी वह तो निश्चित रूप से (कभी न कभी) मोक्ष जरूर प्राप्त करता है अर्थात् उसके मिथ्यात्व का अन्त अवश्य होता है। अत: वह 'अनन्त' नहीं होता है। अत: सादि-अनन्त नामक चतुर्थ भंग नहीं बनेगा।

प्रज्ञापना (सूत्र ३४५) में भी मिथ्यादृष्टि जीवों का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है, जो इस प्रकार है— १. अनादि-अनन्त (अपर्यवसित)— जो अनादि काल से मिथ्यादृष्टि हैं तथा अनन्तकाल तक मिथ्यादृष्टि बने रहेंगे, ऐसे अभव्य जीव। २. अनादि-सान्त (सपर्यवसित) - जो अनादि काल से मिथ्यादृष्टि था किन्तु वर्तमान में जिसने मिथ्यात्व का अन्त कर दिया ऐसा भव्यजीव। ३. सादि-सान्त— जो सम्यक्त्व प्राप्त कर मिथ्यादृष्टि हो गया था, परन्तु पुन: सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जिसने मिथ्यात्व का अन्त कर दिया।

अब एक जीव की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा सयोगी केवली — इन तीन गुणस्थानों के काल का विचार करेंगे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविरत सम्यक्-दृष्टि आदि गुणस्थानों का काल

तेत्तीस उयहिनामा साहीया हुंति अजयसम्माणं ।

देसजइसजोगणि य पुव्वाणं कोडिदेसूणा ।।२२३।।

गाथार्थ—एक जीव की अपेक्षा से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का काल साधिक तैतीस सागरोपम है। देशविरत तथा सयोगीकेवली गुणस्थान का काल कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष का है।

विवेचन—एक जीव की अपेक्षा से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का काल साधिक तैतीस सागरोपम है। वह इस प्रकार है— कोई जीव उत्कृष्ट स्थिति वाले क्षायिक सम्यक्त्व के साथ अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो तो वहाँ पर उसकी आयु तैतीस सागरोपम होगी, पुनः वहाँ से च्यवकर मनुष्य जीवन में जब तक विरति चारित्र ग्रहण न करे, तब तक वह अविरत सम्यक्त्वी रहेगा। इस प्रकार इसका काल साधिक तैतीस सागरोपम कहा गया है। एक जीव की अपेक्षा से देशविरत तथा सयोगीकेवली गुणस्थानों का उत्कृष्ट काल कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष है। यथा— आठ वर्ष का बालक देशविरति या सर्वविरति स्वीकार कर केवलज्ञान प्राप्त करे तो इसका काल आठ वर्ष कम पूर्वकोटि वर्ष होगा।

क्षीणमोह एवं अयोगीकेवली गुणस्थान का काल

एएसिं च जहण्णं खवगाण अजोगि खीणमोहाणं ।

नाणाजीवे एगं परापर ठिई मुहुत्तंतो ।।२२४।।

गाथार्थ—पूर्व गाथा में कथित तीनों गुणस्थानों का जघन्य काल तो अन्तर मुहूर्त ही है। क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ क्षीणमोह गुणस्थान एवं अयोगीकेवली गुणस्थान का उत्कृष्ट तथा जघन्य काल एक जीव की अपेक्षा एवं अनेक जीवों की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त परिमाण जानना चाहिये।

विवेचन— गाथा क्रमांक २२३ में हमने अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि तथा सयोगीकेवली गुणस्थानों का उत्कृष्ट काल बताया था। इस गाथा में इन तीन गुणस्थानों का जघन्यकाल काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण बताया गया है।

प्रश्न— अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा सयोगीकेवली गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त किस अपेक्षा से बताया गया है?

१. अविरत सम्यग्दृष्टि औपशमिक सम्यक्त्व पाकर पुनः मिथ्यात्व में आने पर, २. देशविरत को स्वीकार करके उसका अन्तर्मुहूर्त में त्याग कर देने पर तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. सयोगीकेवली अवस्था प्राप्त कर तुरन्त मोक्ष प्राप्त करने पर— इन तीनों स्थितियों में इन तीनों गुणस्थानों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण कहा गया है।

सम्पूर्ण क्षपक श्रेणी का काल भी अन्तर्मुहूर्त परिमाण है। अयोगी केवली का काल पाँच ह्स्वाक्षर परिमाण होने से इसका भी एक जीव की अपेक्षा से या अनेक जीवों की अपेक्षा से उत्कृष्ट एवं जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण है।

क्षीणमोहगुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त परिमाण है, उसके बाद वह केवलज्ञान प्राप्त कर ही लेता है। एक जीव की अपेक्षा से एवं अनेक जीवों की अपेक्षा से इसका जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण ही है, क्योंकि उसके बाद निश्चय ही अन्तराल पड़ता है।

अब प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों की चर्चा करेंगे—

प्रमत्तसंयतादि गुणस्थान

एगं पमत्त इयरे उभए उवसामगा य उवसंता।

एग समयं जहन्नं भिन्नमुहुत्तं च उक्कोसं ।।२२५।।

गाथार्थ—प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयत का एक जीव की अपेक्षा से तथा उपशामक तथा उपशान्तमोही का एक तथा अनेक जीवों की अपेक्षा से जघन्य काल् एक समय तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण है।

विवेचन—एक जीव की अपेक्षा से प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों का जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। उसके बाद प्रमत्तसंयमी अप्रमत्त भाव को तथा अप्रमत्तसंयमी प्रमत्त भाव को अवश्य प्राप्त करता है या फिर मरण को प्राप्त करता है।

मोहनीयकर्म का उपशमन करने वाला उपशामक कहलाता है। वह उपशम श्रेणी में हो तो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसम्पराय एवं सूक्ष्मसम्पराय नामक गुणस्थान का स्पर्श करता है। ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में पहुँचने पर उसे उपशान्तमोही कहा जाता है— इसे छद्मस्थ वीतराग भी कहते हैं। इन गुणस्थानों का एक जीव की अपेक्षा से या अनेक जीवों की अपेक्षा से जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उसके बाद या तो गिर कर अन्य गुणस्थान को प्राप्त करेगा या मरण होने पर अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने से अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करेगा।

नरक तथा देवों में सम्यक्त्व की काल मर्यादा

मिच्छा भवट्ठिईया सम्मं देसूणमेव उक्कोसं ।

अंतोमुहुत्तमवरा नरएसु समा य देवेसु ।।२२६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ—नारकों में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति भवस्थिति के समतुल्य होती है किन्तु सम्यक्त्व की स्थिति भवस्थिति से कुछ कम होती है। देवों में सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व दोनों ही भव स्थिति तुल्य होती हैं। देव तथा नारक— दोनों में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त परिमाण है।

विवेचन—जब कोई मिथ्यात्वी तिर्यञ्च या मनुष्य मरकर नरक में उत्पन्न होता है तथा वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता तो उसके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति भवस्थिति के समतुल्य होती है।

जब कोई जीव सम्यक्त्व का परित्याग करके ही नरक में जन्म लेता है और यदि वह नरक में जन्म लेते ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर ले तब भी उसके सम्यक्त्व की स्थिति उसकी भव स्थिति से कुछ कम ही होगी।

विशेष—यहाँ गाथाकार ने नरक में सम्यक्त्व की स्थिति भवायु से कुछ कम बताई है। जबकि प्रथमादि नरक में क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीव भी जाते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व का कभी पतन नहीं होता, वह आकर कभी जाता नहीं; अत: उस अपेक्षा से उसका काल भवस्थिति से कम नहीं होगा? हाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में इस प्रकार की भवस्थिति से कुछ कम काल मर्यादा सम्भव है। कुछ आचार्यों की मान्यता यह है कि सम्यक्त्व से युक्त जीव नरक में नहीं जाता है। यदि किसी ने पूर्व में नरकायु का बन्ध कर लिया हो और बाद में उसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ तो भी वह मरणकाल में सम्यक्त्व का वमन करके ही नरक में जायेगा।

देवताओं का सम्यक्त्व भी नारक तुल्य समझना चाहिये। नारकीवत् देवों में भी सम्यक्त्व भवस्थिति पर्यन्त अथवा भवस्थिति से कुछ न्यून समझना चाहिये। मिथ्यात्व की स्थिति तो देवों में भी भवस्थिति पर्यन्त है।

नारक तथा देव में सम्यक्त्व या मिथ्यात्व का जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त जितना ही है।

अपर्याप्तावस्था में उपशम सम्यक्त्व की उपस्थिति का प्रश्न

तत्त्वार्थकार अपर्याप्तावस्था में तीनों सम्यक्त्व का सद्भाव स्वीकार करते हैं। कर्मग्रन्थ ४ गाथा १४ में कहा है कि आयु पूर्ण हो जाने पर जब कोई उपशम-सम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तरविमान में पैदा होता है तब उसे अपर्याप्तावस्था में उपशम सम्यक्त्व होता है। यह मन्तव्य छठे कर्मग्रन्थ की चूर्णी तथा पंचसंग्रह के मतानुसार भी समझना चाहिये। चूर्णी के अनुसार अपर्याप्तावस्था में नारकों में क्षायोपशमिक और क्षायिक— ऐसे दो सम्यक्त्व तथा देवों में उपशम सहित तीनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं। पञ्चसंग्रह के प्रथमद्वार की गाथा २५ तथा उसकी टीका में उक्त चूर्णि के मत की पुष्टि की गयी है। गोम्मटसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी इसी मत की पुष्टि करता है। जीवकाण्ड की ७२९वी गाथा मे भी यही बात कही गयी है।

कई आचार्य उपशम सम्यक्त्व को अपर्याप्तावस्था में नहीं मानते, उनके मत से पर्याप्त जीव ही उपशम सम्यक्त्व के अधिकारी हैं।

जीवविजय जी ने अपने टब्बे में इस प्रकार लिखा है कि जो जीव उपशम श्रेणी को पाकर ग्यारहवें गुणस्थान में मरते हैं, वे सर्वार्थसिद्धि विमान में क्षायिक सम्यक्त्व सहित पैदा होते हैं और लवसप्तक कहलाते हैं।

कर्मस्थिति से आयुस्थिति सात लव (साढ़े चार मिनिट) कम होने से उन्हें देव का जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यदि उन्हें सात लव और मिल जाते तो वे क्षायिक श्रेणी मांडकर, केवलज्ञान को प्राप्तकर मोक्षलक्ष्मी का वरण कर लेते।

तिर्यञ्च तथा मनुष्य गति में सम्यक्त्व की काल-मर्यादा

मिच्छाणं कायठिई उक्कोस भवट्ठिई य सम्माणं।

तिरियनरेगिंदियमाइएसु एवं विभइयव्वा ।।२२७।।

गाथार्थ— तिर्यञ्च तथा मनुष्य में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति उनकी कायस्थिति के समतुल्य हो सकती है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्यों में सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति भी भवस्थिति के समरूप हो सकती है। एकेन्द्रिय आदि में स्वयं ही इसकी विचारणा कर लेनी चाहिये।

विवेचन— तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट काल स्थिति उनकी काय स्थिति के समान जानना चाहिये।

तिर्यञ्च जब तक तिर्यञ्च भाव को नहीं छोड़ते तब तक उसी काय में रहते हैं। आगम में उनका यह काल असंख्य पुद्गल परावर्तन जितना कहा गया है।

मनुष्य भी सामान्यत: आठ भवों में पूर्वकोटिपृथक्त्व (२ से ९ करोड़ तक) साधिक तीन पल्योपम की कायस्थिति वाले हैं। मनुष्य का मिथ्यात्व काल भी कायस्थिति के समान माना गया है। इसी प्रकार तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों में सम्यक्त्व का काल भवस्थिति के समान बताया गया है तथा भवस्थिति का काल तीन पल्योपम जितना है।

जब कर्मभूमि का मनुष्य असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च की आयु बांधकर दर्शन सप्तक का क्षय करके तथा क्षायिक समकित प्राप्त करके देवकुरु, उत्तरकुरु में तीन पल्योपम आयु वाले तिर्यञ्च के रूप में उत्पन्न होता है। तब उसका क्षायिक सम्यक्त्व तीन पल्योपम स्थिति वाला होता है। जब कर्मभूमि का मनुष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहले असंख्यात वर्ष आयु वाले मनुष्य का आयु बांधकर क्षायिक सम्यंक्त्व प्राप्त कर देवकुरु आदि में तीन पल्योपम की आयु वाला मनुष्य बनता है तब उसके सम्यक्त्व की स्थिति भी तीन पल्योपम काल जितनी होती है। यह चर्चा क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा से की गई है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व —इसका काल इतना नहीं है। इसका कारण यह है कि पूर्वभव में असंख्य वर्ष की आयु बांधने वाले मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव मरकर वैमानिक देवलोक में जाता है। यह सम्यक्त्व तद्भव में तो पर्याप्तावस्था में ही होता है, अपर्याप्तावस्था में नहीं होने से इसका काल भव स्थिति से कुछ कम कहा गया है।

एकेन्द्रियादि— एकेन्द्रिय में सम्यक्त्व का अभाव है। कहीं-कहीं अपर्याप्तावस्था में एकेन्द्रिय को भी सम्यक्त्वी कहा है परन्तु इस अवस्था का काल अत्यल्प होने से यहाँ उसकी विचारणा नहीं की गई है।

मनुष्य में सास्वादन तथा मिश्रगुणस्थान

सासायणमिस्साणं नाणाजीवे पडुच्च मणुएसु ।
अंतोमुहुत्तमुक्कोसकालमवरं जहुद्दिट्ठं ।।२२८।।

गाथार्थ— अनेक जीवों की अपेक्षा से मनुष्यों में सास्वादन तथा मिश्र गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होता है। जघन्य काल तो जैसा पूर्व में कहा गया है वैसा ही जानना चाहिये।

विवेचन— अनेक जीवों की अपेक्षा से सास्वादन तथा मिश्र (सम्यक् मिथ्या-दृष्टि) गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है, वह किस प्रकार? सास्वादनी और मिश्रदृष्टि सतत् होते रहते हैं। फिर भी दोनों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है क्योंकि उसके बाद अवश्य अन्तराल पड़ता है।

प्रश्न— यह तो अनेक जीवों की अपेक्षा से उत्कृष्ट स्थिति बताई गई है परन्तु एक जीव की अपेक्षा से उनका जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना है?

उत्तर— इस गाथा में अनेक जीवों की अपेक्षा से उनका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है जघन्य स्थिति तो गाथा २२० के अनुसार एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक जानना चाहिए।

एक जीव की अपेक्षा से इन दोनों गुणस्थान की काल-मर्यादा गाथा २२१ के अनुसार ही समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काययोग

काओगऽणंतकालं वाससहस्सा उराल बावीसं।

समयतिगं कम्मइओ सेसा जोगा मुहुत्तंतो ।।२२९।।

गाथार्थ—काययोग अनन्तकाल तक होता है। मात्र औदारिक काययोग बाईस हजार वर्ष तक, मात्र कार्मण काययोग तीन समय तक तथा शेष योग अन्तर्मुहूर्त तक होते हैं।

विवेचन—जो एकत्रित करे वह काय तथा जिससे जीव कर्मों के साथ जुड़े वह योग है। काय अर्थात् शरीर का कर्मों से योग होना काययोग कहलाता है।

१. काययोग—इसमें जीव अनन्तकाल तक रहता है। किन्तु मनोयोग और वचनयोग से रहित मात्र काययोग में रहने वाले एकेन्द्रिय जीव होते हैं। ये एकेन्द्रिय असंख्य पुद्गलपरावर्तन अर्थात् अनन्तकाल तक काययोग में ही रहते हैं। यहाँ अन्य दोनों योगों का अभाव है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव को मात्र काययोग अनन्तकाल तक होता है।

२. औदारिक काययोग—मात्र औदारिक काययोग अधिकतम बाईस हजार वर्ष तक पृथ्वीकायिक जीवों को होता है।

प्रश्न— असंख्य वर्ष आयु वाले मनुष्य तथा तिर्यञ्च को तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु तक औदारिक काययोग रहता है, फिर बाईस हजार वर्ष ही क्यों कहा गया?

उत्तर— यह सत्य है, परन्तु यहाँ बात मात्र औदारिक काययोग की है मन-वचन युक्त काययोग की नहीं। अत: एक भव में मात्र औदारिक काययोग को प्राप्त करने वाले की उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष बतायी गई है।

३. कार्मण काययोग—विग्रहगति की अपेक्षा से मात्र कार्मण काययोग तीन समय का होता है। विग्रहकाल में जीव को मात्र कार्मण काययोग तथा उससे अनादि सम्बन्ध वाला तेजस् काययोग रहता है। यहाँ कार्मण के साथ तेजस् का अध्याहार कर लिया गया है क्योंकि ये दोनों शरीर सदा साथ-साथ रहते हैं। तत्त्वार्थकार ने कहा है— अनादि सम्बन्धे, अप्रतिघाते, सर्वस्य (तत्त्वार्थसूत्र २/४१-४३) दोनों शरीर का अनादि सम्बन्ध है, दोनों अप्रतिघाती है तथा समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

चार समय की विग्रह गति में भी तीन समय का ही कार्मण काययोग होता है। शेष सभी अर्थात् वैक्रियकाययोग, आहारककाययोग, मनोयोग तथा वचनयोग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त जितना है वह कैसे?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैक्रिय काययोग— मन और वचनयोग से रहित मात्र वैक्रिय काययोग लब्धिधारी वायुकाय को होता है देव आदि को नहीं होता, क्योंकि उनको मन-वचन योग होता है। वायुकाय को भी उत्कृष्ट से वैक्रिय काययोग अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।

आहारक काययोग—यह काययोग तो चौदह पूर्वधारी को ही होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है।

मनोयोग एवं वचनयोग—इन दोनों का काल भी अन्तर्मुहूर्त जितना है। इस प्रकार यहाँ योग का उत्कृष्ट काल बताया गया है।

काययोग का तथा उसमें भी औदारिक तथा आहारक काययोग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है।

वैक्रिय काययोग, कार्मण काययोग, मनोयोग तथा वचनयोग— इन सभी का जघन्य काल एक समय का है।

स्त्रीवेद तथा पुरुषवेद का उत्कृष्ट काल

देवी पणपण्णाऊ इत्थितं पल्लसयपुहुत्तं तु।

पुरिसत्तं सण्णित्तं च सयपुहुत्तं च उयहीणं ।।२३०।।

गाथार्थ—(एक भव की अपेक्षा)स्त्रीत्व का(काल अधिकतम)पचपन पल्योपम होता है यह काल देवियों की अपेक्षा से है(किन्तु अनेक भवों की अपेक्षा से)स्त्रीत्व का(अधिकतम)काल शत पृथक्त्व सौ पल्योपम का होता है। पुरुषत्व और संज्ञीत्व का (अधिकतम) काल शतपृथक्त्व सागरोपम का होता है।

विवेचन—एक भव की अपेक्षा से दूसरे देवलोक की अपरिगृहीता देवी का, स्त्रीत्व का उत्कृष्ट काल पचपन पल्योपम का होता है।

अनेक भवों की अपेक्षा से निरन्तर स्त्रीवेद प्राप्त करने पर इस की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि पृथक्त्व सौ पल्योपम है।

अनेक भव की अपेक्षा से पुरुषवेद की उत्कृष्ट स्थिति शतपृथक्त्व सागरोपम से कुछ अधिक है तथा जघन्य से तो इन सभी का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। संज्ञीत्व की उत्कृष्ट स्थिति भी पुरुषवेद के समान ही समझना चाहिए।

लेश्यादि का काल

अंतमुहुत्तं तु परा जोगुवओगा कसाय लेसा य।

सुरनारएसु य पुणो भवट्ठिई होइ लेसाणं ।।२३१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— योग, उपयोग, कषाय और लेश्या का उत्कृष्ट स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त जितना है। पुन: देवों तथा नारकों में भवाश्रित लेश्या का काल भव स्थिति तुल्य होता है।

विवेचन— योग अर्थात् मन, वचन तथा काय। जब व्यक्ति शान्त स्थिति में बैठा रहता है उस समय भी उसका मन सक्रिय रहता है। मन के सक्रिय रहने से जीव मनोयोग प्रधान होता है, फिर तुरन्त बोलने लगता है। यह वचनयोग प्रधान स्थिति है तथा खड़े होकर चलना, दौड़ना यह काययोग प्रधान स्थिति है। तीनों योगों में से एक समय में एक योग प्रबल एवं प्रधान रहता है शेष योग गौण रहते हैं। इन योगों का काल अन्तर्मुहूर्त में बदल जाता है। यह बात स्थूल रूप से गम्य नहीं है, किन्तु पर्याय परिवर्तन के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

कषाय— क्रोध, मान, माया तथा लोभ की उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त जितनी है। यद्यपि क्रोध आदि सत्ता में तो विद्यमान हैं, परन्तु उनमें उपयोग की अपेक्षा से इनका काल अन्तर्मुहूर्त है।

हे भगवन्! क्रोध कषाय का काल कितना होता है?

हे गौतम! जघन्य तथा उत्कृष्ट दोनों अपेक्षाओं से अन्तर्मुहूर्त जितना ही होता है। इसी प्रकार मान, माया तथा लोभ का काल भी न्यूनतम एक समय तथा अधिकतम अन्तर्मुहूर्त ही है।

लेश्या— लेश्या में भी भाव-लेश्या का काल जघन्य तथा उत्कृष्ट दोनों अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त होता है। परन्तु द्रव्य लेश्या तो भवस्थिति तुल्य जानना चाहिये। देव तथा नारक में लेश्या की स्थिति भव स्थिति तुल्य बताई गयी है वह द्रव्य-लेश्या की अपेक्षा से जानना चाहिये। भाव-लेश्या तो सभी जीवों की प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है।

मति आदि पाँच ज्ञानों की काल-मर्यादा

छावट्ठिउयहिनामा साहिया मइसुओहिनाणाणं ।
ऊणा य पुव्वकोडी मणसम इयछेयपरिहारे ।।२३२।।

गाथार्थ— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान का काल साधिक छियासठ (६६) सागरोपम है। मन: पर्ययज्ञान, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र तथा परिहारविशुद्धि चारित्र का काल देशोन (कुछ कम) पूर्वकोटि वर्ष है।

विवेचन—तीन ज्ञान— कोई जीव सम्यग्दर्शन सहित दो बार विजय देवलोक में या तीन बार अच्युत देवलोक में तथा कुछ समय मनुष्य भव में रहने से छियासठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सागरोपम तक तीन ज्ञान युक्त हो सकता है। अनेक जीवों की अपेक्षा से तो तीन ज्ञान सर्वदा सम्भव है।

मनःपर्ययज्ञान—यदि कोई जीव चारित्र लेते ही मन:पर्ययज्ञान प्राप्त कर ले और उसकी शेष आयु पूर्वकोटि वर्ष हो तो उसमें से गर्भकाल तथा आठ वर्ष निकाल देने पर मन:पर्ययज्ञान का उत्कृष्ट काल कुछ कम कोटि वर्ष पूर्व का होता है। जघन्य से मन:पर्ययज्ञान एक समय का है। भवान्तर में अर्थात् देवादिगतियों में मन:पर्ययज्ञान का अभाव है। केवल ज्ञान. का काल सादि अनन्त माना गया है, क्योंकि यह ज्ञान प्राप्त होने पर जाता नहीं है।

सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र—इन दोनों चारित्र का काल भी मन:पर्ययज्ञानवत् समझना चाहिए। कारण, कोई भी जीव जब चारित्र ग्रहण करता है तब उसकी उम्र आठ वर्ष की होनी अपेक्षित है। अत: पूर्वकोटि वर्ष में से आठ वर्ष कम इन दोनों चारित्रों का काल समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि चारित्र—इस चारित्र को स्वीकार करने वाला आठ वर्ष की वय में दीक्षा लेने और उसके पश्चात् बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय होने के बाद ही दृष्टिवाद पढ़ने का अधिकारी बनता है, क्योंकि बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय से पूर्व दृष्टिवाद पढ़ने का निषेध है। उसके बाद अठारह मास तक अविच्छिन्न रूप से उसका अध्ययन करता है। इस प्रकार वह उन्तीस (२९) वर्ष और ६ माह कम पूर्वकोटि वर्ष तक परिहारविशुद्धि चारित्र का पालन कर सकता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—इसका काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल है।

यथाख्यात चारित्र—यह चारित्र जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से देशोन पूर्व कोटि वर्ष की स्थिति वाला जानना चाहिये। (केवलज्ञान की स्थिति सादि-अनन्त काल है)।

विभङ्गज्ञानादि का काल

विब्भंगस्स भवट्ठिइ चक्खुस्सुदहीण बे सहस्साइं।

नाइं अपज्जवसिओ सपज्जवसिओ त्तिय अचक्खू ।।२३३।।

गाथार्थ—विभङ्गज्ञान का काल भवायु तुल्य होता है। चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम है। अचक्षुदर्शन तीन प्रकार का है— अनादि अपर्यवसित (अनन्त), अनादि-सपर्यवसित (सांत) तथा सादि-सान्त।

विवेचन—पूर्व गाथा में पाँच ज्ञानों का काल बताया गया था। अब तीन अज्ञान का काल बताते हैं। मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान तथा विभङ्गज्ञान— ये अज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के तीन प्रकार हैं। इनमें मति-अज्ञान एवं श्रुत-अज्ञान अभव्य जीव को अनादि-अनन्त काल तक रहता है किन्तु मिथ्यादृष्टि भव्य को अनादि-सान्त काल पर्यन्त रहता है सम्यक्त्व से पतित को जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: अपार्ध पुद्गलपरावर्तन-काल तक रहता है।

विभङ्गज्ञान की स्थिति तो सूत्रकार ने गाथा में भी स्पष्ट की है। किसी मनुष्य या तिर्यञ्च को विभङ्गज्ञान हुआ हो तो वह देशोन पूर्वकोटि वर्ष तक रहता है। फिर मरकर यदि वह सातवीं नरक पृथ्वी में जाये तो तैंतीस सागरोपम तक विभङ्गज्ञान रहता है। इस प्रकार दो भवों के सातत्य से विभङ्गज्ञान की स्थिति देशोन पूर्वकोटि वर्ष से अधिक तैंतीस सागरोपम की होती है। जघन्य से तो इसका काल समय जानना चाहिये। प्रज्ञापना (सूत्र १३५३) में यह पूछा गया है कि हे भगवन्! विभङ्गज्ञान कितने काल तक रहता है? हे गौतम ! न्यूनतम एक समय तथा अधिकतम देशोन पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागरोपम पर्यन्त विभङ्गज्ञान रहता है।

चक्षुदर्शन—गाथा में चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम कहा है परन्तु इतना काल उचित नहीं लगता। प्रज्ञापना (सूत्र १३५४) में यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! चक्षुदर्शन कितने काल तक रहता है? हे गौतम ! चक्षु-दर्शन न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त तथा अधिकतम कुछ अधिक हजार सागरोपम तक रहता है। आगम में चतुरिन्द्रिय की कायस्थिति संख्यात वर्ष तथा पञ्चेन्द्रिय की साधिक एक हजार सागरोपम मानी गई है। चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय को छोड़कर अन्य किसी को चक्षुदर्शन होता भी नहीं। अत: आगम कथित काल ही उपयुक्त लगता है। इस ग्रन्थ में चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम कहा गया है, वह उचित नहीं लगता। शेष तथ्य केवली गम्य है।

अचक्षुदर्शन —अचक्षुदर्शन का काल इस ग्रन्थ में तीन प्रकार का बताया गया है — १. अनादि-अनन्त, २. अनादि-सान्त और ३. सादि-सान्त जबकि प्रज्ञापना (सूत्र १३५५) में दो प्रकार का ही बताया गया है। हे गौतम ! अचक्षुदर्शन दो प्रकार का कहा गया है— अनादि-अनन्त तथा अनादि-सान्त। जबकि जीवसमास के कर्ता ने अचक्षुदर्शन को सादि-सान्त भी बताया है।

अनादि-अनन्त— अभव्य जीवों में स्पर्शेन्द्रिय तो सर्वकाल में होती है। अत: उनसे स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा अचक्षुदर्शन लब्धि के रूप में अनादि-अनन्त काल पर्यन्त रहता है।

अनादि-सान्त— भव्यजीवों की अपेक्षा से अचक्षुदर्शन अनादि-सान्त है। भव्य जीवों में स्पर्शेन्द्रिय के अपेक्षा से अचक्षुदर्शन लब्धि अनादि काल से है, परन्तु केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद अचक्षुदर्शन का अन्त होने से उनका अचक्षुदर्शन अनादि-सान्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार अभव्य जीव जो कभी सिद्धि प्राप्त नहीं करेगा उसकी अपेक्षा से अचक्षुदर्शन अनादि-अनन्त है तथा भव्य जीव जो सिद्धि प्राप्त करेंगे उनकी अपेक्षा से अचक्षुदर्शन अनादि-सान्त है। जहाँ तक अचक्षुदर्शन के सादि और सान्त होने का प्रश्न है, वह लब्धि की अपेक्षा से न होकर उपयोग की अपेक्षा से है क्योंकि चक्षुदर्शन में उपयोग होने पर उसी समय अचक्षुदर्शन में उपयोग नहीं रहता है। अत: उस काल में अचक्षुदर्शन का अन्त हो जाता है। इसी अपेक्षा अचक्षुदर्शन को सादि से सान्त कहा गया होगा।

भव्यादि की स्थिति

भव्वो अणाइ संतो अणाइऽणंतो भवे अभव्वो य।

सिद्धो य साइऽणंतो असंखभागंगुलाहारो ।।२३४।।

गाथार्थ— भव्य जीवों का संसार परिभ्रमण कालअनादि-सान्त है। किन्तु अभव्य जीवों का संसार परिभ्रमण काल अनादि-अनन्त है। सिद्ध अवस्था का काल सादि-अनन्त है। आहारक जीव अंगुली के असंख्यातवें भाग परिमाण है।

विवेचन— भव्य जीव के मोक्षगामी होने के कारण उनका संसार अनादि-सान्त है। जबकि अभव्य जीव द्वारा कभी भी मोक्ष प्राप्त न कर सकने के कारण उनका अनादि-अनन्त संसार परिभ्रमण है। सिद्ध भवभ्रमण से मुक्त होने के कारण उनकी मोक्षदशा सादि-अनन्त होती है क्योंकि मुक्ति काल विशेष में प्राप्त होने से सादि और मुक्ति से संसारदशा में लौटना सम्भव नहीं होने से अनन्त होती है।

आहारक— प्रज्ञापना (सूत्र १३६४) में पूछा गया है कि भगवन् ! आहारक जीव लगातार कितने काल तक आहारक रूप में रहता है? गौतम! आहारक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं— (१) छद्मस्थ आहारक तथा (२) केवली आहारक।

१. छद्मस्थ आहारक— जघन्य दो समय कम क्षुद्रभव ग्रहण जितने काल तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक आहारक रूप में रहता है अर्थात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक तथा क्षेत्रत: अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण समझना चाहिये।

२. केवली आहारक— जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्ट देशोन कोटिपूर्व तक आहारक रूप में रहता है।

छद्मस्थ आहारक का न्यूनतम काल क्षुद्र भव के काल से दो समय होता है, क्योंकि प्रथम समय से जन्म होता है और दूसरे समय में मरण। अत: इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों समय को छोड़कर शेष दशा में आहारक ही रहता है इसलिए आहारक दशा का जघन्यकाल दो समय कम क्षुद्र भव जितना होता है।

गुणों का जघन्य काल (अन्तर्मुहूर्त)

काओगी नर नाणी मिच्छं मिस्सा य चक्खु संण्णी य ।

आहारकसायीवि य जहण्णमंतोमुहुत्तंतो ।।२३५।।

गाथार्थ—काययोग, पुरुषत्व, ज्ञानीत्व, मिथ्यात्व, मिश्रगुणस्थान, चक्षुदर्शन, संज्ञीत्व आहारक तथा कषाय इन सबका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण है।

१. काययोगी— प्रज्ञापना— (सूत्र १३२४) में प्रश्न किया गया है— भगवन्। काययोग का काल कितना है?

हे गौतम ! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: वनस्पतिकाय के काल पर्यन्त जानना चाहिये।

२. पुरुषवेद—प्रज्ञापना (सूत्र १३२८) में पूछा गया है— भगवन् ! पुरुषवेद का काल कितना है?

गौतम ! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: कुछ अधिक सागरोपम पृथक्त्व जानना चाहिये।

३. ज्ञानी—प्रज्ञापना (सूत्र १३४६) में यह पूछा गया है— भगवन्! जीव कितने काल तक ज्ञानी पर्याय में रहता है?

हे गौतम ! ज्ञानी दो प्रकार के कहे गये हैं— इनमें से सादि-सान्त (सपर्यवसित) जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्टत: कुछ अधिक छियासठ सागरोपम काल जानना चाहिये।

४. मिथ्यात्व—मिथ्यात्व का काल अभव्यत्व की अपेक्षा अनादि-अनन्त तथा भव्यत्व की अपेक्षा सादि-सान्त होता है। उसे जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: अनन्त जानना चाहिये।

५. मिश्र— मिश्रगुणस्थान का काल (जीवसमास गाथा २१ के अनुसार) जघन्यत: एवं उत्कृष्टत: दोनों ही अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये।

६. चक्षुदर्शन—प्रज्ञापना (सूत्र १३५४) में यह प्रश्न किया गया है— हे भगवन् ! चक्षुदर्शन का काल कितना है ?

हे गौतम! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: कुछ अधिक हजार सागरोपम का है। जब कोई त्रीन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रिय में उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त काल में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण प्राप्त करता है तब उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त होता है तथा उत्कृष्ट काल कुछ अधिक हजार सागरोपम पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं नारक की अपेक्षा से कहा है।

७. संज्ञी—प्रज्ञापना (सूत्र १३८९) में पूछा गया है भगवन् ! संज्ञी पर्याय का काल कितना है?

हे गौतम! जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टत: कुछ अधिक सागरोपम पृथक्त्व काल है।

८. आहारक—प्रज्ञापना (सूत्र १३६४) भगवान् ने इस प्रश्न का कि आहारक जीव का काल कितना है? उत्तर देते हुए कहा है —

हे गौतम ! जघन्यत: दो समय कम क्षुद्र भव ग्रहण जितना काल तथा उत्कृष्टत: असंख्यात काल तक जानना चाहिये।

९. कषाय — जीवसमास (गाथा २३१) के अनुसार कषाय का काल जघन्यत: तथा उत्कृष्टत: अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है। प्रज्ञापना (सूत्र १३५२) में क्रोध, मान, माया की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कहीं गई है परन्तु लोभ की स्थिति जघन्यत: एक समय तथा उत्कृष्टत: अन्तर्मुहूर्त कही है।

गाथा में तो मात्र जघन्य काल की चर्चा है, किन्तु विवेचन में जघन्य एवं उत्कृष्ट दोनों की ही चर्चा कर दी गई है।

गुणों का जघन्य काल (एक समय)

मणवइउरलविउव्विय आहारयकम्म जोग अणरित्थी।

संजमविभागविब्भंग सासणे एगसमयं तु ।।२३६।।

गाथार्थ— मनोयोग, वचनयोग, औदारिक काययोग, वैक्रिय काययोग, आहारक काययोग, कार्मण काययोग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, संयम के पाँचों प्रकार, विभङ्गज्ञान तथा सास्वादन गुणस्थान इन सभी का जघन्य काल एक समय परिमाण है।

विवेचन— गाथा में आए हुए "जोग" शब्द की उसके पूर्व में आये हुए शब्दों के साथ योजना करनी चाहिये।

१. मनोयोग—कोई गर्भज पञ्चेन्द्रिय मन: पर्याप्ति पूर्ण करते ही मरण को प्राप्त करे तो उसे एक समयवर्ती मनोयोग होगा।

२. वचनयोग—कोई जीव भाषा पर्याप्ति पूर्ण करके एक समय बाद मरण को प्राप्त करे तो उसे एक समयवर्ती वचनयोग होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रज्ञापना के सूत्र क्रमांक १३२२-२३ में भी मनोयोग तथा वचनयोग का जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त बताया गया हैं।

३. औदारिक काययोग—औदारिक शरीर वाला वैक्रिय शरीर की रचना के पश्चात् जब औदारिक शरीर प्राप्त करके एक समय बाद ही मरण को प्राप्त हो जाय या पुनः वैक्रिय शरीर बनाये तो उसका औदारिक काययोग का जघन्य काल एक समय होगा। इसी प्रकार वायुकाय के जीव वैक्रिय शरीर का त्याग कर औदारिक शरीर प्राप्त करके पुनः एक समय के बाद ही वैक्रिय शरीर को अथवा मरण को प्राप्त हो तो उनके भी औदारिक काययोग का जघन्यकाल एक समय होता है।

४. वैक्रिय काययोग—कोई जीव औदारिक शरीर से एक समय के लिए वैक्रिय शरीर प्राप्त कर पुनः औदारिक शरीर में आ जाये तो उनके वैक्रिय काययोग का काल मात्र एक समय का होता है।

५. आहारक काययोग—चौदह पूर्वधर मुनि आहारक शरीर बनाकर कार्य सिद्धि के काल में मनोयोग एवं वचनयोग पूर्ण करने बाद एक समय तक आहारक काययोग का अनुभवन करके पुनः औदारिक शरीर स्वीकार करते हैं तो उनके आहारक काययोग का जघन्य काल एक समय होता है। सामान्यतया आहारक काययोग का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है।

६. कार्मण काययोग—विग्रहगति कर रहे जीव का एक या दो समय का अनाहारक काल ही कार्मण काययोग का जघन्य काल होता हैं।

७. नपुंसक वेद—गाथा में 'अणर' शब्द आया हैं इसका अर्थ हैं जो नर नहीं है अर्थात् नपुंसक है। प्रज्ञापना (सूत्र १३२९) में प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! नपुंसक वेद का काल कितना होता हैं? हे गौतम ! जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से वनस्पतिकाय की कायस्थिति पर्यन्त जीव नपुंसक वेद में रह सकता हैं। कोई जीव नपुंसक आदि तीनों वेदों का उपशम करने के पश्चात् पुनः एक समय तक नपुंसक वेद को प्राप्त कर मरण प्राप्त करे तो उसके नपुंसक वेद का जघन्य काल एक समय होता है।

८. स्त्रीवेद—प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र १३२७) में यह पूछा गया हैं कि हे भगवन्! स्त्रीवेद का काल कितना है? गौतम ! स्त्रीवेद का काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से पूर्वकोटि अधिक पल्योपम तक होता है।

९. संयम— संयम अर्थात् चारित्र के पाँच प्रकार हैं १. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसम्पराय तथा ५. यथाख्यात। प्रज्ञापना (सूत्र १३५८) में पूछा गया है कि हे भगवन् ! संयम का काल कितना है? हे गौतम ! जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से देशोन कोटि पूर्व वर्ष तक का है।
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. विभंगज्ञान—प्रज्ञापना (सूत्र १३५३) में प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! विभंगज्ञान का काल कितना है? हे गौतम जघन्यकाल एक समय तथा उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम तक होता है।

११. सासादन—सास्वादन गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय तथा उत्कृष्ट काल छः आवलिका का कहा गया है। (जीवसमास, गाथा २२१)।

जघन्यकाल

अड्ढाइज्जा य सया वीसपुहुत्तं च होइ वासाणं।

छेयपरिहारगाणं जहण्णकालाणुसारो उ ।।२३७।।

गाथार्थ—छेदोपस्थापनीय चारित्र का जघन्य काल ढाई सौ (२५०) वर्ष तथा परिहारविशुद्धि का जघन्य काल बीस पृथक्त्व वर्ष अर्थात् एक सौ अस्सी वर्ष जानना चाहिये।

विवेचन— दोनों चारित्र की जघन्य स्थिति बतायी जाती है—

१. छेदोपस्थापनीय चारित्र—छेदोपस्थापनीय चारित्र का यह जघन्य काल अनेक जीवों की अपेक्षा से है। उत्सर्पिणी के तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर के द्वारा संघ स्थापना के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र का प्रारम्भ होता है। फिर दूसरे से तेईस तीर्थंकर के काल में इस चारित्र का अभाव रहता है।

२. परिहारविशुद्धि चारित्र— इसका जघन्य काल बीस पृथक्त्व अर्थात् (९×२०=१८०) वर्ष है। यथा सौ वर्ष की आयु वाले नौ साधु— उनतीस (गर्भकाल सहित ९ वर्ष में दीक्षा लें तथा २० वर्ष का चारित्र पर्याय हो) वर्ष की उम्र में अवसर्पिणी के अंतिम तीर्थंकर (यथा महावीर प्रभु) के पास परिहारविशुद्धि चारित्र को स्वीकार कर के इकहत्तर (७१) वर्ष तक इस चारित्र का पालन करे। पुनः एक नौ साधुओं का समुदाय इन चारित्रधारियों से परिहारविशुद्धि चारित्र को स्वीकार कर एकहत्तर (७१) वर्ष इस चारित्र को पालन करे तो इसका जघन्य काल एक सौ बयालीस (१४२) वर्ष होता है। यह काल बीस पृथक्त्व (१८०) वर्ष के अन्दर है। अतः इसका काल बीस पृथक्त्व कहा गया है।

यह चारित्र तीर्थंकर या तीर्थंकर के हाथ से दीक्षित ही दे सकते हैं अन्य कोई नहीं। अतः उसके बाद इस चारित्र की परम्परा नहीं चलती है।

उत्कृष्ट काल

कोडिसयसहस्साइं पन्नासं हुंति उयहिनामाणं ।

दो पुव्वकोडिऊणा नाणाजीवेहि उक्कोस्सं ।।२३८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— छेदोपस्थापनीय का उत्कृष्ट काल पचास लाख कोटि सागरोपम तथा परिहारविशुद्धि का उत्कृष्ट काल देशोन दो पूर्व क्रोड वर्ष अनेक जीवों के आश्रय से समझना चाहिये।

विवेचन— छेदोपस्थापनीय— अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में इसका उत्कृष्ट काल पचास लाख कोटि सागरोपम होता है। अन्य तीर्थंकर अर्थात् दूसरे तीर्थंकर से बाईसवें तीर्थंकर के काल में इसका अभाव है, क्योंकि उनके शासनकाल में मात्र सामायिक चारित्र होता है।

परिहारविशुद्धि— अनेक जीवों की अपेक्षा इसका काल देशोन दो पूर्वकोटि वर्ष है। वह इस प्रकार है— अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर के पास पूर्वकोटि वर्षायु वाले नवसाधुओं का गण उनतीस वर्ष की उम्र के बाद परिहारविशुद्धि चारित्र स्वीकार करे तथा यावज्जीवन पालन करे। इन्हीं से फिर पूर्व कोटी वर्षायु वाले नव साधुओं का दूसरा गण यह चारित्र स्वीकार कर यावज्जीवन पालन करे। इसके बाद फिर कोई यह चारित्र स्वीकार नहीं कर सकता, कारण पूर्व में कहा गया है कि यह चारित्र तीर्थंकर या तीर्थंकर के हस्तदीक्षित ही देने के अधिकारी हैं अन्य कोई नहीं। इस प्रकार अट्ठावन (२९+२९=५८) वर्ष कम दो पूर्व कोटि वर्ष तक इस चारित्र की सतत् विद्यमानता/सम्भावना है।

ये दोनों चारित्र प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों के काल में ही होता है। बाईस तीर्थंकर के काल में तथा महाविदेह क्षेत्र में इसका अभाव है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में पूछा गया है कि हे भगवन्— छेदोपस्थापनीय संयत का काल कितना है?

हे गौतम ! जघन्य से ढाई सौ वर्ष तथा उत्कृष्ट से पचास लाख कोटि सागरोपम काल है।

हे भगवन् ! परिहारविशुद्धि का काल कितना है?

हे गौतम ! जघन्य से बीस पृथक्त्व वर्ष तथा उत्कृष्ट से दो पूर्वकोटि वर्ष है।

सामायिक तथा यथाख्यातचारित्र

इन गाथाओं में सामायिक आदि चारित्र का काल वर्णन नहीं किया गया इसका क्या कारण है? क्योंकि सामायिक चारित्र तथा यथाख्यातचारित्र महाविदेह में अविच्छिन्न रूप से वर्तते हैं— अर्थात् इनका किसी भी काल में अभाव न होने से इनका अन्तर जघन्य या उत्कृष्ट काल नहीं होता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र— सूक्ष्मसम्पराय चारित्र का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण ही जानना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगों का काल (अनेकजीवाश्रयी)

पल्लासंखियभागो वेउव्वियमिस्सगाण अणुसारो।

भिन्नमुहुत्तं आहारमिस्ससेसाण सव्वद्धं ।।२३९।।

गाथार्थ— वैक्रियमिश्र काययोग का सततकाल पल्योपम के असंख्यात के भाग जितना है तथा आहारकमिश्र काययोग का सततकाल अन्तर्मुहूर्त परिमाण ही होता है। शेष योग सदैव होते रहते हैं।

विवेचन—वैक्रियमिश्र काययोग— जिसमें वैक्रिय काय का कार्मण काय के साथ योग होता है, वह वैक्रिय मिश्र काययोग है। नरक तथा देवगति में पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमाण उत्कृष्ट से वैक्रियमिश्र काययोग सतत प्राप्त है, उसके बाद उसका विरह है।

वैक्रिय लब्धिधारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य वैक्रियशरीर का आरम्भ या वैक्रिय शरीर का त्याग करते समय वैक्रिय मिश्रकाय योग वाले होते हैं, ये हमेशा होते हैं। इनका विच्छेद कभी नहीं होता है। सामान्यत: नरक में सदा होते हैं।

आहारकमिश्र काययोग— औदारिक शरीर के साथ आहारक शरीर का मिश्रण आहारकमिश्र काययोग कहलाता है। वह अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। पन्द्रह कर्म-भूमियों में चौदह पूर्वों के धारक मुनि सतत रूप से अन्तर्मुहूर्त तक ही आहारक मिश्र काययोग में होते हैं। उसके बाद या तो मात्र आहारक काययोग होता है या उसका अभाव होता है।

औदारिकमिश्र काययोग तथा औदारिक काययोग— ये दोनों ही असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की राशि के समतुल्य होते हैं, क्योंकि ये दोनों काययोग सामान्यत: तिर्यञ्च तथा मनुष्यों में अविच्छिन्न (सतत) रूप से होते हैं।

कार्मण काययोग— कार्मण काययोग तो सर्वसंसारी जीवों को हमेशा होता है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता।

शेष सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग तो विभिन्न जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल में ही होते हैं।

औदारिक शरीर तथा वैक्रिय शरीर सतत रहते हैं पर आहारक शरीर का कभी-कभी उत्कृष्ट से लोक में छ: माहपर्यन्त अभाव होता है तथा एक समय में आहारक शरीर जघन्य से एक, दो, तीन, चार तक होते हैं तथा उत्कृष्ट से एक समय में एक साथ सहस्र पृथक्त्व (१०००से लेकर ९०००) तक होते हैं।

इस प्रकार जीवसमास की भवस्थिति, कायस्थिति तथा गुणविभाग स्थिति विषयक काल की चर्चा हुई। अब ग्रन्थकार इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

एत्थ य जीवसमासे अणुमज्जिय सुहुमनिउणमइकुसले।

सुहुमं कालविभागं विभएज्ज सुयम्मि उवउत्तो ।।२४०।।

गाथार्थ—सूक्ष्म तथा निपुण मति से युक्त कुशल जीवों को इस जीवसमास रूपी सागर में डुबकी लगा करके श्रुतज्ञान में उपयोग वाले होकर सूक्ष्म काल विभाग को जानना चाहिये।

अजीव द्रव्य का काल

तिण्णि अणाइअणंता तीयद्धा खलु अणाइया संता ।

साइअणंता एसा समओ पुण वट्टमाणद्धा ।।२४१।।

गाथार्थ—तीन द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। काल द्रव्य तीन प्रकार का है। उसमें १. अनादि-सान्त, २. सादि-अनन्त तथा ३. वर्तमान काल "समय" रूप है।

विवेचन—तीनों द्रव्य अर्थात् १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय तथा ३. आकाशास्तिकाय ये अनादिकाल से हैं तथा अनन्तकाल तक रहेंगे।

काल द्रव्य भी सामान्यत: तो अनादि-अनन्त ही है पर विशेष रूप से विचार करने पर उसके तीन भेद हैं— १. भूत, २. वर्तमान तथा ३. भविष्य। अद्धा से आशय काल का है। इनमें भूतकाल अनादि-सान्त होता है, २. वर्तमान काल "समय" रूप होता है तथा ३. भविष्यकाल सादि-अनन्त होता है।

पुद्गल का काल

कालो परमाणुस्स य दुपएसाईणमेव खंधाणं ।

समओ जहण्णमियरो उस्सप्पिणिओ असंखेज्जा।।२४२।।कालद्वारं५

गाथार्थ—परमाणु तथा द्विप्रदेशी आदि विभिन्न स्कन्धों का काल जघन्यत: एक समय तथा उत्कृष्टत: असंख्यात उत्सर्पिणी पर्यन्त समझना चाहिये।

विवेचन—परमाणु, द्वयणुक, त्रयणुक, चतुरणुक आदि स्कन्धों का सत्ताकाल जघन्यत: से एक समय तथा उत्कृष्टत: असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालपर्यन्त समझना चाहिये।

पाँचवां "कालद्वार" समाप्त

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर-द्वार

१. उपपात स्थान

अन्तर-काल की परिभाषा—

जस्स गमो जत्थ भवे जेण य भावेण विरहिओ वसइ।
जाव न उवेइ भावो सो चेव तमंतरं हवइ।।२४३।।

गाथार्थ—जीव की जिस गति और जिस पर्याय अर्थात् अवस्था को छोड़कर अन्य किसी गति या अवस्था (पर्याय) में उत्पत्ति हुई हो, जब तक पुनः उसी गति या अवस्था की प्राप्ति नहीं हो तब तक के काल को अन्तर-काल कहते हैं।

विवेचन—जो जीव जिस गति को या जिन भावों (पर्यायों) को छोड़कर आया है उन्हें जब तक पुनः प्राप्त न कर ले, तब तक के काल को अन्तर काल कहते हैं, यथा-कोई जीव देवगति से मनुष्यगति में आया और जब तक वह पुनः देवगति प्राप्त न कर ले तब तक का काल देवगति का अन्तर-काल है।

सव्वा गई नराणं सन्नितिरिक्खाण जा सहस्सारो।
घम्माएँ भवणवंतर गच्छइ सयलिंदिय असण्णी ।।२४४।।

गाथार्थ— मनुष्यों की गति सर्वत्र है। संज्ञी तिर्यञ्च सहस्रार देवलोक तक जाते हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय घम्मानरक, भुवनपति तथा व्यन्तर-देव में जाते हैं।

विवेचन—मनुष्य मरकर चारों ही गतियों में जन्म ले सकता है। चारों गतियों के अतिरिक्त मनुष्य पंचमगति मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच भी चारों गतियों में जन्म ले सकते हैं पर मनुष्य की अपेक्षा उनकी देवगति का व्याप्ति-क्षेत्र कम है यथा- वैमानिक देवों में वे मात्र आठवें सहस्रार देवलोक तक ही जन्म ले सकते हैं।

असंज्ञी-पंचेन्द्रिय भी चारों गतियों में जन्म ले सकते हैं परन्तु संज्ञी-पंचेन्द्रिय की अपेक्षा उनका क्षेत्र सीमित होता है। संज्ञी-पंचेन्द्रिय सातवीं नरक तक जन्म ले सकता है परन्तु असंज्ञी-पंचेन्द्रिय मात्र प्रथम घम्मा नरक तक ही जन्म ले सकते हैं। आयु में भी वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमाण आयु वाले होते हैं, अधिक नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवगति में भी मात्र भवनपति तथा व्यन्तर में जन्म ले सकते हैं। उनकी अधिकतम आयु भी प्रथम नरक की आयु के समतुल्य ही होता है।

तिरिएसु तेउवाऊ सेसति-रिक्खा य तिरियमणुएसु।

तमतमया सयलपसू मणुयगई आणयाईया ।। २४५।।

गाथार्थ— तेजस्काय तथा वायुकाय के(एकेन्द्रिय तिर्यंच)जीव तिर्यञ्च में ही उत्पन्न होते हैं। शेष तिर्यंच अर्थात् पृथ्वीकाय, अपकाय् तथा वनस्पतिकायादि के जीव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यगति में भी उत्पन्न हो सकते हैं। तमतमा अर्थात् सातवीं नरक के नारकी मात्र पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में हीं जन्म लेते हैं तथा आनत आदि देवलोकों के देव मनुष्यगति में ही उत्पन्न होते हैं।

विवेचन— तेजस्काय तथा वायुकाय के जीव मात्र तिर्यञ्च गति में ही उत्पन्न होते हैं, नरकदेव तथा मनुष्यगति में उत्पन्न नहीं होते हैं। शेष पृथ्वीकाय; अप्काय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यञ्च गति तथा मनुष्यगति में जन्म ले सकते हैं किन्तु नारक तथा देवगति में नहीं।

सातवीं नरक के नारकी जीव मात्र तिर्यंच गति में जन्म लेते हैं, मनुष्य गति में नहीं। वृहद्संग्रहणी गाथा २९३ तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति- सूत्र के चौबीसवें शतक के इक्कीसवें उद्देशक में भी यही बात कही गई है (नो अहेसत्तम पुढविनेरइेहिंतो उववज्जंति)

आनतादि— ऊपर के देवलोक के देव मरकर मात्र मनुष्य ही बनते हैं।

देवगति वाले कहाँ-कहाँ जन्म ले सकते हैं इसे अगली गाथा में स्पष्ट किया गया है।

विशेष— नारकी जीवों में प्रथम नरक से निकलकर चक्रवर्ती, प्रथम एवं दूसरे नरक से निकलकर बलदेव या वासुदेव; प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरकों से निकलने वाले जीव तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार चौथी नरक से निकलने वाले जीव केवलज्ञान, पांचवी नरक से निकलने वाले जीव सर्वविरति चारित्र अर्थात् संयम, छठी नरक से निकलने वाले जीव देशविरति चारित्र या अणुव्रत तथा सातवीं नरक से निकलने वाले जीव समकित प्राप्त कर सकते हैं। (वृहद्संग्रहणी, गाथा २९१-२९२)

नरक से निकलने वाले जीव निश्चय ही गर्भज,पर्याप्त संख्यात आयुवाले मनुष्य या तिर्यञ्चगति में जन्म लेते हैं, अन्यत्र नहीं। (वृहद्संग्रहणी, गाथा-२९०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गर्भज से सम्मूर्च्छिम, पर्याप्त कहने से अपर्याप्त तथा संख्यात आयुवाले कहने से असंख्यात आयु वाले युगलिकों का स्वतः निषेध हो गया है।

शेषनारक तथा देव की उत्पत्ति—

पंचेन्द्रियतिरियनरे सुरनेरइया य सेसया जंति।
अह पुढविउदय हरिए ईसाणंता सुरा जंति ।।२४६।।

गाथार्थ— शेष देव तथा नारकी जीव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्य गति में जन्म ले सकते हैं। ईशान देवलोक तक के देव पृथ्वीकाय, अप्काय तथा वनस्पति काय में भी जन्म ले सकते हैं।

विवेचन— आनत-प्राणत आदि के ऊपर वाले देवों को छोड़कर शेष अर्थात् भवनपति, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देव तथा वैमानिक देवों में सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र तथा सहस्रार देवलोक के देव तिर्यञ्च तथा मनुष्य दोनों गतियों में जाते हैं।

नारक— सातवीं तमःतमप्रभा नरक को छोड़कर शेष छह नरक के नारकी तिर्यञ्च तथा मनुष्य दोनों गति में जन्म ले सकते हैं। (सातवीं नरक के जीव मात्र तिर्यञ्च में ही जाते हैं)

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक में सौधर्म तथा ईशान देवलोक के देव पृथ्वीकाय, अप्काय तथा वनस्पतिकाय में जन्म ले सकते हैं। इससे ऊपर के छह देवलोकों के देव अर्थात् सहस्रार देवलोक तक देव, तिर्यंच या मनुष्य गति में जन्म ले सकते हैं, किन्तु एकेन्द्रिय में नहीं। आठवें देवलोक से ऊपर वाले तो मात्र मनुष्य गति में ही जन्म लेते हैं, अन्य में नहीं।

२. अन्तर अभाव-काल

एकेन्द्रिय

चयणुववाओ एगिंदियाण अविरहियमेव अणुसमयं।
हरियाणंता लोगा सेसा काया असंखेज्जा ।।२४७।।

गाथार्थ— एकेन्द्रिय जीव का च्यवन (मृत्यु) तथा उपपात (जन्म), अविरहित (निरन्तर) रूप से प्रत्येक समय होता रहता है। उसमें भी प्रत्येक समय में अनन्त वनस्पतिकायिक जीव तथा असंख्यात शेष सभी कायों के जीव मरते हैं तथा उत्पन्न होते हैं।

विवेचन— च्यवन अर्थात् मरण। उपपात अर्थात् जन्म। एकेन्द्रिय जीवों का जन्म और मरण निरन्तर अर्थात् प्रति समय होता रहता है। निरन्तर इनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जन्म-मरण होने से इसमें अन्तर (विरह) काल नहीं होता।

इनमें प्रतिसमय अनन्त वनस्पतिकायिक जीव और असंख्यात अन्य कायिक जीव जन्म-मरण करते हैं।

त्रसकाय

आवलियअसंखेज्जइभागोऽसंखेज्जरासि उववाओ।

संखियसमये संखेज्जयाण अट्ठेव सिद्धाणं ।।२४८।।

गाथार्थ—वर्गों के जिन जीवों का परिमाण असंख्यात है उनका निरन्तर जन्म (उपपात) आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं उतने समय तक जानना चाहिए। जिन वर्गों के जीवों की संख्या संख्यात हैं उनका निरन्तर जन्म संख्यात समय तक और सिद्धों का निरन्तर उपपात आठ समय का जानना चाहिये। उसके पश्चात् अन्तराल अवश्य होता है।

विवेचन—एकेन्द्रिय का विवेचन पूर्ण हुआ, उसी क्रम में अब त्रसकाय का विवेचन किया जाता है। यहाँ मूल (गाथा) में त्रस शब्द न आने पर भी बुद्धि से उसका ग्रहण कर लेना चाहिये।

असंख्यात—जिसवर्ग (राशि) में जीवों की मात्रा असंख्यात होती है वे जीव असंख्यात राशि वाले कहलाते हैं।

वे राशियाँ अर्थात् वर्ग इस प्रकार हैं—१. द्वीन्द्रिय २. त्रीन्द्रिय ३. चतुरिन्द्रिय ४. पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ५. संमूर्च्छिम मनुष्य ६. अप्रतिष्ठान नरकावास के नारक जीवों के अतिरिक्त शेष सभी नारक तथा ७. सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों के अतिरिक्त शेष सभी देव।

इन त्रस समुदाय रूप सातों राशियों अर्थात् वर्गों के जीव सातों ही राशियों में जन्म-मरण, च्यवन और उपपात करते रहते हैं।

प्रश्न— यह निरन्तर उत्पत्ति कब तक होती है?

उत्तर—उत्कृष्ट से यह निरन्तर उत्पत्ति आवलिका के असंख्यातवें भाग जितने समय-परिमाण तक होती है। उसके बाद अन्तराल होता है द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, प्रत्येक का यह अन्तराल जघन्य से एक समय का तथा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त परिमाण आगम में कहा गया है। (प्रज्ञापना-सूत्र ५८१-५८३)

संख्यात— १. गर्भज मनुष्य २. अप्रतिष्ठान नरक के नारकी तथा ३. सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव—इन तीनों ही वर्गों अर्थात् राशियों में प्रत्येक में संख्यात जीव होने से तीनों राशियों में प्रत्येक में उपपात (जन्म) तथा मरण (च्यवन) संख्यात समय तक सतत् होता है, उसके बाद अन्तर (विरह) पड़ना सम्भव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन तीनों ही राशियों में जघन्य से एक, दो, तीन, चार आदि उत्कृष्ट से संख्यात जीव उत्पन्न होते हैं। यें तीनों राशियाँ संख्यात परिमाण वाली हैं।

संख्यात में असंख्यात का मरण (च्यवन) तथा उपपात (जन्म) नहीं हो सकता।

सिद्ध—सिद्धों के उपपात की निरन्तरता आठ समय तक होती है (अर्थात् सिद्ध गति में जीव आठ समय तक निरन्तर जा सकते हैं) परन्तु उनका च्यवन अर्थात् मरण नहीं होता अर्थात् वे अपने स्थान से च्युत नहीं होते। इस प्रकार इस गाथा में असंख्यात रूप सात राशियों, संख्यात रूप तीन राशियों तथा सिद्धों के च्यवन तथा उपपात की चर्चा की गई है।

सिद्ध

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीई छण्णउइ दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च ।।२४९।।

गाथार्थ—बत्तीस, अड़तालीस, साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानवें, एक सौ दो, एक सौ आठ—इस प्रकार क्रमशः अधिकतम आठ समय से लेकर न्यूनतम एक समय में सिद्ध होते हैं।

विवेचन—इस गाथा को निम्नलिखित गाथा से संयोजित करके गाथा को जानना चाहिये—

अट्ठय, सत्तय, छप्पय चेव चत्तारि, तिन्नि, दो, एक्कं।
बत्तीसाइ पएसुं समया भणिया जहासंखं।।

उपर्युक्त गाथा में क्रमशः आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एक का संयोजन करना।

१. जब प्रति समय कम से कम एक तथा उत्कृष्ट से बत्तीस (३२) सिद्ध हों तो सतत् रूप से आठ समय तक सिद्ध होते हैं।

२. जब तैंतीस (३३) से लेकर अड़तालीस (४८) तक प्रति समय सिद्ध होते हैं तब निरन्तर सात समय तक सिद्ध होते हैं।

३. जब प्रतिसमय उनपचास (४९) से लेकर साठ (६०) तक सिद्ध हों तब सतत रूप से छह समय तक सिद्ध होते हैं।

४. जब प्रतिसमय इकसठ (६१) से लेकर बहत्तर (७२) तक सिद्ध हों तब सतत रूप से पाँच समय तक सिद्ध होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. जब प्रतिसमय तिहत्तर (७३) से लेकर चौरासी (८४) तक सिद्ध हों तब सतत रूप से चार समय तक सिद्ध होते हैं।

६. जब पच्चासी (८५) से लेकर छियानवें (९६) तक प्रतिसमय सिद्ध हों तब निरन्तर तीन समय तक सिद्ध होते हैं।

७. जब प्रतिसमय सत्तानवें (९७) से लेकर एक सौ दो (१०२) तक सिद्ध हों तब निरन्तर दो समय तक सिद्ध होते हैं।

८. जब कम से कम (जघन्य) एक सौ तीन (१०३) तथा अधिकतम (उत्कृष्ट) एक सौ आठ (१०८) सिद्ध हों तब वे एक समय में सिद्ध होते हैं। उसके बाद अवश्य ही अन्तराल होता है।

(वृहदसंग्रहणी, गाथा-३४७)

इस प्रकार इन गाथाओं में जीव स्थानकों में जब तक अन्तर नहीं होता तब तक का काल बताया गया है। अब कहाँ-कहाँ जीव स्थानकों में अन्तर होता है उसका विवेचन किया जा रहा है।

नोट— (यह गाथा वृहद्संग्रहणी में यथावत् विद्यमान है।)

३ अन्तर-द्वार

नारक, तिर्यंच, मनुष्य

चउवीस मुहुत्ता सत्त दिवस पक्खो य मास दुग चउरो।

छम्मासा रयणाइसु (छप्पलमाइसु बारस) चउवीस मुहुत्त सण्णियरे।।२५०।।

गाथार्थ— चौबीस मुहूर्त सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास, दो मास, चार मास और छः मास क्रमशः रत्नप्रभा आदि सात नरकों में अधिकतम अन्तर-काल जानना चाहिये। संज्ञी तथा इतर (असंज्ञी मनुष्य) का अन्तर-काल अधिकतम चौबीस मुहूर्त का होता है।

विवेचन— नरकों में प्रायः नारकी जीव सतत रूप से उत्पन्न होते रहते हैं। उनमें कभी-कभी ही अन्तराल पड़ता है। यह अन्तराल न्यूनतम सभी नरकपृथ्वियों में एक समय का होता है, किन्तु अधिकतम अन्तराल प्रत्येक नरक में इस प्रकार है—

१. रत्नप्रभा पृथ्वी में चौबीस मुहूर्त का, २. शर्कराप्रभा में सात दिन का, ३. बालुकाप्रभा में पन्द्रह दिन का ४. पंकप्रभा में एक मास का ५. धूमप्रभा में दो मास का ६. तमस्तमप्रभा में चारमास का तथा ७. तमस्तमप्रभा में छः मास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का उत्कृष्ट उत्पत्ति विरह-काल है। ठीक इसी प्रकार से सातों नरक में च्यवन का विरह काल जानना चाहिये। (प्रज्ञापनासूत्र, सूत्र ५६९ से ५७५)

सभी नरकों का सामान्य अन्तर-काल प्रज्ञापनासूत्रादि में इस प्रकार बताया है— 'हे भगवान्! नरक गति कितने काल तक उपपात रहित होता है? हे गौतम! जघन्यतः एक समय तक तथा उत्कृष्टतः बारह मुहूर्त तक जानना चाहिए।'

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब सातों पृथ्वियों का अलग-अलग काल परिमाण कहा, तो फिर सामान्य से क्यों कहा?

इसका कारण है कि नरकगति में सातों नरकों का समूह रूप है जैसे एक मकान में सात मंजिलें होती हैं परन्तु कुल मिलाकर वह एक ही मकान कहा जाता है। सभी मंजिल में विभिन्न गोत्र के लोगों के रहने पर भी वे सभी एक ही मकान के निवासी कहे जाते हैं। उसी प्रकार सातों नरकों के निवासी सामान्यतः नारक ही कहे जाते हैं। नारक समुदाय का उत्कृष्ट विरहकाल (अन्तरकाल) बारह मुहूर्त कहा गया है।

संज्ञी तिर्यञ्च तथा मनुष्यों का विरह-काल— मूल गाथा में संज्ञी व इतर शब्द दिया है तथा उसका अन्तर काल चौबीस मुहूर्त बताया गया है। प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र ५६१-५६२) के अनुसार— हे भगवान्! तिर्यञ्च गति कितने काल तक उपपात (उत्पत्ति) रहित होती है? हे गौतम! जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से बारह मुहूर्त तक। इसी प्रकार से मनुष्य का विरह काल भी जानना चाहिये। (बृहद्संग्रहणी, गाथा ३३७ एवं ३४०)

सभी संज्ञी (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव) का जघन्य अन्तर-काल एक समय का तथा उत्कृष्ट अन्तर-काल बारह मुहूर्त का है। (प्रज्ञापना सूत्र, ५६० से ५६३)

असंज्ञी (सम्मूर्च्छिम) पञ्चेन्द्रिय तथा मनुष्य का अन्तर-काल

गाथा में संमूर्च्छिम तिर्यञ्च का विरह-काल भी नहीं बताया गया है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट अन्तर-काल अन्तर मुहूर्त का जानना चाहिए—(प्रज्ञापनासूत्र, सूत्र ५८१ से ५८४) एवं-(बृहद्संग्रहणी गाथा-३३६)

मूलगाथा में सम्मूर्च्छिम मनुष्य का अन्तरकाल उत्कृष्टतः चौबीस मुहूर्त बताया गया है। जघन्यतः तो सभी का विरह-काल एक समय का होता है। (प्रज्ञापनासूत्र-५८५ तथा बृहद्संग्रहणी, गाथा-३४०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रसकायादि

थावरकालो तसकाइयाण एगिंदियाण तसकालो।
बायरसुहुमे हरिएअरे य कमसो पउंजेज्जा ।।२५१।।

गाथार्थ—त्रसकाल का अन्तर-काल स्थावरकाय के स्थितिकाल के समुतल्य है। एकेन्द्रिय का अन्तरकाल त्रस जीवों की काय-स्थिति के काल के समतुल्य होता है। बादरकाय का विरह काल सूक्ष्मकाय की काय-स्थिति के समतुल्य होता है। सूक्ष्मकाय का अन्तरकाल बादरकाय की काय-स्थिति जितना होता है। वनस्पतिकाय का अन्तरकाल पृथ्वीकायादि के काय-स्थिति के समतुल्य होता है तथा पृथ्वीकायादि का अन्तरकाल वनस्पतिकाय की काय-स्थिति के समान होता है।

विवेचन—त्रसकाय का परित्याग कर अन्यकाय में जन्म लेकर पुनः त्रसकाय को प्राप्त करने का अन्तर-काल स्थावरकाय की काय-स्थिति के समतुल्य अर्थात् आवलिका का असंख्यातवां भाग राशि परिमाण पुद्गल परावर्तन रूप है।

एकेन्द्रिय—एकेन्द्रियकाय छोड़कर पुनः एकेन्द्रियकाय को प्राप्त करने का उत्कृष्ट अन्तर-काल त्रसकाल के स्थिति परिमाण अर्थात् साधिक दो हजार सागरोपम परिमाण है।

बादर—बादर-नाम कर्मोदय वाले पृथ्वी आदि का पुनः पृथ्वीकायादि में जन्म लेने का उत्कृष्ट विरह-काल सूक्ष्म जीवों का स्थितिकाल परिमाण अर्थात् असंख्यात लोकाकाश प्रदेश-राशि में प्रत्येक का अपहरण करते हुए असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाणकाल जानना चाहिए।

सूक्ष्म—सूक्ष्म पृथ्वीकायादि में से निकलकर पुनः सूक्ष्मकाय में जन्म लेने का उत्कृष्ट अन्तर-काल बादर जीव का स्थितिकाल परिमाण अर्थात् सत्तर कोटा-कोटी सागरोपम का है।

वनस्पतिकाय—वनस्पतिकाय का पुनः वनस्पतिकाय में जन्म लेने का उत्कृष्ट विरहकाल पृथ्वीकाय आदि का स्थिति-काल अर्थात् असंख्यात लोकाकाश की प्रदेश राशि का प्रत्येक समय अपहरण करने पर जितना उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल व्यतीत होता है उतने काल परिमाण जानना चाहिये।

पृथ्वीकायादि—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा वायुकाय में से निकल कर जीव पुनः इन्ही कायों को प्राप्त करने का अन्तर-काल वनस्पतिकाय के काय-स्थिति के समुतल्य स्थिति अर्थात् आवलिका का असंख्यातवें भाग में रहे समय जितना पुद्गल परावर्तन स्वरूप काल तुल्य जानना चाहिये।

जघन्य से सभी का अन्तर-काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण जानना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकेन्द्रियादि

हरिएयरस्य अन्तर असंखया होंति पोग्गलपरट्टा।
अड्डाइज्जपरट्टा पत्तेयतरुस्स उक्कोसं ।।२५२।।

गाथार्थ— वनस्पति के अतिरिक्त अन्य एकेन्द्रियों का उत्कृष्ट अन्तर-काल असंख्यात पुद्गल परावर्तनकाल के समतुल्य है। प्रत्येक वनस्पतिकाय आदि का उत्कृष्ट अन्तर-काल अढाई पुद्गलपरावर्तनकाल है।

विवेचन— १.हरितकाय (वनस्पति) से इतरकाय, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय तथा त्रसकाय है। वनस्पतिकाय के अतिरिक्त इन पृथ्वीकाय आदि चारों कायों में से निकलकर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने का अन्तरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्यातवें भाग में रही हुई समय-राशि में जितने समय होते हैं उतने ही पुद्गल परावर्तनकाल के समतुल्य होते हैं।

२. प्रत्येक काय से आशय साधारण वनस्पतिकाय के अतिरिक्त शेष सभी (पाँचों) कायों से हैं। प्रत्येक शरीर राशि में से निकलकर जीव साधारण शरीर में उत्पन्न हो और पुनः प्रत्येक शरीर में जन्म ले तो उसका अन्तर-काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्टतः अढाई पुद्गल परावर्तन काल जितना बताया गया है। अढाई पुद्गल परावर्तन जितने काल तक साधारण वनस्पति काय में रहने के बाद पुनः जीव प्रत्येक काय (प्रत्येक शरीर) में जन्म लेता है।

प्रज्ञापनासूत्रसूत्र ५७९-५८० के अनुसार सामान्यतः पाँचों ही एकेन्द्रिय जीवों का उपपात (जन्म) निरन्तर होता है, उनमें अन्तर-काल नहीं होता है। वे उपपात-विरह से रहित हैं।

बादर निगोद, तिर्यञ्च आदि

बायरसुहुनिओया हरियत्ति असंखया भवे लोगा।
उयहीण सयपुहुत्तं तिरियनपुंसे असण्णी य ।।२५३।।

गाथार्थ— बादर निगोद, सूक्ष्मनिगोद तथा वनस्पतिकाय का अन्तर-काल असंख्यात लोक परिमाण होता है। तिर्यञ्चगति, नपुंसकवेद तथा असंज्ञी का अन्तरकाल शतपृथक्त्व अर्थात् (१०० से ९००) सागरोपम जितना होता है।

विवेचन— निगोद-निकृष्ट गोदः इति निगोद अर्थात् सबसे निम्न स्थान निगोद का है क्योंकि निगोद में जीव नारक जीवों की अपेक्षा अधिक वेदना भोगता है।

अनन्त जीवों के पिण्डभूत एक शरीर को निगोद कहते हैं, यथा जमीकन्द— गाजर, मूली, अदरक, आलू आदि। सूई के अग्रभाग जितने क्षेत्र में बादर निगोद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अनन्त जीव रहते हैं। सूक्ष्म निगोद के जीव तो उससे भी अधिक होते हैं। कहा है —

गोलाय असंखिज्जा, संखनिगोयगोलओ भणिओ।
इक्किकक्कम्मि निगोए अनन्त जीवा गुणेयत्वा ।।१।।

असंख्य निगोद के समुदाय रूप एक गोला होता है। लोकाकाश के जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही सूक्ष्म निगोद जीवो के गोले हैं। एक-एक गोले में असंख्यात निगोद हैं। एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों काल के समय प्रदेशों की जो संख्या होती , उससे अनन्तगुणा जीव एक-एक निगोद में हैं। निगोद के दो प्रकार हैं—

१. **व्यवहार राशि—** जो एक बार निगोद से निकल कर पुनः निगोद में जन्म लेते हैं, वे निगोद के जीव व्यवहार राशि कहलाते हैं।

२. **अव्यवहार राशि—** अव्यवहार राशि के सम्बन्ध में कहा गया है—

अत्थि अणंता जीवा जेहि न पतो तसत्त परिणामो।
उप्पज्जंति चयंति य पुणो वि तत्थेव तत्थेव ।।१।।

अर्थात्— ऐसे जीव अनन्त हैं जिन्होंने कभी त्रसत्व भाव को प्राप्त ही नहीं किया है, निगोद में ही पुनः-पुनः जन्म-मरण करते हैं। ये निगोद के जीव एक श्वांस में साढे सत्तरह बार (१७ बार मरण तथा १८ बार जन्म) जन्म-मरण करते हैं। निगोद के जीव अत्यन्त अल्पायु वाले होते हैं।

बादरनिगोद, सूक्ष्मनिगोद तथा वनस्पतिकाय का अन्तरकाल असंख्यात लोक परिमाण (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

तिर्यञ्च— तिर्यञ्च में से निकलकर तीनों गतियों में भ्रमण कर पुनः तिर्यञ्चत्व प्राप्त करने का अन्तर-काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतः साधिक सौ सागरोपम पृथक्त्व काल है।

नपुंसक— जीव नपुंसक वेद को छोड़कर पुनः नपुंसकता प्राप्त करे। इसका उत्कृष्ट अन्तर-काल साधिक सौ सागरोपम तुल्य होता है।

असंज्ञी— संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के अतिरिक्त सभी जीव असंज्ञी हैं। असंज्ञी का अर्थ है विवेकशील से रहित। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक जीव असंज्ञी कहलाते हैं।(सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय का ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि उनका अन्तर-काल वनस्पति की काय-स्थिति के तुल्य होता है और यह काल असंख्यात पुद्गलपरावर्तन के काल जितना है। यह काल गाथा के अनुसार नहीं है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः यहाँ असंज्ञी से आशय सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष सभी द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय हैं।

देवलोकों का एक जीव आश्रित जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर-काल (एक जीवाश्रित)

जावीसाणं अंतोमुहुत्तमपरं सणकुसहसारो।
नव दिण मासा वासा अणुत्तरोक्कोस उयहिदुगं।।२५४।।

गाथार्थ—ईशान देवलोक तक के देवों का न्यूनतम अन्तराल अन्तर्मुहूर्त, सनत्कुमार से सहस्रार तक के देवों का नौ दिन, आनत से अच्युत तक के देवों का नौ मास, नवग्रैवेयकों का नौ वर्ष होता है। सर्वार्थसिद्ध विमानवासियों को छोड़कर शेष अनुत्तर विमानवासी देवों का उत्कृष्टतः अन्तर-काल दो सागरोपम है।

विवेचन—भवनवासी देवों से ईशान तक के देवों का अन्तर-काल ग्रन्थकार ने अन्तर्मुहूर्त बताया है- यदि कोई देव च्यवकर अर्थात् देव शरीरत्याग कर मछली आदि में जन्म लेकर पुनः देव बने तो अन्तरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त होता है किन्तु उत्कृष्टतः वनस्पति आदि में जाने पर आवलिका के असंख्यातवें भाग में रहे असंख्यात समय प्रदेशों की संख्या के समतुल्य असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल जितना हो सकता है। ग्रंथकार के अनुसार जघन्य से सनत्कुमार से लेकर सहस्रार के देवों में यदि कोई देव च्यवकर पुनः उस ही स्थान में जन्म ले तो कम से कम वह नौ दिन पूर्व जन्म नहीं ले सकता। इसी प्रकार आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत के देवलोक के देव च्यवकर नौ मास से पूर्व पुनः उसी देवभव को प्राप्त नहीं कर सकते।

नव ग्रैवेयकों के देव तथा चार अनुत्तर विमानवासी देव नौ वर्ष से पूर्व उनमें पुनः जन्म नहीं ले सकते हैं। किन्तु चारों अनुत्तरविमान वासी देवों की उत्कृष्टतः विरह स्थिति ग्रंथकार ने दो सागरोपम के समतुल्य बतलाई है।

सर्वार्थसिद्ध विमान में तो अन्तर-काल है नहीं क्योंकि वहाँ से च्यवन के बाद पुनः वहाँ कोई जन्म लेता ही नहीं, वहाँ से च्यवकर जीव मनुष्यभव प्राप्त करके अन्त में मोक्ष को चला जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में अन्तर-काल का परिमाण इससे भिन्न बतलाया गया है।

देवलोक का सर्व-जीव-आश्रित उत्कृष्टतः अन्तर-काल

नवदिण वीसमुहुत्ता बारस दिण दस मुहुत्तया हुंति।
अद्धं तह बावीसा पणयाल असीइ दिवससयं।।२५५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संखेज्जमासवासा सया सहस्सा य सयसहस्सा य।
दुसु२ तिसु २ पंचसु अणुत्तरे पल्लऽसंखइमा।।२५६।।

गाथार्थ—प्रथम एवं दूसरे देवलोक का नौं दिन बीस मुहूर्त, तीसरे एवं चौथे देवलोक का बारह दिन दस मुहूर्त, पाँचवें, छठे एवं सातवें देवलोक का साढ़े बाईस दिन, आठवें, नवें एवं दसवें देवलोक का पैंतालीस दिन, ग्यारहवें देवलोक का अस्सी दिन तथा बारहवें देवलोक का सौ दिन। (२५५)

दो (आनत-प्राणत) मे संख्यातमास, दो (आरण-अच्युत) में संख्यात वर्ष, तीन (अधोग्रैवेयक) में सौ वर्ष, तीन (मध्य-ग्रैवेयक) में हजार वर्ष, तीन (ऊपरी ग्रैवेयक) में लाख वर्ष तथा पाँच अनुत्तर में पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग (उत्कृष्ट विरह-काल) है।

विवेचन—इन गाथाओं में देवलोकों का उत्कृष्ट विरह-काल बताया गया है। बृहद्संग्रहणी (गाथा १५१) एवं प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र-५७६ से ६०६) के अनुसार देवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल इस प्रकार बतलाया गया है—

१. भवनवासी, २. व्यंतर, ३. ज्योतिष्क तथा ४. वैमानिको में तथा सौधर्म से ईशान तक- जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त है। उसके बाद सभी का उत्कृष्टतः अन्तर-काल इस प्रकार है सनत्कुमार— नौ दिन बीस मुहूर्त, माहेन्द्र बारह दिन दस मुहूर्त, ब्रह्मलोक साढ़े बाईस दिन, लान्तक- पैंतालीस दिन, महाशुक्र- अस्सी दिन, सहस्रार- सौ दिन, आनत एवं प्राणत- संख्यात मास, आरण एवं अच्युत- संख्यात वर्ष।

ग्रैवेयकों में— अधः तीन ग्रैवेयक संख्यात सौ वर्ष। मध्य तीन ग्रैवेयक संख्यात सहस्र वर्ष। ऊपरि तीन ग्रैवेयक संख्यात लाख वर्ष है।

अनुत्तर में— विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित असंख्यात वर्ष तथा सर्वार्थसिद्ध में पल्योपम का संख्यातवाँ भाग है।

मिथ्यात्व का अन्तर-काल

मिच्छस्स उयहिनामा बे छावट्ठी परं तु देसूणा।
सम्मत्तमणुगयस्स य पुग्गलपरियट्टमदधूणं।।२५७।।

गाथार्थ—मिथ्यात्व का परित्याग करके पुनः मिथ्यात्व को ग्रहण करने का उत्कृष्ट का अन्तर-काल मुहूर्त से कुछ कम दो छियासठ (६६-६६) अर्थात एक सौ बत्तीस सागरोपम है, अन्य कुछ विचारकों के अनुसार इससे भी कम है। किन्तु सम्यक्त्व का वमन कर पुनः समक्त्व को प्राप्त करने का उत्कृष्ट अन्तर-काल अर्धपुद्गलपरावर्तन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— मिथ्यात्व त्याग कर सम्यक्त्व को पाने वाला उत्कृष्टत: पुन: मिथ्यात्व को कितने समय बाद प्राप्त करता है यह इस गाथा में बताया गया है। साधिक दो छियासठ सागरोपम काल अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम में अन्तरमुहूर्त से इसे इस प्रकार जानना चाहिये—

कोई मिथ्यात्व से (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में जाने वाला छियासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व में रहे फिर अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान को प्राप्त कर पुन: सम्यक्त्व को प्राप्त कर छियासठ सागरोपम काल तक उसमें रहे। उसके बाद या तो वह सिद्ध हो जाता है अथवा मिथ्यात्वी। इस आधार पर कुछ आचार्य मिथ्यात्व का उत्कृष्ट विरह-काल दो छियासठ सागरोपम से अन्तर्मुहूर्त कम मानते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में औपशमिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त कर क्रमश: उसका अनुगमन करता हुआ देशविरत प्रमत्तसंयत या सर्वविरत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण, सूक्ष्म-सम्पराय तथा उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्-दर्शन का वमन कर पुन: उसे अवश्य प्राप्त करते हैं, इसका उत्कृष्टत: अन्तर-काल अर्धपुद्गल परावर्तन है।

सम्यक्त्वानुगत अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक औपशमिक सम्यक्-दर्शन का अनुगमन वाला जीव इन सभी गुणस्थानों को छोड़ने के बाद अर्धपुद्गल परावर्तन कालपर्यन्त संसार परिभ्रमण कर पुन: उन्हें अवश्य प्राप्त करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व वाले अर्थात् क्षपक, क्षीणमोही तथा सयोगी केवली जीवों में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का अन्तर काल नहीं होता, क्योंकि इन सभी का पतन संभव नहीं है। अत: सम्यक्त्व सम्पन्न होते हुए भी इनका मिथ्यात्व या सम्यक्त्व के अन्तर-काल के परिगणन का समावेश नहीं किया गया है।

नोट— मुहूर्त अड़तालीस मिनिट। इसमें एक समय कम होने पर इसे अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है। अत: एक समय से लेकर अड़तालीस मिनिट से एक समय कम तक का सम्पूर्ण काल अन्तर्मुहूर्त में ही परिगणित किया जाता है।

जघन्यकाल

सासाणुवसमसम्मे पल्लासंखेज्जभागमवरं तु।
अंतोमुहुत्तमियरे खवगस्स उ अंतरं नत्थि।।२५८।।

गाथार्थ— सास्वादन गुणस्थान और औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य अन्तर-काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है। इतर (अन्य) गुणस्थानों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण है। क्षपक का अन्तर-काल नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन— सास्वादन गुणस्थानवर्ती तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि, सास्वादन गुणस्थान तथा उपशम सम्यक्त्व का त्याग कर पुनः उसे प्राप्त करता है उसका जघन्य अन्तर-काल पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग होता है।

यहाँ उपशम श्रेणी से पतित होते हुए सास्वादन गुणस्थानवर्ती अथवा औपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से विवक्षा न करते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि जिसने सम्यक्त्व और मिश्रपुञ्ज का उद्वर्तन किया है अथवा जिसके मोहनीय की छब्बीस प्रकृति सत्ता में है ऐसा मिथ्यात्वी पूर्व वर्णित क्रम से औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है और वही औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करते समय में पूर्व कथित न्याय से सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। ये दोनों ही गुणस्थानवर्ती चारों गति में हैं। दोनों विशेष होने से यहाँ इनका कथन किया गया है। दोनों कम से कम पल्योपम के असंख्यातवे भाग के पश्चात् ही किस प्रकार पूर्व स्थिति प्राप्त करते हैं वह बताते हैं— औपशमिक सम्यग्दृष्टि और सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव के मिथ्यात्व दशा में जाने के बाद सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय कर्मों का पुञ्ज सत्ता में रहता है। इन दोनों के सत्ता में रहने तक औपशमिक सम्यक्त्व तथा सास्वादन गुणस्थान की प्राप्ति संभव नहीं। वह उन सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय के दलिकों को मिथ्यात्व मोहनीय के पुञ्ज में प्रतिसमय डालता है इस प्रकार नाश करते हुए दोनों के दलिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में ही समाप्त होते हैं अर्थात् बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं— (ऐसा कर्म-प्रकृति में कहा गया है)। तब ही वह जीव सास्वादन गुणस्थान या औपशमिक सम्यक्त्व को पुनः प्राप्त कर सकता है।

शेष सभी अर्थात् प्रथम गुणस्थानवर्ती तथा चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती सभी जीव का जघन्य अन्तर-काल अन्तर्मुहूर्त है ऐसा पूर्व गाथा में बताया गया है। कोई भी जीव उपशम श्रेणी से आरोहण एक भव में दो बार ही कर सकता है।

क्षपक श्रेणी से आरोहण करने पर अन्तर-काल नहीं होता है, क्योंकि क्षपक जीव आगे ही बढ़ता है, गिरता नहीं। वह नियम से उसी भव में मोक्ष जाता है।

गुणस्थान

पल्लाऽसंखियभागं सासणमिस्सासमत्तमणुएसु।

वासपुहुत्तं उवसामएसु खवगेसु छम्मासा।।२५९।।

गाथार्थ— सामान्यतः लोक में सास्वादन एवं मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों तथा असंज्ञी अर्थात् संमूर्च्छिम मनुष्यों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमाण काल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक अन्तराल हो सकता है। उपशामकों का वर्ष पृथक्त्व तथा क्षपकों का छः मास तक उत्कृष्ट अन्तराल हो सकता है।

विवेचन— सास्वादन द्वितीयगुणस्थानवर्ती, मिश्र तृतीय गुणस्थानवर्ती तथा असंज्ञी मनुष्य अर्थात् जो लब्धि तथा करण से सदा अपर्याप्त रहते हैं ऐसे संमूर्च्छिम मनुष्य इन तीनों राशियों (वर्गों) का समस्त लोक में पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक पूर्णतः अभाव हो सकता है।

उपशामक— जो मोहनीय-कर्म को उपशमित करे, ऐसे उपशमश्रेणी से आरोहण करने वाले जीवों का उत्कृष्ट अन्तर-काल वर्ष पृथक्त्व (१ से ९ वर्ष तक) जानना चाहिये।

क्षपक— लोक में कभी-कभी अधिकतम छः मासपर्यन्त से क्षपक श्रेणी से आरोहण करने वाले जीवों का अभाव हो सकता है।

अयोगी केवली का अन्तराल भी उत्कृष्टतः छः मासपर्यन्त जानना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यक्-दृष्टि, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत तथा सयोगी केवली का विरह-काल (अन्तराल) नहीं होता है। उपरोक्त गुणस्थानवर्ती जीव लोक में सदा रहते ही हैं।

संमूर्च्छिम मनुष्य में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। यहाँ संमूर्च्छिम मनुष्य का विरहकाल बताया है न कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का विरहकाल। क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो सर्वकाल में होते हैं।

योग

आहारमिस्सजोगे वापुहुत्तं विउव्विमिस्सेसु।
बारस हुंति मुहुत्ता सव्वेसु जहण्णओ समओ।।२६०।।

गाथार्थ— आहारक मिश्र-काय-योग का वर्ष पृथक्त्व, वैक्रियमिश्र-काय-योग का बारह मुहूर्त का अन्तर-काल होता है। शेष सभी में जघन्य से एक समय का अन्तर-काल होता है।

विवेचन

आहारकमिश्र— औदारिक शरीर के साथ बनने वाला आहारक शरीर आहारकमिश्र काययोग कहलाता है। आहारक शरीर बनाना प्रारंभ करने के बाद जब तक वह पूर्ण न हो जाय तब तक का काल आहारक-मिश्र-काल कहलाता है। इसमें उत्कृष्ट से वर्ष पृथक्त्व (१ वर्ष से ९ वर्ष) का अन्तर होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रज्ञापनासूत्र में आहारकमिश्र काययोग का अन्तर-काल छः मास बताया गया है। तत्त्व केवलीगम्य है।

वैक्रिय मिश्र—कार्मण शरीर के साथ वैक्रिय शरीर का निर्माण होना वैक्रिय-मिश्र काययोग कहलाता है। यह काययोग देव तथा नारक को होता है। इसका उत्कृष्ट से विरहकाल बारह मुहूर्त परिमाण है। नारक तथा देव योनियों में उत्कृष्टतः उत्पत्ति विरहकाल बारह मुहूर्त का कहा गया है।

शेष— औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रिय काययोग, कार्मण काययोग, मनोयोग, वचनयोग का विरहकाल नहीं होता। ये योग निरन्तर लोक में पाये जाते हैं। आहारकमिश्र कहने से आहारक का अन्तर-काल स्वतः स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि आहारकमिश्र और आहारकयोग की विद्यमानता मात्र अन्तर्मुहूर्त परिमाण है।

पिछली गाथाओं के अनुसार सास्वादन गुणस्थान से लेकर वैक्रियमिश्र-काययोग तक का जघन्य अन्तर-काल एक समय का समझना चाहिये।

तेवट्ठी चुलसीई वाससहस्साइं छेयपरिहारे।

अवरं परमुदहीणं अट्ठारस कोडीकोडीओ।।२६१।।

गाथार्थ— त्रेसठ (६३) हजार वर्ष पर्यन्त छेदोपस्थापनीय चारित्र का तथा चौरासी (८४) हजार वर्ष पर्यन्त परिहारविशुद्धि चारित्र का जघन्य अन्तर-काल होता है। दोनो अर्थात् छेदोपस्थापनीयचारित्र तथा परिहारविशुद्धिचारित्र का उत्कृष्ट अन्तर-काल अठारह कोटाकोटी सागरोपम है।

विवेचन

जघन्यतः—इस अवसर्पिणी में दुषमा नामक पांचवें आरे के अन्त में भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में छेदोपस्थापनीयचारित्र का विच्छेद (विरह) हो जाता है, अतः अवसर्पिणी के छठे आरे में वह नहीं होता है।

पुनः उत्सर्पिणी के प्रथम तथा द्वितीय आरे में भी उसका अभाव रहता है। इस प्रकार इक्कीस — इक्कीस हजार वर्ष के तीन आरों के काल (२१०००×३=६३०००) त्रेसठ हजार वर्ष तक इस चारित्र का अभाव (अन्तराल) रहता है।

परिहारविशुद्धिचारित्र का अभाव तो पांचवे आरे के प्रारंभ में ही हो जाता है। अतः अवसर्पिणी का पांचवाँ तथा छठा आरा और उत्सर्पिणी का पहला तथा दूसरा आरा अर्थात् चौरासी हजार वर्ष (२१०००×४=८४०००) तक परिहारविशुद्धिचारित्र का अभाव रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्कृष्टतः— इन दोनों प्रकार के चारित्रों का उत्कृष्ट विरहकाल अठारह कोटाकोटी सागरोपम का है। उत्सर्पिणी में सुषमा-दुषमा नाम का चौथा आरा प्रारम्भ होने से पूर्व ही दोनों चारित्र का विच्छेद हो जाता है जिससे चौथे आरे का दो कोटाकोटी सागरोपम, सुषमा नामक पाँचवे आरे का तीन कोटा-कोटी सागरोपम तथा सुषमा-सुषमा नामक छठे आरे का चार कोटाकोटी सागरोपम काल। इस प्रकार उत्सर्पिणी के नौ कोटाकोटी सागरोपम तथा इस ही प्रकार अवसर्पिणी के नौ कोटाकोटी सागरोपम (कुल १८ सागरोपम) तक इन दोनों (छेदोपस्थापनीयचारित्र तथा परिहारविशुद्धिचारित्र) का उत्कृष्ट विरहकाल है।

सम्यक्त्व, विरति आदि

सम्मत्तसत्तगं खलु विरयाविरईय होई चोद्दसगं।
विरईए पनरसगं विरहियकालो अहोरत्ता।।२६२।।

गाथार्थ— सम्यक्त्व स्वीकार करने वालों का सात दिन-रात्रि तक का, देशविरति स्वीकार करने वालों का चौदह दिन-रात्रि तक का तथा सर्वविरति चारित्र स्वीकार करने वालों का पन्द्रह दिन रात तक का उत्कृष्ट विरहकाल होता है।

विवेचन

सम्यक्त्व— यह दो प्रकार का है— एक पूर्व से स्वीकृत (पूर्व प्रतिपन्न) तथा दूसरा वर्तमान में स्वीकार करने वाला (प्रतिपद्यमान)। इनमें प्रथम प्रकार के पूर्वप्रतिपन्न सम्यक्त्व आदि का कभी विरह नहीं होता पर प्रतिपद्यमान सम्यक्त्व ग्रहण करने वाले कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। इनका जघन्यतः अन्तर-काल (विरहकाल) एक समय तथा उत्कृष्टतः सात अहोरात्रिपर्यन्त का होता है।

देशविरति— देशविरति में भी पूर्व स्वीकृत अर्थात् पूर्व प्रतिपन्न सदैव ही असंख्यात होते हैं परन्तु देशविरति स्वीकार करने वालों (प्रतिपद्यमान) का विरहकाल जघन्यतः एक समय तथा उत्कृष्टतः चौंदह दिन का होता है। आवश्यकसूत्र में देशविरति का उत्कृष्ट अन्तर-काल बारह दिन कहा गया है।

सर्वविरति— पूर्व प्रतिपन्न सर्वविरतिचारित्र वाले जो सदैव संख्यात रहते हैं परन्तु प्रतिपद्यमान अर्थात् सर्वविरतिचारित्र ग्रहण करने वालों का विरहकाल जघन्यतः एक समय का तथा उत्कृष्टतः पन्द्रह दिन का होता है।

द्वारों का चिन्तन—

भवभावपरित्तीणं कालविभागं कमेणऽणुगमित्ता।
भावेण समुवउत्तो एवं कुज्जऽतराणुगमं।।२६३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— भव अर्थात् संसार तथा भाव अर्थात् संसार में परिभ्रमण करने वोले जीवों की विभिन्न अवस्थाएँ— इन दोनों की जानकारी कराने वाले इस काल विभाग को क्रमशः जानकर और इनके अन्तर-काल का अनुगमन कर भाव-द्वार अर्थात् वृति के द्वारा अप्रमत या सजग बनना चाहिए।

विवेचन— इस गाथा में तीन द्वारों की चर्चा की गई है— १. कालद्वार, २. अन्तरद्वार, ३. भावद्वार।

पूर्व अध्याय में कालद्वार की चर्चा की कि जीव कितने काल तक किस पर्याय में रहता है। इस अध्याय में अन्तरद्वार की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि जीव एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है। पुनः उसी पर्याय को प्राप्त करने में कितना अन्तर-काल होता है इसकी चर्चा की। अब अग्रिम अध्याय में भावद्वार का श्रवण कर सावधान बनने की बात यहाँ कही गई है।

अजीव का अन्तरकाल

परमाणू दव्वाणं दुपएसाईणमेव खंधाणं।

समओ अणंतकालोत्ति अंतरं नत्थि सेसाणं।।२६४।।अन्तरदारं६।

गाथार्थ— द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि विभिन्न स्कन्ध द्रव्यों से स्कन्ध या परमाणुओं को अलग होकर पुनः संयोजित होने का जघन्य अन्तर-काल एक समय का तथा उत्कृष्ट अन्तर-काल अनन्तकाल का है। शेष द्रव्यों का अन्तर-काल नहीं है।

विवेचन— किसी भी स्कन्ध से टूटकर परमाणु या स्कन्ध के अलग होने तथा पुनः उस ही स्कन्ध के साथ संयुक्त होने का जघन्य अन्तर-काल एक समय का तथा उत्कृष्ट अन्तर-काल अनन्तकाल का है।

जबकि कोई परमाणु किसी स्कन्ध से जुड़ता है और पुनः उससे टूटकर परमाणुत्व को प्राप्त करता है उसका अन्तर-काल जघन्यतः एक समय का तथा उत्कृष्टतः असंख्यात काल जितना होता है।

हे भगवन्! परमाणु के पुनः परमाणुत्व प्राप्त करने का अन्तर-काल कितना है? हे गौतम! जघन्यतः एक समय तथा उत्कृष्टतः असंख्यात काल है।

द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि स्कन्धों का जघन्यतः एक समय का तथा उत्कृष्टतः अनन्तकाल का अन्तर जानना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल के अतिरिक्त अन्य चारों द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा कालद्रव्य में अन्तर-काल नहीं है। ये द्रव्य स्वस्वरूप का त्याग कर पुनः उसे प्राप्त करें ऐसा कभी नहीं होता, अतः इनमें अन्तर-काल या विरहकाल नहीं है।

छठा अन्तर-द्वार समाप्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव-द्वार

जीव के भाव

उवसम खइयो मीसो उदओ परिणाम सन्निवाओ य

छद्धा जीव समासो परिणामुदओ अजीवाणं।।२६५।।

गाथार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) औदयिक, पारिणामिक तथा सन्निपातिक— ये जीवों की छः प्रकार की भावदशा होती है। अजीवों में पारिणामिक और औदयिक ये दो प्रकार की अवस्था होती हैं।

विवेचन

१. औपशमिक—पानी के नीचे जमी हुई मिट्टी के तुल्य या राख के नीचे दबी हुई अग्नि के तुल्य कर्मों को उपशमित करने से जो भाव होते हैं, वे औपशमिक भाव कहलाते हैं।

२. क्षायिक—स्वच्छ हुए पानी के समान या बुझी हुई अग्नि के समान जो भाव कर्मों के क्षय से प्राप्त होते हैं वे क्षायिक भाव कहलाते हैं।

३. क्षायोपशमिक— आंशिक रूप से कर्मों के क्षय से और आंशिक रूप से कर्मों के उपशमन से जो भाव (अवस्था) प्राप्त होती है वह क्षायोपशमिक कहलाती है।

४. औदयिक—ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय में आना औदायिक भाव है।

५. पारिणामिक—द्रव्य में जो स्व या परपर्याय रूप परिणमन चल रहा है वह पारिणामिक भाव है।

६. सन्निपातिक—सन्निपात का अर्थ है संयोग। जो उपर्युक्त कहे भावों का संयोग करे वह सन्निपातिक भाव है।

अजीव में स्वद्रव्य से सम्बन्धित उदय तथा स्वद्रव्य से सम्बन्धित परिणमन चलता है। उदय में रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि तथा परिणमन में विगलन, विध्वंसनादि परिवर्तन सतत चलता रहता है, यथा शरीर, फल आदि में।

औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव तो जीव में ही संभव हैं अजीव में नहीं। किन्तु औदयिक तथा पारिणामिक भाव जीव-अजीव दोनों में ही पाये जाते हैं फिर भी उनके अनुभव की क्षमता जीव में है अजीव में नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन पाँचों भावों के भेद (अध्याय २, सूत्र १ में) क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन बताये हैं। वहाँ भाव पाँच बताये हैं जबकि जीव समास में छः बतलाये गये हैं।

आठ कर्म में पाँच भाव

उवसमिओ खइओ मीसो य मोहजा भावा।

उवसमरहिया घाइसु होंति उ सेसाइं ओदइए।।२६६।।

गाथार्थ— औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक ये चारों भाव मोहनीय कर्म में होते हैं। औपशमिक के अतिरिक्त तीन भाव घाती कर्मों में होते हैं। शेष कर्म औदयिक होते हैं।

विवेचन— गाथा में कथित औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक ये चारों भाव मोहनीय कर्म में होते हैं। औपशमिक के अतिरिक्त तीन भाव शेष घाती कर्मों में होते हैं, किन्तु शेष अघाती कर्म मात्र औदयिक हैं।

१. औपशमिक भाव— यह भाव मोहनीय कर्म में होता है। प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों प्रकार से कर्मों का रूक जाना उपशम है। इस प्रंकार का उपशम सर्वोपशम कहलाता है और यह सर्वोपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, शेष का नहीं। औपशमिक भाव के दो भेद हैं १. सम्यक्त्व मोहनीय तथा २. चारित्र मोहनीय। ये दोनों मोहनीय कर्म के उपशम से ही होते हैं।

औपशमिक के अतिरिक्त शेष तीन भाव औदयिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक— ये शेष तीन भाव तीन कर्मों अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय में ही पाये जाते हैं, मोहनीय कर्म में नहीं। क्योंकि ऐसा सूत्र भी है- "मोहस्सेवोवसमो" कर्म ग्रन्थों में भी कहा है कि मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है शेष का नहीं।

शेष चारों अघाति कर्मों अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र में औदयिक भाव पाया जाता है क्योंकि चार घाती कर्मों का क्षय होने पर भी आयु आदि चार अघाती कर्मों का उदय अयोगी केवलावस्था तक रहता है।

इस प्रकार औपशमिक भाव का स्पष्टीकरण कर चुके हैं। आगे शेष भावों को स्पष्ट करेगें।

२. क्षायिक भाव— किसी कर्म के सर्वथा क्षय होने पर जो चैत्तसिक अवस्थाएँ प्रकट होती हैं उसे क्षायिक भाव कहते हैं। यह भाव नौ प्रकार का है। चार घाती कर्मों के क्षय से नौ लब्धियाँ प्रकट होती हैं जिनकी चर्चा गाथा २६७ में की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. **क्षायोपशमिक भाव**— उदय में आये हुए कर्मों का क्षय तथा उदय में नहीं आये हुए कर्मों का उपशम होना क्षयोपशम है। इसकी चर्चा गाथा २६८ में करते हुए इसके इक्कीस भेद बताये हैं। तत्त्वार्थकार ने क्षयोपशम के अठारह भेद बताये हैं। वहाँ चारित्र के चार प्रकार न बताते हुए एक ही प्रकार बताया गया है।

४. **औदयिक भाव**— यथा समय उदय को प्राप्त आठ कर्मों के फल या विपाक का अनुभव करना उदय है। उदय की अवस्था में होने वाला भाव औदयिक है। प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा २६९ में औदयिक के अट्ठाईस भेद बताये हैं जबकि तत्त्वार्थकार ने इसके इक्कीस भेद ही किये हैं।

५. **पारिणामिक भाव**— पाँचवाँ भाव पारिणामिक भाव है। निज स्वभाव से निज स्वभाव में परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था का त्याग किये बिना उत्तरावस्था में चले जाना परिणाम कहलाता है। प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा २६९ में पारिणामिक भाव के तीन प्रकार बताये हैं। कर्म ग्रंथ तथा तत्त्वार्थकार ने भी इन्हीं तीन भेदों को स्वीकार किया है। अनुयोगद्वार तथा प्रवचनसारोद्धार में पारिणामिक भाव के दो भेद बातये हैं— १. सादि पारिणामिक भाव तथा २. अनादि पारिणामिक भाव।

१. जीव द्रव्य में उपर्युक्त पाँचों ही भाव पाये जाते हैं।

२. अजीव द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य में औदयिक तथा पारिणामिक भाव पाये जाते हैं। शेष चार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल में मात्र पारिणामिक भाव पाया जाता है। ऐसा गाथा २७० में बताया गया है।

पुद्गल द्रव्य में भी परमाणु पुद्गल और द्वयणुकादि सादि स्कन्ध पारिणामिक भाव वाले ही हैं किन्तु औदारिक आदि शरीर रूप स्कन्धों में पारिणामिक और औदयिक दोनों भाव पाये जाते हैं।

कर्म-पुद्गल में जीव के सहयोग से तो औपशमिक आदि पांचों भाव होते हैं।

क्षायिक तथा उपशमिक भाव

केवलिय नाणदंसण खाइयसम्मं च चरणदाणाई।
नव खइया लद्धीओ उवसमिए सम्म चरणं च।।२६७।।

गाथार्थ— केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, दानादि पांच लब्धियाँ— ये नौ प्रकार की क्षायिक लब्धि हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

औपशमिक सम्यक्त्व तथा औपशमिक चारित्र ये दो उपशम लब्धि हैं।

विवेचन— उपर्युक्त नौ लब्धियाँ क्षायिक भाव से ही प्राप्त होती हैं।

नौ क्षायिक लब्धियाँ

१. ज्ञानावरण का सम्पूर्णत: क्षय होने पर "केवलज्ञान" प्राप्त होता है।

२. दर्शनावरण का सम्पूर्णत: क्षय होने पर "केवलदर्शन" प्राप्त होता है।

३. मोहनीय कर्म के दर्शन सप्तक अर्थात् चार अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शनमोहनीयत्रिक का क्षय होने से "क्षायिक सम्यक्त्व" प्राप्त होता है।

४. सम्पूर्ण चारित्र मोहनीय का क्षय होने से "क्षायिक चारित्र" होता है।

५.-९. अन्तराय कर्म का क्षय होने पर "दानादि पाँच लब्धियाँ" प्राप्त होती हैं।

दो उपशम लब्धियाँ

१. दर्शन सप्तक के उपशान्त होने पर "औपशमिक-सम्यक्त्व" होता है।

२. चारित्र मोहनीय के उपशान्त होने पर "औपशमिक-चारित्र" होता है।

क्षायोपशमिक (मिश्र) भाव

नाणा चउ अण्णाणा तिन्नि उ दंसण तिगं च गिहिधम्मो।
वेयय चउ चारित्तं दाणाइग मिस्सगा भावा ।।२६८।।

गाथार्थ—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, गृहस्थधर्म, वेदक सम्यक्त्व, चार चारित्र तथा दानादि पाँच लब्धियाँ— ये मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव में भी सम्भव है।

विवेचन

क्षायोपशमिक भाव के २१ भेद —

चार ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान, तीन अज्ञान अर्थात् मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान तथा विभंगज्ञान, तीन दर्शन अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन, देशविरति अर्थात् गृहस्थधर्म, वेदक समयक्त्व अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

चार चारित्र— सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि तथा सूक्ष्म सम्पराय।

पाँच लब्धियाँ—दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य लब्धि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न— किसके क्षयोपशम से किस लब्धि की प्राप्ति होती है?

१. ज्ञानावरण के क्षयोपशम से चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान प्राप्त होते हैं।

२. दर्शनावरण के क्षयोपशम से तीन दर्शन प्राप्त होते हैं।

३. अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से देशविरति चारित्र प्राप्त होता है।

४. दर्शन सप्तक (अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क एवं तीन प्रकार का दर्शन-मोह) के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

५. चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से चारों चारित्रों की प्राप्ति होती है।

६. अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

प्रश्न— पाँचो लब्धियाँ आपने क्षायिक भाव की कही तथा क्षायोपशमिक की भी कही, इसका कारण क्या है?

उत्तर— क्षय से प्राप्त पाँचों लब्धियाँ केवली को होती है तथा क्षायोपशमिक भाव से प्राप्त पाँचों लब्धियाँ छद्मस्थ को होती है। दोनों में यही अन्तर है।

औदयिक तथा पारिणामिक भाव

गइकायवेयलेसाकसाय अन्नाण अव्वय अस्सण्णी।
मिच्छाहारे उदया जियभव्वियरत्तियसहावो ।।२६९।।

गाथार्थ— गति, काय, वेद, लेश्या, कषाय, अज्ञान, अविरति, असंज्ञीत्व, मिथ्यात्व और आहारकत्त्व— ये औदयिक भाव हैं।

जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

विवेचन

गति : चारों गतियाँ औदयिक भाव में आती हैं यथा-नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति तथा देवगति।

काय : नाम कर्म के उदय से जीव पृथ्वी आदि छः कायों, गति, जाति प्रत्येक शरीर तथा स्थावर शरीर आदि शरीरों को प्राप्त करता है।

वेद : नो कषाय (मोहनीय कर्म) के उदय से जीव स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद को प्राप्त करता है।

लेश्या : कषाय मोहनीय कर्म तथा तीनों योग के उदय से "योग परिणाम रूप लेश्या" होती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषाय : कषाय मोहनीय कर्म के उदय से जीव क्रोधादि कषायों से आक्रान्त हैं।

अज्ञान : ज्ञानावरणादि तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीवमति आदि अज्ञान को प्राप्त करता है।

अविरति : चारित्र मोहनीय अर्थात् अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क के उदय से जीव को विरति प्राप्त नहीं होती है।

असंज्ञी : मनोअपर्याप्त नाम कर्म तथा ज्ञानावरण के उदय से जीव असंज्ञीत्व (विवेकाभाव) को प्राप्त करता है।

मिथ्यात्व : मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व-दशा को प्राप्त करता है।

आहारकत्व : क्षुधावेदनीय तथा आहार पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से जीव आहार ग्रहण करता है।

पारिणामिकभाव : जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व— ये तीन पारिणामिक भाव हैं। जीवत्व—जीवन की योग्यता रूप स्थिति। भव्यत्व—मोक्ष जाने की योग्यता रूप स्थिति। अभव्यता—मोक्ष जाने की अयोग्यता रूप स्थिति।

प्रश्न— आप ने पाँचों भावों की बात की पर छठे सन्निपातिक भाव की तो चर्चा ही नहीं की?

उत्तर— सन्निपातिक भाव औदयिक आदि पाँच भावों से अलग नहीं होता है। वह तो विभिन्न भावों की सांयोगिक अवस्था का नाम है अतः उसकी अलग से चर्चा नहीं की गई है।

धम्माधम्मागासा कालोत्ति य पारिणामिओ भावो।
खंधा देस पएसा अणू य परिणाम उदएण ।।२७०।।भावदारं

गाथार्थ— १. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशास्तिकाय तथा ४. काल में मात्र पारिणामिक भाव होता है। जबकि पुद्गल रूप— स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु में पारिणामिक तथा औदयिक भाव हैं।

विवेचन— धर्मास्तिकाय आदि उपर्युक्त चारों द्रव्यों में मात्र पारिणामिक भाव हैं तथा अनादि काल से ये जीव तथा पुद्गल की गति या स्थिति के माध्यम हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उन्हें अवकाश देते हैं। समय, आवलिका आदि व्यवहार काल से पारिणामिक भाव हैं।

पुद्गल के चारों रूपों— स्कन्ध, देश, प्रदेश एवं परमाणु में सतत् रूप से औदयिक तथा पारिणामिक भाव चलता रहता है।

सातवां भावद्वार समाप्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अल्पबहुत्व-द्वार

गति

थोवा नरा नरेहि य असंखगुणिया हवंति नेरइया।
तत्तो सुरा सुरेहि य सिद्धाणंता तओ तिरिया ।।२७१।।

गाथार्थ—चारों गतियो में मनुष्य सबसे कम हैं। मनुष्य से असंख्यात गुणा अधिक नारकी हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं। देवों से अनन्त गुणा अधिक सिद्ध (मुक्तात्मा) हैं। सिद्धों से अनन्त गुणा तिर्यंच हैं।

विवेचन—मुक्तात्मा एवं चारों गतियों के जीवों में गर्भज मनुष्य सबसे कम हैं। मनुष्यों का निवास क्षेत्र भी मात्र अढाई द्वीप है। उनसे अंसख्यात गुणा अधिक जीव सात नरकों में रहे हुए हैं।

उनसे भी असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं। इन सबका क्षेत्र भी एक-दूसरे से अधिकाधिक है। देवों से अनन्त गुणा अधिक सिद्ध हैं तथा सिद्धों से अनन्त गुणा अधिक तिर्यंच हैं।

इस प्रकार गति की अपेक्षा से तिर्यञ्च गति में सबसे अधिक जीव हैं।

प्रज्ञापनासूत्र के २७वें महादण्डक के अनुसार अधोलोक में पहली से लेकर सातवीं नरक तक क्रमशः जीवों की संख्या घटती जाती है। ऊर्ध्वलोक में सबसे ऊपर के देवलोक से नीचे के देवलोकों में संख्या में वृद्धि होती है। सबसे ऊपर अनुत्तर विमानवासी देवों की संख्या सबसे कम है, फिर नीचे के देवों की संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है। वैमानिकों में सर्वाधिक संख्या सौधर्म देवों की हैं। सौधर्म से अधिक भवनपति, उनसे अधिक व्यन्तर देवों तथा ज्योतिष्क देवों की है। फिर जैसे-जैसे इन्द्रियाँ कम होती जाती हैं वैसे-वैसे जीवों की संख्या अधिक होती जाती है। पर्याप्त एवं संज्ञी (विकसित) की अपेक्षा अविकसित एवं असंज्ञी तिर्यंचों की संख्या अधिक है। जबकि सबसे क़म मनुष्यों की संख्या है।

स्त्री आदि

थोवाउ मणुस्सीओ नरनरयतिरिक्खिओ असंखगुणा।
सुरदेवी संखगुणा सिद्धा तिरिया अणंतगुणा ।।२७२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथार्थ— सबसे कम मनुष्यनी (मानव-स्त्री) हैं। उससे असंख्यात गुणा अधिक मनुष्य हैं। मनुष्य से असंख्यात गुणा अधिक नारकी हैं। नारकी से असंख्यात गुणा अधिक तिरियञ्चिनी, उनसे संख्यात गुणा अधिक देवियाँ हैं। उनसे अनन्तगुणा अधिक सिद्ध हैं तथा सिद्ध से अनन्त गुणा अधिक तिर्यंच हैं।

विवेचन— अन्य ग्रन्थों में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक बताई हैं तथा यहाँ स्त्रियाँ सबसे कम बतायी गई हैं। इसका क्या कारण है? **उत्तर—** गर्भज मनुष्यों की अपेक्षा से स्त्रियाँ अधिक हैं पर सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की अपेक्षा से कम हैं। स्त्रियाँ संख्यात तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंख्यात गुणा हैं।

प्रज्ञापनासूत्र के महादण्डक द्वार में समग्र रूप से जीवों के अल्प-बहुत्व की चर्चा की गई है। उस युग में आचार्यों ने जीवों की संख्या का तारतम्य बताने का प्रयत्न किया है तथा मनुष्य हों, देव हों या तिर्यञ्च हों सभी में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक मानी गई। मनुष्यों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ सत्ताइस गुण और सत्ताइस अधिक होती हैं। सिद्ध उनसे अनन्त गुणा हैं तथा तिर्यंच सिद्ध से अनन्त गुणा हैं।

यहाँ तिर्यंच में निगोद को भी सम्मिलित कर लेना चाहिये।

नरकगति आदि

थोवा य तमतमाए कमसो घम्मंतया असंखगुणा।
थोवा तिरिक्खपज्जत्तऽसंख तिरिया अणंतगुणा ।।२७३।।

गाथार्थ— अन्तिम सातवीं तमस्तमप्रभा नारकी में सबसे कम नारकी जीव हैं। फिर अनुक्रम से असंख्यात गुणा उलटेक्रम से प्रथम नरक तक जानना चाहिये। तिर्यंच में सबसे कम तिरियञ्चिनियाँ हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं तथा उनसे अनन्त गुणा एकेन्द्रियादि तिर्यंच हैं।

विवेचन— सातवीं पृथ्वी में सबसे कम नारकी हैं। फिर क्रमशः उत्तरोत्तर छः नरकों में एक-दूसरे से असंख्यात गुणा अधिक समझना चाहिए।

तिर्यञ्च गति में सबसे कम तिर्यञ्च स्त्रियाँ हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक पर्याप्त तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च से एकेन्द्रिय तिर्यञ्चादि अनन्त गुणा अधिक हैं। ज्ञातव्य है कि तिर्यंच गति में भी सम्मूर्च्छिम तथा गर्भज पर्याप्त मिलाने पर तिर्यञ्चनियाँ कम हैं। मात्र गर्भज तिर्यञ्च जीवों की अपेक्षा तो तिरियञ्चिनियाँ अधिक ही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवगति आदि

थोवाणुत्तरवासी असंखगुणवड्ढी जाव सोहम्मो।
भवणेसु वंतरेसु य संखेज्जगुणा य जोइसिया।।२७४।।

गाथार्थ— सबसे कम अनुत्तर विमानवासी देव हैं। उनसे क्रमशः असंख्यात गुणा अधिक सौधर्म देवलोक तक के देवों की संख्या जानना। वैमानिक देवों की अपेक्षा भवनपति तथा व्यन्तर को भी असंख्यात गुणा अधिक जानना तथा उनसे ज्योतिषक देवों को संख्यात गुणा अधिक जानना चाहिये।

विवेचन— देवों में अनुत्तर विमानवासी देव सबसे कम हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक ग्रैवेयक विमानवासी देव हैं। उनसे अच्युत विमानवासी असंख्य गुणा अधिक हैं। इस प्रकार क्रमशः सौधर्म देवलोक तक असंख्यात गुणा अधिक-अधिक जानना चाहिये।

सौधर्म से भवनपति तथा भवनपति से व्यन्तर देव असंख्यात गुणा अधिक है। व्यन्तर से ज्योतिष्क देव संख्यात गुणा अधिक हैं।

एकेन्द्रिय

पंचिंदिया य थोवा विवज्जएण वियला विसेसहिया।
तत्तो य अणंतगुणा अणिंदिएगिंदिया कमसो।२७५।।

गाथार्थ— सबसे कम पञ्चेन्द्रिय हैं। फिर विकलेन्द्रियों का क्रम उल्टा कर देने से उनमें क्रमशः विशेष (अधिक) हैं। उनसे सिद्ध अनन्त गुणा तथा सिद्ध से अनन्तगुणा एकेन्द्रिय हैं।

विवेचन— सबसे कम पंचेन्द्रिय जीव हैं। फिर विकलेन्द्रियों का क्रम (विवज्जएण) विपरीत कर देने से अर्थात् चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय करने पर एक-दूसरे से अधिक-अधिक जानना चाहिए। अर्थात् पंचेन्द्रिय से विशेष अधिक चतुरिन्द्रिय, उससे विशेष अधिक त्रीन्द्रिय, उससे विशेष अधिक द्वीन्द्रिय फिर उनसे अनन्तगुणा अधिक सिद्ध तथा सिद्ध से अनन्तगुणा अधिक एकेन्द्रिय समझना चाहिये।

काय

थोवा य तसा तत्तो तेउ असंखा तओ विसेसहिया।
कमसो भूदगवाऊ अकाय हरिया अणंतगुणा।।२७६।।

गाथार्थ— सबसे कम त्रसकाय हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक तेजस्काय हैं। तेजस्काय से विशेष अधिक अनुक्रम से पृथ्वी, अप्, वायु, उनसे अनन्त गुणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काय-रहित सिद्ध हैं तथा उनसे अनन्त गुणा वनस्पतिकाय के जीव हैं।

विवेचन— सबसे कम त्रसकाय के जीव हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक अग्निकाय के जीव हैं। उनसे पृथ्वीकाय आदि के जीव अनुक्रम से अधिक हैं। उनसे वायुकाय के जीव अधिक हैं। वायुकाय से सिद्ध अनन्त गुणा अधिक हैं तथा उनसे वनस्पतिकाय के जीव अनन्त गुणा अधिक हैं।

गुणस्थान

उवसामगा य थोवा खवग जिणे अप्पमत्त इयरे य।
कमसो संखेज्जगुणा देसविरय सासणेऽसंखा ।। २७७।।
मिस्साऽसंखेज्जगुणा अविरयसम्मा तओ असंखगुणा।
सिद्धा य अणंतगुणा तत्तोमिच्छा अणंतगुणा ।। २७८।।

गाथार्थ— गुणस्थानों की अपेक्षा से उपशामक सबसे कम होते हैं। उनसे अधिक क्षपक, उनसे अधिक जिन, उनसे अधिक अप्रमत्तसंयत तथा संख्यात गुणा उनसे अधिक प्रमत्तसंयत होते हैं। उनसे अधिक देशविरति, उनसे अधिक सास्वादनी, उनसे अधिक मिश्र और उनसे अधिक अविरति सम्यक्त्व क्रमशः असंख्यगुणा अधिक हाते हैं। उनसे सिद्ध अनन्त गुणा अधिक हैं तथा सिद्धों से मिथ्यात्वी अनन्त गुणा होते हैं।

विवेचन— यहाँ उपशामक से तात्पर्य श्रेणी आरूढ उपशामक तथा उपशान्त मोही है। क्षपक से तात्पर्य श्रेणी आरूढ क्षपक तथा क्षीण मोही है। ये दोनों प्रकार के जीव कभी होते हैं तथा कभी नहीं होते हैं। पर यदि होते हैं तो उसमें उपशामक कम तथा क्षपक अधिक होते हैं। किन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। अर्थात् क्षपक कम तथा उपशामक अधिक होते हैं।

क्षपक की अपेक्षा केवलीजिन संख्यातगुणा अधिक होते हैं। इनसे संख्यातगुणा अधिक अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। उनसे संख्यात गुणा अधिक प्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु होते हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक देशविरति श्रावक (मनुष्य तथा तिर्यञ्च दोनों) होते हैं। सास्वादनी कभी बिल्कुल नहीं होते हैं। यदि होते हैं तो जघन्य से एक, दो तथा उत्कृष्ट से चारों गतियों में होने के कारण असंख्यात गुणा अधिक होते हैं। मिश्र अर्थात् सम्यक्-मिथ्यादृष्टि जीव होते है। सास्वादनी जीवों से संख्यात गुणा अधिक अविरत सम्यक्त्वी होते हैं। ये हमेशा संख्यात होते हैं। उनसे सिद्ध अनन्त गुणा होते हैं। उनसे मिथ्यादृष्टि अनन्त गुणा अधिक होते हैं क्योंकि सर्व निगोद के जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवनारक गति

सुरनरए सासाणा थोवा मीसा य संखगुणयारा।
तत्तो अविरयसम्मा मिच्छा य भवे असंखगुणा ।।२७९।।

गाथार्थ—देवलोक तथा नारकी में सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव सबसे कम होते हैं। मिश्र उनसे संख्यात गुणा अधिक होते हैं। अविरत सम्यक्त्वी उनसे असंख्यात गुणा अधिक होते हैं और मिथ्यात्वी उनसे असंख्यात गुणा अधिक होते हैं।

विवेचन—ज्ञातव्य है कि देव तथा नारक में चार गुणस्थान ही होते हैं। देशविरति आदि अन्य गुण स्थानों की वहाँ संभावना नहीं है।

तिर्यञ्च गति

तिरिएसु देसविरया थोवा सासायणा असंखगुणा।
मीसा य संख अजया असंख मिच्छा अणंतगुणा ।।२८०।।

गाथार्थ—तिर्यञ्चों में देशविरति वाले सबसे कम हैं। उनसे सास्वादानी असंख्यात गुणा अधिक हैं। उनसे मिश्र दृष्टि वाले संख्यात गुणा अधिक हैं। उनसे अविरत सम्यक्त्वी असंख्य गुणा अधिक हैं तथा उनसे मिथ्यात्वी अनन्त गुणा जीव हैं।

विवेचन—तिर्यंच गति में देशविरति नामक पाँचवें गुणस्थान तक की संभावना है। प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानकों का यहाँ अभाव रहता है।

मनुष्य गति

मणुया संखेज्जगुणा गुणीसु मिच्छा भवे असंखगुणा।
एवं अप्पाबहुयं दव्वपमाणेहि साहेज्जा ।।२८१।।

गाथार्थ—मनुष्य में मिथ्यादृष्टि को छोड़कर शेष तेरह गुणस्थानों में उलटे क्रम से संख्यात गुणा अधिक-अधिक संख्या होती है। जबकि मिथ्यादृष्टि उनसे असंख्यगुणा अधिक होते हैं। इस प्रकार द्रव्यपरिमाण से अल्प-बहुत्व जानना चाहिये।

विवेचन—मनुष्यों में चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं। इनमें मिथ्यादृष्टि को छोड़ करके शेष तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आगे बताये गये क्रम से संख्यात गुणा अधिक होते हैं। इन तेरह गुणास्थानवर्ती में मिथ्यात्वी मनुष्य (संमूर्च्छिम मनुष्यों को सम्मिलित करने पर असंख्यात गुणा अधिक होते हैं। प्रथम गुणस्थान से ऊपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चढ़ने वाले सभी मनुष्य गर्भज होने के कारण वे संख्यात ही होते हैं। ज्ञातव्य है कि पूर्व में भी हमने गर्भज मनुष्यों की संख्या-संख्यात बतायी है।

गुणस्थानवर्ती जीवों में सबसे कम अयोगी केवली होते हैं। उनसे संख्यात गुणा अधिक उपशामक हैं। उपशामक से संख्यात गुणा अधिक क्षपक हैं। उनसे संख्यात गुणा अधिक सयोगी केवली हैं। उनसे संख्यात गुणा अधिक अप्रमत्तसंयत हैं। अप्रमत्त से संख्यात गुणा प्रमत्तसंयत हैं। प्रमत्त संयत से संख्यात गुणा अधिक देशविरत है। देशविरत से संख्यात गुणा अधिक अविरत सम्यक्त्वी हैं। उनसे संख्यात गुणा अधिक सास्वादानी हैं। उनसे संख्यात गुणा मिश्रदृष्टि है तथा उनसे असंख्यात गुणा गर्भज तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य हैं।

इस प्रकार यह अल्पबहुत्व-द्वार पूर्ण हुआ।

अब चौदह मार्गणाओं की अपेक्षा से संक्षेप में अल्पबहुत्व द्वार के विषय में चर्चा की जाती है—

१. गति—चारों गतियों में मनुष्य सबसे कम हैं, मनुष्य से संख्यात गुणा अधिक नारकी, उनसे असंख्यात गुणा अधिक देव, उनसे अनन्त गुणा अधिक सिद्ध तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक तिर्यञ्च हैं।

२. इन्द्रिय—इन्द्रियों की अपेक्षा से सबसे कम पंचेन्द्रिय जीव हैं। फिर क्रमशः चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय एक दूसरे से अधिक हैं। उनसे अनन्त गुणा अधिक अनिन्द्रिय (सिद्ध) तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक एकेन्द्रिय हैं।

३. काय—काय की अपेक्षा से सबसे कम त्रस कायिक जीव हैं। उनसे असंख्यात गुणा अधिक तेजस्काय हैं उनसे क्रमशः विशेष अधिक पृथ्वीकाय अप्काय और वायुकाय के जीव हैं उनसे भी अनन्त गुणा अधिक सिद्ध (अकायी) हैं, उनसे अनन्त गुणा अधिक वनस्पतिकाय हैं।

४. योग—सबसे कम मनोयोगी, उनसे असंख्यात गुणा अधिक वचनयोगी तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक अयोगी (सिद्ध) तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक काययोगी हैं।

५. वेद—सबसे कम पुरुष वेदी हैं, उनसे संख्यात गुणा अधिक स्त्रीवेदी और उनसे अनन्त गुणा अधिक अवेदी (सिद्ध) हैं तथा उनसे भी अनन्त गुणा नपुंसक हैं। (इन्हें निगोद आदि सर्व जीवों की अपेक्षा से जानना चाहिये)

६. कषाय—सबसे कम अकषायी (केवली), उनसे अनन्त गुणा मान कषायी, उनसे विशेषाधिक क्रोधकषायी, उनसे विशेषाधिक मायाकषायी, उनसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषाधिक लोभ कषायी हैं। चारों कषाय चारों गतियों में होने के कारण यह 'अनन्त' शब्द का प्रयोग किया गया हैं।

७. ज्ञान-अज्ञान—सबसे कम मनःपर्ययज्ञानी, उनसे असंख्यात गुणा अधिक अवधिज्ञानी, उनसे विशेषाधिक मतिश्रुत ज्ञानी, उनसे असंख्यात गुणा अधिक विभंगज्ञानी, उनसे अनन्त गुणा अधिक केवल ज्ञानी तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक मतिश्रुत अज्ञानी हैं।

८. विरत—(संयम) सबसे कम सर्वविरति धर (मुनि) उनसे असंख्यात गुणा अधिक देश विरति (गृहस्थ) उनसे अनन्त गुणा अधिक नो विरताविरत तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक अविरत हैं।

९. दर्शन— अवधिदर्शनी सबसे कम; चक्षुदर्शनी उनसे असंख्यात गुणा अधिक, केवलीदर्शनी उनसे भी अनन्त गुणा अधिक, उनसे भी अचक्षुदर्शनी अनन्त गुणा अधिक हैं।

१०. लेश्या—सबसे कम शुक्ल-लेश्या वाले जीव, उनसे संख्यात गुणा अधिक पद्म-लेश्या वाले जीव, उनसे संख्यात गुणा अधिक तेजो-लेश्या वाले जीव और उनसे अनन्त गुणा अधिक अलेशी (सिद्ध) होते हैं। उनसे भी अनन्त गुणा अधिक कापोत-लेश्या वाले, उनसे विशेषाधिक नील-लेश्या वाले तथा उनसे भी अनन्तगुणा अधिक कृष्ण-लेश्या वाले जीव हैं। लेश्या का सद्भाव चारों गतियों में है।

११. सम्यक्त्व—(दृष्टि) सबसे कम मिश्रदृष्टि जीव हैं, उनसे अनन्त गुणा अधिक सम्यग्दृष्टि जीव तथा उनसे भी अनन्त गुणा अधिक मिथ्यादृष्टि जीव हैं। अनन्त शब्द का प्रयोग चारों गतियों की अपेक्षा से किया गया है।

१२. भव्यत्व— सबसे कम अभव्य जीव हैं। उनसे भव्याभव्य रूप सिद्ध जीव अनन्त गुणा अधिक हैं तथा उनसे अनन्त गुणा अधिक भव्य जीव हैं।

१३. संज्ञी—संज्ञी जीव सबसे कम हैं, उनसे नो संज्ञी अनन्त गुणा (सिद्ध) अधिक हैं तथा उनसे भी असंज्ञी जीव अनन्त गुणा हैं।

१४. आहार— अनाहार के जीव सबसे कम हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक आहारक जीव होते हैं। विग्रह गतिवर्ती जीव, समुद्घाती, अयोगी तथा सिद्ध के अतिरिक्त सभी जीव आहारक हैं।

उपरोक्त चौदह मार्गणा के अतिरिक्त भी अल्प-बहुत्व की विचारणा इस प्रकार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपयोग—अनाकार उपयोगी अल्प है, साकार उपयोगी उनसे संख्यात गुणा अधिक हैं। इसका कारण है कि दर्शन की अपेक्षा ज्ञान का काल संख्यात गुणा अधिक है।

पर्याप्त—अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त जीव असंख्यात गुणा अधिक हैं इसका कारण भी काल ही है। अपर्याप्त का काल अन्तर्मुहूर्त है तथा पर्याप्त का काल उत्कृष्टतः तैतीस सागरोपम है।

बादर—बादर अर्थात् स्थूल जीव अल्प है तथा सूक्ष्म उनसे असंख्यात गुणा अधिक हैं। निगोद आदि जीवों की अपेक्षा से ऐसा कथन किया गया है।

अजीव में अल्पबहुत्व

धम्माधम्मागासा तिन्निवि दव्वट्ठया भवे थोवा।
तत्तो अणंतगुणिया पोग्गल दव्वा तओ समया ।।२८२।।

गाथार्थ— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय— ये तो तीनों ही अल्प हैं। इनसे पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य से समय (काल द्रव्य) अनन्त हैं।

विवेचन— यद्यपि जहाँ-जहाँ पुद्गल द्रव्य तथा काल हैं वहाँ-वहाँ ये तीनों द्रव्य हैं फिर भी ये संख्या में एक हैं, अतः अल्प है। ये तीनों ही द्रव्य परस्पर समान् हैं। पुद्गल द्रव्य इनसे अनन्त गुणा अधिक हैं। उनसे भी निर्विभाज्य कालांश अर्थात् समय अनन्त गुणा अधिक हैं। पुद्गल अनन्त हैं, वे भूत में भी थे, वर्तमान में भी हैं तथा वे पुद्गल परिवर्तित होकर भविष्य में भी रहेंगे। फिर भी एक-एक पुद्गल द्रव्य पर अनन्त कालाणुओं के होने से काल द्रव्य पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा भी अधिक माना गया हैं।

प्रदेश अल्पबहुत्व

धम्माधम्मपएसा तुल्ला परमाणवो अणंतगुणा।
समया तओ अणंता तह खपएसा अणंतगुणा ।।२८३।।
धम्माधम्मपएसेहितो जीवा तओ अणंतगुणा ।
पोग्गलसमया खंपि य पएसओ तेणऽणंतगुणा ।।२८४।।

गाथार्थ— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश समान हैं। उनसे परमाणु अनन्त गुणा अधिक हैं। परमाणु से कालाणु अर्थात् समय अनन्त गुणा अधिक है। उनसे आकाश प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय के प्रदेश असंख्यात हैं। फिर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा जीव द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा हैं। जीव द्रव्य के प्रदेशों से पुद्गल के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों से 'समय' अर्थात् काल अनन्त गुणा अधिक हैं एवं उससे लोकाकाश के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं।

विवेचन—धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के प्रदेश समान हैं। पुद्गल उससे अनन्त गुणा अधिक हैं। अतः पुद्गल के प्रदेश भी अनन्त गुणा अधिक हैं। समय उनसे भी अनन्त गुणा अधिक है— जैसे की पूर्व गाथा में स्पष्ट किया है तथा समय से अनन्त गुणे आकाश के प्रदेश हैं।

तत्त्वार्थकार ने अध्याय ५ में द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या इस प्रकार बताई है—धर्म और अधर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। एक जीव के भी असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त हैं। परमाणु के प्रदेश नहीं होते हैं। उपर्युक्त गाथा २८४ के अनुसार ही—

धर्माधर्मास्तिकाय— धर्मास्ति काय अधर्मास्तिकाय इन दोनों के प्रदेश असंख्यात हैं तथा जीव भी असंख्यात प्रदेशी हैं।

प्रदेश—वस्तु का ऐसा अविभाज्य अंश है जिसके फिर टुकड़े न हो सके। परन्तु यह स्कन्ध के साथ जुड़ा होने के कारण प्रदेश कहलाता है।

परमाणु—परमाणु भी ऐसा ही अविभाज्य अंश है परन्तु स्कन्ध से अलग हो जाने कारण उसे 'परमाणु' संज्ञा दी जाती है।

धर्म-अधर्म ये दोनों एक-एक इकाई रूप हैं। उनके अविभाज्य अंश भी असंख्यात-असंख्यात हैं परन्तु उक्त दोनों द्रव्य ऐसे हैं जिनके असंख्य अविभाज्य अंश केवल बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं, वे मूलतः स्कन्ध से पृथक् नहीं किये जा सकते।

जीव—जीव द्रव्य भी असंख्य प्रदेशी हैं तथा वह भी अखंड इकाई है परन्तु वह संख्या की अपेक्षा स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में अनन्त है अर्थात् जीव द्रव्य अनन्त हैं परन्तु एक जीव के प्रदेश असंख्यात ही हैं।

पुद्गल—पुद्गल के स्कन्ध चारों द्रव्यों की तरह निश्चित नहीं हैं। कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशी, कोई असंख्यात प्रदेशी, कोई अनन्त प्रदेशी तथा कोई अनन्तानन्त प्रदेशी होता है।

पुद्गल के अतिरिक्त अन्य चारों द्रव्य अविभाज्य है परन्तु पुद्गल द्रव्य विभाजित होता है। पुनः वे चारों द्रव्य अमूर्त हैं तथा पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं पुद्गल में संयोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा वियोग होने की योग्यता है। ज्ञातव्य है कि कालाणु सदैव स्वतन्त्र होते हैं, उनमें संयोग वियोग नहीं है।

आकाश के प्रदेश तो निश्चित रूप से अनन्त ही होते हैं।

(अल्प-बहुत्व को विस्तार से जानने हेतु देखें प्रज्ञापनासूत्र पद १९८ से २८३)

बहुभंगदिट्ठिवाए दिट्ठत्थाणं जिणोवइट्ठाणं।

धारणपत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थउवउत्तो ।।२८५।।

जीव समास के अर्थ को समझने वाला सजग साधक जिनोपदिष्ट एवं विविध अपेक्षाओं से कथित दृष्टिवाद के द्रष्टार्थ (वास्तविक अर्थ) का धारक विशिष्ट ज्ञाता बन जाता है।

फल प्राप्ति

एवं जीवाजीवे वित्थरभिहिए समासनिद्दिट्ठे।

उवउत्तो जो गुणए तस्स मई जायए विउला ।।२८६।।

गाथार्थ—आगम में विस्तार से वर्णित जीव एवं अजीव तत्त्व का यहाँ संक्षेप में विवेचन किया गया है, जो इस जीव समास का सजग होकर चिन्तन करता है, उसकी मति (बुद्धि) विपुल होती है।

आठवाँ अल्पबहुत्व-द्वार समाप्त

जीवसमास सम्पूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[illegible]श्र्वनाथ विद्यापीठ के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	S[illegible] [illegible]ina Philosophy	Dr.Nathamal Tatia	100.00
2.	[illegible]es of Western India	Dr.Harihar Singh	200.00
3.	[illegible]nology	I.C. Shastri	150.00
4.	C[illegible] of Pañcaśīla in Indian Thought	Dr. Kamla Jain	50.00
5.	C[illegible] of Matter in Jaina Philosophy	Dr. J.C. Sikdar	150.00
6.	Jaina [illegible]eory of Reality	Dr.J.C. Sikdar	150.00
7.	Jaina Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	100.00
8.	Aspects of Jainology (Complete Set: Vols. 1 to 7)		2200.00
9.	An Introduction to Jaina Sādhana	Dr. Sagarmal Jain	40.00
10.	Pearls of Jaina Wisdom	Dulichand Jain	120.00
11.	Scientific Contents in Prakrit Canons	N.L. Jain	300.00
12.	The Path of Arhat	T.U. Mehta	100.00
13.	Jainism in a Global Perspective	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr.S. P. Pandey	400.00
14.	Jaina Karmology	Dr. N.L. Jain	150.00
15.	Aparigraha- The Humane Solution	Dr. Kamla Jain	120.00
16.	Studies in Jaina Art	Dr. U.P. Sha[illegible]	300.00
१७.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास	(सम्पूर्ण सेट सात खण्ड[illegible]	[illegible]३०.००
१८.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास	(सम्[illegible] सेट: चार ख[illegible]	[illegible]६०.००
१९.	जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ[illegible] [illegible]ारुतिनन्दन तिव[illegible]	[illegible]५०.००
२०.	वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित)	[illegible]० विश्वनाथ पा[illegible]	[illegible]८०.००
२१.	प्राकृत हिन्दी कोश	[illegible] डॉ० के०आर०[illegible]	[illegible]२००.००
२२.	जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो० सागरमल [illegible]न	३५०.००
२३.	गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० विश्वनाथ [illegible]क	६०.००
२४.	सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड)	प्रो० सागरमल जैन	३००.००
२५.	गुणस्थान सिद्धान्त: एक विश्लेषण	प्रो० सागरमल जैन	६०.००
२६.	भारतीय जीवन मूल्य	डॉ० सुरेन्द्र वर्मा	७५.००
२७.	नलविलासनाटकम्	सम्पादक- डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डे	६०.००
२८.	अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद	डॉ० राजेन्द्र कुमार सिंह	१५०.००
२९.	दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति: एक अध्ययन	डॉ० अशोक कुमार सिंह	१२५.००
३०.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनु० सहित)	अनु०- डॉ० दीनानाथ शर्मा	२५०.००
३१.	सिद्धसेन दिवाकर: व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय	१००.००
३२.	मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म	डॉ० श्रीमती राजेश जैन	१६.००
३३.	भारत की जैन गुफाएँ	डॉ० हरिहर सिंह	१५०.००
३४.	महावीर निर्वाणभूमि पावा: एक विमर्श	भागवतीप्रसाद खेतान	६०.००
३५.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ० शिवप्रसाद	२००.००
३६.	बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	२००.०
३७.	कौमुदीमित्रानन्दरूपकम्	अनु०-डॉ०श्यामानन्द मिश्र	१२५.००

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi